पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला

: १७ :

जैन-धर्म में अहिंसा

लेखक

डा० वशिष्ठनारायण सिन्हा

एम. ए., पी-एच. डी.

प्रकाशक

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति

अमृतसर

प्राप्ति-स्थान

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी – ५

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध

प्रकाशक :

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैन इंस्टिट्यूट
हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी-५

मुद्रक :

अरुण प्रेस
बी० १७/२, तिलभाण्डेश्वर
वाराणसी-१

प्रकाशन-वर्ष :

सन् १ ९ ७ २

मूल्य :

तीस रुपये

समर्पण

गुरुवर

डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

तथा

डॉ० मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
वाराणसी

को

अमित श्रद्धा एवं स्नेह के साथ
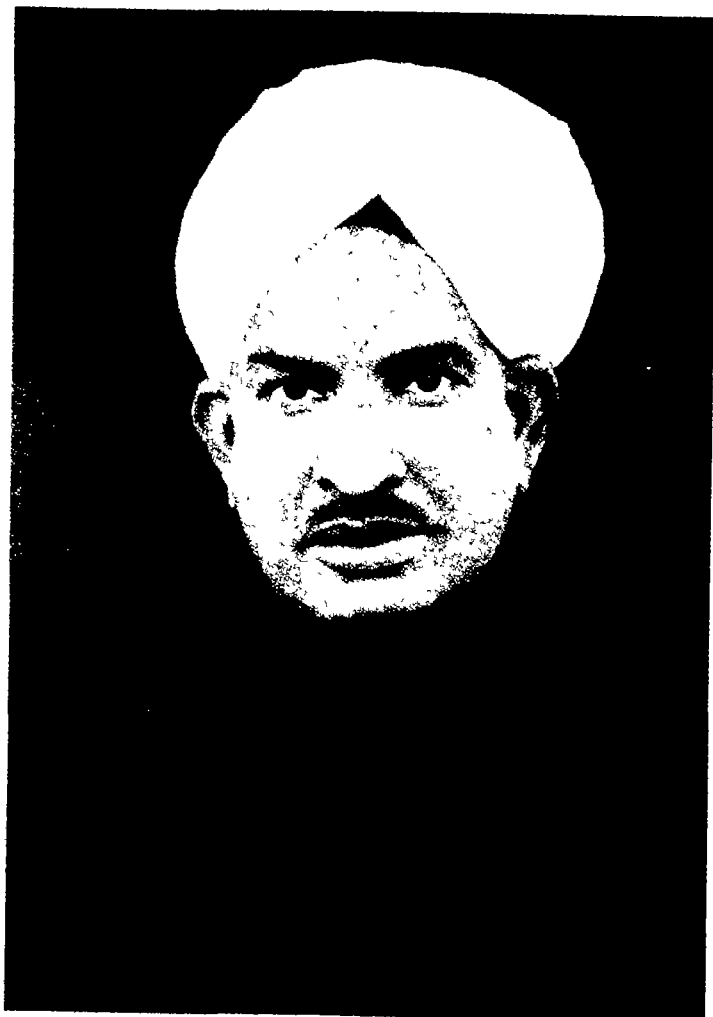
स्वर्गीय लाला बनारसी दास जैन

प्रकाशकीय

जैन धर्म एवं दर्शन में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। जैन धर्म-दर्शन का अनीश्वरवादी अध्यात्मवाद इसी तत्त्व से निर्मित है, जो प्राणी मात्र के प्रति मैत्री-भावना रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। महावीर ने कहा है—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥

सभी जीवों के प्रति संयम और अनुशासन की तथा पारस्परिक संबंध में समता की भावना रखना ही निपुण तेजस्वी अहिंसा है। यह परम सुख और चिदानंद देने में समर्थ है। यद्यपि इस नैतिक सिद्धान्त—मा हिंस्यात् सर्वभूतानि (किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए) को ब्राह्मण और बौद्ध परंपराओं ने भी स्वीकार किया है परन्तु जैन धर्म में इसका सार्वत्रिक प्रयोग विहित है। श्रमण और श्रावक दोनों का संपूर्ण जीवन उनकी आध्यात्मिक स्थिति के अनुसार पूर्णतः या आंशिक रूप से इसी आचार-सिद्धान्त से नियंत्रित होता है। वस्तुत जैन धर्म से संबंधित प्रत्येक नियम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

अहिंसा विश्व का शाश्वत सिद्धान्त है। यह हमेशा जीव की हिंसा का विरोध करता रहा है, चाहे वह एक मानव की हो, किसी वर्ग की या राष्ट्र की हो अथवा अन्य किसी की। तमाम असफलताओं और उपहासों के बावजूद भी यह क्रोध, मान, कपट, लोलुपता, स्वार्थपरता और ऐसे ही अन्य दूषित भावों के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करता रहा है। सदियों से जैन अपनी श्रद्धा एवं आचरण के लिए यातनाएं सहता रहा, लेकिन उसने किसी ईश्वर के सामने अपनी रक्षा की भीख नहीं मांगी और न अपने तथाकथित शत्रुओं से बदला लेने की भावना ही रखी।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के लेखक डा० वशिष्ठनारायण सिन्हा हैं जो पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के 'बृहद् बम्बई वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ शोध-छात्र' रहे हैं। प्रबन्ध का निर्देशन एवं संपादन संस्थानाध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता ने किया है। इसके प्रकाशन का व्यय दिल्ली के श्री विजय कुमार जैन एण्ड सन्स ने अपने पिता लाला बनारसीदास, जो लाला मिलखीमल के सुपुत्र एवं अमृतसर के एक प्रतिष्ठित परिवार के सदस्य थे, की पुण्य-स्मृति में वहन किया है। स्व० लाला बनारसी दास का परिचय इस प्रकार है :

लाला बनारसी दास ने सन् १८८९ में अमृतसर के एक उच्च घराने में जन्म लिया। उन्हें शुरू से ही जैन धर्म में बड़ा लगाव था व यह शौक निरन्तर बढ़ता ही गया। वे सूर्य की तरह चमके जिसकी ज्योति-तले आज भी उनका परिवार चमचमा रहा है। सूर्य यद्यपि अस्त हो गया मगर उसकी अमिट रोशनी चहुँओर है।

वे एक सच्चे समाज सेवी थे जिन्होंने तन-मन-धन से समाज को उन्नत-समुन्नत बनाने का भरसक प्रयत्न किया। सर्वोत्तम सफलता प्राप्त करने के लिए कार्य में रत होकर वे अपने आप को भूल जाते थे। आलस्य को तो वे जीवित मनुष्य की कबर समझते थे।

वे साहसी महापुरुष थे जो कभी भी हिम्मत न हारते थे। उनका कहना था कि संघर्ष ही जिन्दगी है, जब तक सांस है संघर्षों से जूझते जाओ, सफलता स्वयमेव मिलेगी।

विश्वास और इज्जत को उस महानुभाव ने बनाए रखा क्योंकि इन दोनों की समाप्ति के साथ इन्सान की भी मृत्यु हो जाती है। उन्होने बुरे इन्सान से कभी घृणा नहीं की, बल्कि उसकी बुराई से की।

वे एक महान् दानी थे, जो धार्मिक व शैक्षणिक संस्थाओं को अधिकाधिक दान देते थे। वैसे तो उनके समस्त गुण उनके सुपुत्र विजय कुमार में हैं परन्तु इतना विशेष है कि वे दान में पिता से भी बढ़कर हैं, यह कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

धर्म-कर्म में उनका अटूट विश्वास था। उनकी वाणी में एक ऐसा जादू था जिससे आकर्षित होकर पराये भी अपने बन जाते थे। उन्होंने

बेसहारों को सहारा दिया। वे दुःखियों के हमदर्दी थे। उन्होंने यही सिखलाया :—

Do all the good you can
By all the means you can
In all the ways you can
At all the places you can
In all the times you can
To all the people you can
As long as you can

संक्षेप में उन्हें धर्मप्रिय, सत्यप्रिय, न्यायप्रिय, क्षमाशील एवं धैर्य-शील कहते हुए मेरा मन श्रद्धा से झुक जाता है। अपने परिवार पर उनकी गहरी छाप है। ऐसे महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने से समाज उन्नति की ओर अग्रसर होगा। धन्य था उनका जीवन।

रूपमहल
फरीदाबाद
२-४-७१

हरजसराय जैन
मन्त्री,
श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

•~~•

पुरोवाक्

"माया के मोहक वनकी क्या कहूँ कहानी परदेशी,
भय है सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी।"

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' को माया की मोहक कहानी कहने मे भय था। शायद माया की मोहकता में उलझकर उन्होंने बहुत बड़ी नादानी की थी। डाक्टर बनने का मोह मुझे भी कुछ ऐसा ही था और इसके लिए मैं आठ वर्षों तक उलझा रहा। वे आठ वर्ष एक लम्बी कहानी प्रस्तुत करते हैं, जिसे मैं अपनी नादानी नही बल्कि जीवन का संघर्ष समझता हूँ। संघर्ष के क्षण दुःखदायी अवश्य होते हैं पर जीवन-पथ के लिए वे कुछ ऐसे पाथेय प्रदान कर जाते हैं, जिनसे व्यक्ति सर्वदा सुख प्राप्त करता है। अतएव अपनी कहानी सुनाने मे मुझे भय नही है कि आप हँस देंगे और उसे मैं पूर्णतः नही किन्तु आंशिक रूप में आपके समक्ष रखना चाहूँगा। इस बात की आवश्यकता भी मुझे इसलिए जान पड़ती है कि अपने शोध-प्रबन्ध की योजना पर प्रकाश डालने के पश्चात् जिन लोगो के प्रति मुझे आभार व्यक्त करना है वे कोई और नही बल्कि मेरी कहानी के पात्र हैं, भले ही उन्होंने अपनी भूमिका चाहे जिस रूप मे निभाई हो।

सन् १९५९ मे का० वि० वि० के दर्शन विभाग से मैं एम० ए० उत्तीर्ण हुआ और बड़ी उमंग के साथ डॉ० चन्द्रधर शर्मा के निरीक्षण मे शोधकार्य के लिए इसी विश्वविद्यालय मे मैंने प्रार्थना पत्र जमा किया। मुझे पार्श्वनाथ विद्याश्रम की ओर से एक सौ रुपये माह की छात्रवृत्ति देने का आश्वासन दिया गया और पंजीकरण के बाद छात्रवृत्ति मिली भी। कारण, मेरा शोध विषय था 'अहिंसा के धार्मिक एवं दार्शनिक आधार' जो जैनधर्म से संबंधित था। पंजीकरण की सूचना के साथ विश्वविद्यालय कार्यालय ने मुझे डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी के निरीक्षण मे कार्य करने को आदेश दिया। किन्तु तत्कालीन परिस्थितिवश मैंने जनवरी १९६० से डॉ० शर्मा के निरीक्षण में कार्य प्रारम्भ किया, यद्यपि मेरा पंजीकरण जुलाई १९५९ से ही माना गया।

इसी बीच पा० वि० के अधिष्ठाता पं० कृष्णचन्द्राचार्य से मेरा कुछ मतभेद हुआ और मैंने विद्यालय की छात्रवृत्ति लेनी बन्द कर दी। यहाँ तक कि लिये गये रुपये भी मैंने लौटा दिए और स्वतंत्र रूप से शोधकार्य प्रारम्भ किया। तब मेरा विषय हुआ—'शान्ति पर्व का दर्शन'। किन्तु सन् १९६० के उत्तरार्ध में डॉ० शर्मा दर्शन विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बनकर जबलपुर विश्वविद्यालय में चले गए और डॉ० नन्दकिशोर देवराज भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग के प्रो० एवं अध्यक्ष होकर का० हि० वि० मे आ गए। नियमानुसार उस समय तक मेरे शोधकार्य की अवधि पूरी नही हुई थी। अत: मुझे निरीक्षक बदलना पड़ा और मैं डॉ० देवराज के निरीक्षण में आ गया। निरीक्षक बदलने के कारण मुझे विभाग भी बदलना पड़ा। फलत: दर्शन विभाग से मैं भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग मे आ गया। नये विभाग मे प्रवेश पाते ही डॉ० शर्मा के निरीक्षण में किए गये कार्य की अवधि समाप्त कर दी गई और डॉ० देवराज के निरीक्षण मे मैं एक नये विद्यार्थी के रूप मे समझा गया।

खैर! कार्य करता गया, इस आशा के साथ कि जल्दी से जल्दी शोधकार्य समाप्त होगा, डॉक्टर बनूंगा। इस तरह सन् १९६४ के जून तक कार्य करता रहा। शोध-प्रबन्ध भी जैसा मैं समझ रहा था, करीब-करीब पूरा हो रहा था और मुझे पूरी आशा बँध गई थी कि इस वर्ष डाक्टर बन जाऊँगा और जीवन की अन्य गति-विधि में लगूंगा। परन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति आ गई कि शोध-प्रबन्ध मैं जमा न कर सका। जब ऐसी स्थिति का मुझे भान हुआ तो मेरे पैरों के नीचे से धरती खिसकती हुई नजर आई। क्योंकि तब तक पारिवारिक उत्तर-दायित्व एवं आर्थिक बोझ से मेरा कन्धा दबा जा रहा था। पर उस दिन भी मेरे मन का मोह न गया। अर्थोपार्जन के साथ ही शोधकार्य के सफल समापन के उद्देश्य से मैं कलकत्ता चला गया। अपने ससुर जी के बण्डेल स्थित निवास-स्थान पर रात्रि व्यतीत करता था और दिन भर कलकत्ते के विभिन्न सेठ-साहुकारों तथा कुछ शिक्षाविदों के भी दरवाजे खटखटाता फिरता था। साथही मौका मिलने पर राष्ट्रीय पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर कुछ पढ़ लिया करता था। इस तरह एक-दो-तीन करके सात माह समाप्त हो गये। ससुराल के सुखद स्वागत को देखते हुए किसी नादान ने कहा था—'ससुराल रहे के चाही', तो किसी समझदार ने उसका प्रतिकार करते हुए कहा था—'दिन दुइए चारी' अर्थात् ससुराल में दो-चार दिनों तक ही रहना चाहिए। और मैं तो परिस्थितिवश सात माह रह गया। इसके बावजूद भी बात कुछ बनी नहीं, न तो आर्थिक प्रगति

हो सकी और न शोधकार्य ही पूर्णता की ओर बढ़ पाया। इसी बीच [illegible] [illegible] से भेंट हुई और उनकी सलाह एवं अपनी परिस्थिति को देखते हुए अप्रैल १९६५ में बनारस लौट आया।

बनारस आकर जब शोधकार्य के सम्बन्ध में मैंने स्थिति का आकलन किया तो पाया कि मैं उसी स्थान पर था, जहाँ पर कलकत्ता जाने से पूर्व था। ऐसा देखकर मैं कुछ दिनों तक 'किंकर्तव्य विमूढ़' की स्थिति में रहा। तब बन्धुवर मेजर श्री महावीर सिंह की राय पाकर मैं फिर पार्श्वनाथ विद्याश्रम के नये अध्यक्ष डॉ० मोहनलाल मेहता से मिला, जिन्होंने अपने निरीक्षण में कार्य करने और दो सौ रुपये मासिक छात्रवृत्ति देने की सहमति दी। उनकी सहमति से मुझे बहुत बड़ा बल मिला और फिर 'जैन धर्म मे अहिंसा-विचार' विषय लेकर नये पंजीकरण के साथ जुलाई १९६५ से मैंने नया शोधकार्य प्रारम्भ किया। इस बार मेरा शोध-प्रबन्ध ठीक समय पर पूरा हो गया और अक्टूबर १९६७ में मैंने उसे परीक्षा हेतु जमा कर दिया, जिसके फलस्वरूप काशी विश्व-विद्यालय के सन् १९६७ के दीक्षान्त समारोह मे मुझे डॉक्टर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज मेरा शोध प्रबन्ध 'जैन धर्म मे अहिंसा' के नाम से छपकर पुस्तक के रूप में आपके सामने है।

पुस्तक में कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय है 'जैनेतर परम्पराओं मे अहिंसा'। इस अध्याय मे यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि जैन परम्परा, जिस पर शोध-प्रबन्ध आधारित है, के अलावा अन्य परम्पराओं मे अहिंसा को कौन-सा स्थान प्राप्त है। यद्यपि शोध-प्रबन्ध मे मैंने मात्र वैदिक एवं बौद्ध परम्पराओं के ही अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है पर प्रस्तुत पुस्तक मे सिक्ख, पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम, ताओ आदि विश्व की प्रमुख परम्पराओं मे अहिंसा के सिद्धान्त को दी गई मान्यताओं पर प्रकाश डालने की आकांक्षाओं को मैं रोक नहीं पाया, इस वजह से यह अध्याय काफी लम्बा हो गया है।

द्वितीय अध्याय है 'अहिंसा-सम्बन्धी जैन साहित्य'। यों तो जैन धर्म के मूल में ही अहिंसा है और प्रायः इसकी सभी धार्मिक एवं दार्शनिक रचनाओं में हिंसा-अहिंसा की थोड़ी बहुत झलक मिल ही जाती है। फिर भी कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें हिंसा-अहिंसा की पूर्ण विवेचना मिलती है। उन ग्रन्थों का परिचय एवं उनमें किन-किन स्थानों पर हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण हुआ है, उनका संकेत इस अध्याय में किया गया है। इससे एक लाभ तो यह है कि अहिंसा के विषय

में जानकारी करनेवालों को जैन साहित्य रूपी सागर का मंथन न करना होगा और दूसरा लाभ यह है कि यदि वे पुस्तकों के रचना-काल पर ध्यान दें तो अहिंसा-सिद्धान्त की ऐतिहासिकता का भी ज्ञान उन्हें हो सकेगा।

तृतीय अध्याय है 'जैनदृष्टि से अहिंसा'। यह अध्याय पुस्तक का हृदयस्थल है। इसमें जैन-वाङ्मय में प्राप्त हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी जो भी दार्शनिक विवेचन हैं उन पर प्रकाश डाला गया है; साथही हिंसा-अहिंसा की परिभाषा, प्रकार, साधन, फल आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जिसे पढ़कर कोई यह समझ सकता है कि अहिंसा का स्थान केवल नीतिशास्त्र में ही नहीं, बल्कि तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र मे भी है।

चतुर्थ अध्याय है 'जैनाचार और अहिंसा'। इसमें श्रमणाचार एवं श्रावकाचार पर प्रकाश डालते हुए यह दिखाया गया है कि जैन मुनियों एवं गृहस्थों को अपने जीवन मे अहिंसा के सिद्धान्त को उतारने के लिये किस प्रकार के विधि-विधानो का पालन करना होता है।

पंचम अध्याय है 'गांधीवादी अहिंसा तथा जैन धर्म प्रतिपादित अहिंसा'। आधुनिक युग मे गांधीवाद अहिंसा का सबल समर्थक माना जाता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि गाधीवादी अहिंसा जैनमत प्रतिपादित अहिंसा का अनुगमन करती है। दोनों में काफी अन्तर है। लेकिन ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि दोनों के बीच मेल या सामंजस्य नही है। कहाँ-कहाँ पर अहिंसा के सम्बन्ध में गाधीवाद एवं जैनमत एक दूसरे के निकट हैं और कहाँ-कहाँ पर दूर हैं, इसे ही प्रकाश मे लाना इस अध्याय का उद्देश्य है।

षष्ठ अध्याय है 'उपसंहार'। इसमें पूरे शोध-प्रबन्ध का सार है जिसे पढ़ लेने पर पाठक के सामने पूरी पुस्तक की एक झलक आ सकती है।

इस कार्य मे किसी न किसी रूप मे मुझे अनेक लोगों से सहायता मिली है। उनमे से जिनके नाम अब तक आपके सामने आ गये हैं उन सबका मैं अत्यन्त ही ऋणी हूं। पद्मभूषण डॉ० भीखन लाल आत्रेय, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान एवं भारतीय दर्शन तथा धर्म विभाग, काशी विश्वविद्यालय; प्रो० राजाराम शास्त्री, सदस्य, भारतीय लोक-सभा तथा भूतपूर्व कुलपति, काशी विद्यापीठ; पं० दलसुखभाई मालवणिया, अध्यक्ष, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद; डॉ० के० शिवरामन् एवं डॉ० रमाशंकर मिश्र, रीडर, दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र, का० वि० वि० तथा डॉ० गुलाबचन्द्र

चौधरी, प्रोफेसर, नवनालन्दा महाविहार का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके आशीर्वाद मुझे हमेशा ही मिलते रहे हैं।

राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज एवं डॉ० सतकारी मुकर्जी, भू० पू० अध्यक्ष नवनालन्दा महाविहार, ने मेरी पुस्तक पर अपने महत्त्वपूर्ण अभिमत देकर मुझ पर असीम कृपा की है। इसके लिए मैं इनका विशेष आभारी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के प्राण आदरणीय लाला हरजस राय जैन की सहानुभूति मुझे हमेशा ही प्राप्त रही है। श्रीमती मनोरमा मेहता से मुझे हमेशा ही पारिवारिक स्नेह मिलता आ रहा है। अत: इन सबका मैं अत्यधिक आभारी हूँ।

बन्धुवर डॉ० मोहनचन्द जोशी, प्रो० एवं अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, रायपुर विश्वविद्यालय, डॉ० रघुनाथ गिरि, रीडर, दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ तथा डॉ० रामइकबाल पाण्डेय, अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी के स्नेह एवं सहयोग मुझे सदा उत्साहित करते रहे हैं। अतएव इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त किए बिना मैं रह नहीं सकता।

मित्रवर श्री रवीन्द्रकुमार श्रृंगी, संगीत महाविद्यालय, का० वि० वि०, डॉ० अजित शुकदेव शर्मा, दर्शन विभाग, का० वि० वि०; डॉ० रमाकान्त सिंह, मनोविज्ञान विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय; डॉ० अर्हद्दास दिगे, दर्शन विभाग, आर्ट्‌स एण्ड कॉमर्स कॉलिज, कराड (महाराष्ट्र); पं० कपिलदेव गिरि, श्री हरिहर सिंह एवं श्री मोहन लाल, पार्श्वनाथ विद्याश्रम; श्री वैद्यनाथ सिंह, छितरी; श्री सदानन्द सिंह, जलालपुर, आदि का मैं बहुत आभारी हूँ जिनसे मुझे हमेशा ही स्नेह एवं सहयोग मिलता रहा है।

अपने परिवार के सदस्यों विशेषकर अपने माता-पिता श्रीमती जयलक्ष्मी सिन्हा तथा श्री पंचम सिन्हा, अनुज श्री रवीन्द्र एवं विश्वमोहन और धर्मपत्नी श्रीमती शान्ति सिन्हा का बहुत ही आभारी हूँ जिन्हे मेरे शोध कार्य की दीर्घ व्यस्तता के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। अपनी छोटी बहन शशि का मैं खास तौर से आभारी हूँ जो मुझे पुस्तक की छपाई तथा अन्य पठन-पाठन एवं लेखन सम्बन्धी कार्यों की याद दिलाकर उत्साहित करती रहती है।

डी० १/४८, गोपालकृष्ण भवन
लाहोरी टोला, वा रा ण सी
महाशिवरात्रि, १३ फरवरी, १९७२

वशिष्ठनारायण सिन्हा

प्रस्तुत पुस्तक मे

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

जैन धर्म में अहिंसा

प्रथम अध्याय

जैनेतर परम्पराओं में अहिंसा

भारतीय संस्कृति में दो अन्तर्धाराएँ प्रवाहित होती हैं : वैदिक विचारधारा तथा श्रमण-विचारधारा, जिन्हें वैदिक संस्कृति एवं श्रमण-संस्कृति भी कहा जाता है। चूंकि वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण या पुरोहित अग्रणी समझे जाते हैं और इनके द्वारा निर्देशित कर्मकाण्ड-मार्ग का अन्य सनातनधर्मी अनुगमन करते हैं, इसे ब्राह्मण-संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। वेद, उपनिषद् आदि इसके आधार-ग्रन्थ हैं। श्रमण-संस्कृति की दो उपधाराएं हैं—बौद्ध एवं जैन। बौद्ध संस्कृति के आधार-ग्रन्थ हैं पिटक आदि, तथा जैन संस्कृति आगमों पर आधारित है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिपरक जीवन से प्रारम्भ होकर निवृत्तिपरक जीवन की ओर बढ़ती है किन्तु श्रमण-संस्कृति शुरू से ही निवृत्तिपरक है।

वैदिक परम्परा :

वैदिक परम्परा का श्रीगणेश वेदों से होता है। हिन्दू धार्मिक मान्यता के आधार पर वेद उन ईश्वरीय पवित्र प्रवचनों के संकलन हैं, जो अकाट्य और अमिट हैं। ऐतिहासिकता के आधार पर ये समूचे संसार की मानवकृत रचनाओं में सबसे प्राचीन हैं। प्राचीनता एवं ज्ञान-बाहुल्य के कारण वेदों की गणना संसार की उच्चतम कोटि की रचनाओं में होती है। वैदिक संस्कृति, साहित्य, धर्म एवं दर्शन के तो ये प्राण हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक के चार विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इनके अलावा स्मृति, सूत्र, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक-परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

ऋग्वेद का समय राधाकुमुद मुकर्जी ने वही माना है जो सिन्धु-सभ्यता का माना गया है। ऋग्वेदकालीन भारतीय संस्कृति एवं

सिन्धु-संस्कृति के संबंध को देखते हुए उन्होंने दोनों के लिए ई० पूर्व ३२५० समय निर्धारित किया है।[1] वेदकालीन मानव प्रकृति नटी की गोद में पलने के कारण उदार हृदय वाला था तथा उसका मस्तिष्क उलझनों से परे था। सामान्य तौर से वह दूध, दही, घी, खीर, चावल, रोटी, फल आदि खाता था। साथ ही उन बैलों, भेड़ों और बकरों के मांस भी उसकी भोज्य सामग्रियों में शामिल थे, जो यज्ञों में बलिस्वरूप मारे जाते थे।[2] यदा-कदा दवा आदि के रूप में वह कुत्ते का मांस भी काम में लाता था।[3] गाय को वह अवध्य[4] तथा बहुत अच्छी सम्पत्ति मानता था, यद्यपि यज्ञ में वैसी गायों की बलि भी वह देता था जो बांझ होती थीं, और पात्र बनाने तथा गाड़ी आदि बाँधने के काम में गोचर्म का प्रयोग करता था।[5] वह शिकार खेलने का आदी था अतः सूअर, भैंसा, सिंह आदि को मारने या पकड़ने में आनन्द का अनुभव करता था। उसके सामने मानव एवं पशु से परे आनन्द या कष्ट देनेवाली कोई शक्ति थी तो वह

1. That the age of the Ṛigveda is not later than that of the Indus civilization of about 3250 B. C. has been already explained on the basis of the links of connection between the two cultures. Ancient India (Radha Kumud Mookerji), p. 52.

2. Meat also formed a part of dietary. The flesh of the ox, the sheep and the goat was normally eaten after being roasted on spits or cooked in earthenware or metal pots. Probably meat was eaten, as a rule, only on the occasions of sacrifice though such occasions were by no means rare, the domestic and the grand sacrifices being the order of the day. Vedic Age (Ed. R. C. Majumdar), p. 393. Flesh was eaten but only of animals that were sacrificed, viz., sheep and goat.
Ancient India (R. K. Mookerji), p. 67.

३. अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम् ।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार ॥ १३ ॥
ऋ० वे० ४. १८. १३.

४. हिन्दी ऋग्वेद—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ १०२०, मंत्र २.

५. हिन्दी ऋग्वेद—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ ७३४, मंत्र २६;
अश्विद्वय, जो मधु-पूर्ण चर्म-पात्र मध्यस्थान में रखा हुआ है, उससे मधु-पान करो। हि० ऋ०, पृ० ९०६, मं० १६; हि० ऋ०, पृ० ११६१, मंत्र १६; पृ० १२५०, मंत्र २२.

प्रकृति ही थी। वह प्रकृति के विभिन्न रूपों या विभिन्न अंशों की पूजा किया करता था जिससे कि वह कष्ट से मुक्त हो जाता और आनन्द की प्राप्ति करता। अतः उसके पूज्य देवताओं की संख्या बहुत ही अधिक थी। निरुक्तिकार यास्क के अनुसार स्थान-विभाग की दृष्टि से देवताओं की तीन श्रेणियाँ हैं—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्ष-स्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान-देवताओं मे अग्नि का, अन्तरिक्ष-स्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाशस्थान-देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का स्थान सबसे ऊँचा एवं महत्त्वपूर्ण है।[1] दार्शनिकों ने इस बहुदेवता-पूजन को प्राकृतिक बहुदेवतावाद (Naturalistic Pluralism) नाम दिया है जो धीरे-धीरे आवसरिक एकदेवतावाद (Henotheism), एकदेवतावाद (Monotheism) तथा ब्रह्मवाद (Monism) के रूप लेता है।

स्वाभाविक सरलता एवं निष्कपटता के कारण वेदकालीन मानव के सामने न कोई पेचीदी समस्या थी और न तो उसके समाधान के लिये कोई ऊँचा सिद्धान्त ही। जब वह किसी प्रकार का वैयक्तिक या सामाजिक, शारीरिक या मानसिक तथा मानुषिक या अमानुषिक कष्ट पाता था तो अपने देवताओं की आराधना करता था, उसके निमित्त तरह-तरह की आहुतियाँ देता था और कष्ट निवारण के लिये प्रार्थना करता था। अतः वेदों में प्रार्थना एवं प्रशंसा की भरमार है। उन प्रार्थनाओं में "अहिंसन्ती"[2] "हिंस्यमान"[3], "हिंसन्त"[4], "अहिंसन्तीरनामया",[5] "हिंसन्तो"[6]

---

१. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ५४-५५.

२. अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः॥ ऋ० वे० १०. १२. १३.

३. आदिन्मातॄराविशद् यास्वा शुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे।
अनु यत् पूर्वा अरुहत् सनाजुवो नि नव्यसीष्ववरासु धावते॥
ऋ० वे० १.१४१.५.

४. प्र यच्छ पशुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु॥
ऋ० वे० १२.१.११.

५. याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ ऋ०वे० ६. ८. १३.

६. तर्द है पतंग है जभ्य हा उपक्वस। ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित॥ ऋ० वे० ६.५०.२.

"हिंस्र"[1], "हिंस्राशनिर्हरसा"[2], "हिंस्र"[3], तथा "हिंस्ते"[4] आदि शब्द मिलते हैं। किन्तु इन शब्दों से हिंसा अथवा अहिंसा के नैतिक रूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कारण, इन शब्दों के द्वारा अधिक जगहों पर राक्षसों को मारने के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं। यहीं प्रश्न उठता है कि वे राक्षस कौन थे? सामान्यतः राक्षस का अर्थ दुष्ट या दुराचारी होता है। अतः दुराचारी या दुष्ट जिससे समाज या राष्ट्र की हानि हो उसके विनाश की भावना कुछ हद तक अहिंसा के अन्तर्गत आ सकती है। किन्तु हो सकता है कि "राक्षस" शब्द से उन आदिवासी अनार्यों को सम्बोधित किया जाता रहा हो जिन्हें आर्य लोग नीच तथा निकृष्ट समझकर अपने से दूर रखना चाहते थे। या राक्षस कहे जाने वाले वही लोग तो नहीं थे जिनके वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थों में "राक्षसगण" के रूप में मिलते हैं। इस विषय में एक निश्चित जानकारी प्रस्तुत करना स्वयं एक शोध का विषय बन जाता है। अतः इन शब्दों को निश्चित रूप से न हिंसा का और न अहिंसा का ही समर्थक कहा जा सकता है।

मैत्रायणी संहिता में अग्नि से प्रार्थना की गई है—

"हे प्रज्वलित लपटों से आज्वल्यमान अग्नि! अपनी देह से मेरी प्रजा को कष्ट मत दो अथवा मत मारो" (मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः)।[5]

---

१. उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
ऋ० वे० १०.८७.३.
उतान्तरिक्षे परि याहि राज जम्भैःसंधेह्यभि यातुधानान्॥
ऋ० वे० ८. ३. ३.

२. अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम्॥
ऋ०वे० १०. ८७. ५.

३. तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥
ऋ० वे० १०. ८७. ९.

४. यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति॥ अ० वे० १२. ४. १३.

५. प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः॥ मैत्रायणी संहिता, २.७.१०.

ठीक इसी तरह की प्रार्थना तैत्तिरीय संहिता[1] एवं शतपथ ब्राह्मण[2] में मिलती है। किन्तु यहाँ "प्रजा" शब्द भी दो अर्थ रखता है—सन्तान एवं जनता। परन्तु दोनों ही अर्थों में यह संकुचित और स्वार्थाधीन जान पड़ता है। यदि कोई अपनी सन्तान के रक्षार्थ प्रार्थना करे अथवा कोई राजा अपनी जनता को बचाने के लिए प्रार्थना करे तो ये दोनों ही प्रार्थनाएँ अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करतीं, क्योंकि अहिंसा का सिद्धान्त ऐसी स्वार्थ-परता से बिल्कुल ही परे है।[3] यह सर्वव्यापक है, अर्थात् सभी जीवों के लिए है। इसके अलावा ऋग्वेद में यों कहा गया है—

"सब देवों के लिये उपयुक्त छाग पूषा के ही अंश में पड़ता है। उसे शीघ्रगामी अश्व के साथ सामने लाया जाता है। अतएव त्वष्टा देवता के सुन्दर भोजन के लिए अश्व के साथ इस छाग से सुखाद्य पुरोडाश तैयार किया जाय।"[4]

---

१. प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिस्त्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्माहिंसीस्तनुवा प्रजाः ॥
तैत्तिरीय संहिता, ४. २. ३. ३; ५. २. २. ७-८.

२ प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि । शिवेभिरर्चिभिष्ट्वमिति
प्रेदग्ने त्वं ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिर्दीप्यमानैरित्येतद् बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजा इति बृहद्भिरर्चिभिर्दीप्यमानैर्मा हिंसीरात्मना प्रजा इत्येतत् ॥६॥ शतपथ ब्राह्मण, काण्ड ६, अ० ८, ब्राह्मण १.

१. जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन महज इसलिए किया जाता है कि अपनी आत्मा की शुद्धि हो, इसमें दूसरे के हित की बात उद्देश्यरूप में नहीं आती है। अतएव इस दृष्टिकोण से अहिंसा भी स्वार्थ की सीमा के अन्दर आ जाती है। किन्तु सामान्य दृष्टिकोण से अहिंसा का सिद्धान्त पर-हितकारी समझा जाता है। और ऐसी हालत में जहाँ अपने लोगों के हित की बात आती है तो उससे इसे अलग समझना ही उचित समझा जाता है।

४. एष च्छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः । अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ॥ ऋ०वे० १. १६२. ३;
हिन्दी ऋग्वेद—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ २४०.

आगे कहा है—"यज्ञ के जो पाँच (धान्य, सोम, पशु, पुरोडाश और घृत) उपकरण हैं, यथायोग्य उनको मैं रखता हूँ।"[1] यद्यपि मंत्र में उपकरणों के नाम स्पष्टत: नहीं दिए गए हैं लेकिन टीकाकारों ने नामों को भी प्रकाशित किया है और उनमें पशु भी एक उपकरण है जिसकी आवश्यकता यज्ञ में होती है। इससे भी आगे 'यूप' की चर्चा मिलती है जिसमें यज्ञ के पशु बाँधे जाते हैं।[2] इनसे यह जाहिर होता है कि यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी। फिर भी वेदों में कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ पर स्पष्ट या गौण रूप से अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है जैसे—

"हम अभी गमन (संगति) प्राप्त करें। मित्रभूत अथवा मित्र द्वारा दर्शित मार्ग से हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें गृह में प्राप्त हो।"[3]

इस कथन में सुख, अहिंसा, मित्र तथा मार्ग शब्द संबंधित-से दीखते हैं—गृह में सुख की प्राप्ति हो ; सुख जो मित्र के द्वारा अथवा उसके सहवास से प्राप्त हो; मित्र जो अहिंसक है; तथा मित्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर प्रस्थान करें। अर्थात् अहिंसा एक ऐसी वस्तु है जो हितकारी या सुख देने वाली है और इसका संबंध मित्र से ही हो सकता है, शत्रु से नहीं। जिसके प्रति मन में शत्रुता का भाव होगा उसके प्रति अहिंसा का व्यवहार करना या अहिंसा का भाव रखना असंभव है। पुन: ऋग्वेद में कहा है कि हे वरुण ! यदि हम लोगों ने उस व्यक्ति के प्रति अपराध किया हो जो हम लोगों को प्यार करता है, यदि कोई गलती अपने मित्र या

---

१. पञ्च पदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि ॥३॥

ऋ० वे० १०. १३. ३.

२. उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पति: शमिता देवो अग्नि:स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥१०॥

ऋ० वे० १०. ११०. १०.

३. यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ऋ० वे० ५. ६४. ३.
हिन्दी ऋग्वेद—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० ६३५.

साथी को कि पड़ोसी है अथवा किसी अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई घात किया हो तो हमारे अपराधों का नाश करो।[1]

आगे कहा है—

"पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः" (ऋ० वे० ६. ७५. १४) मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह एक-दूसरे की रक्षा करे। यजुर्वेद में देखा जाता है—

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥" ३६. १८

अर्थात् मैं सभी प्राणियों को मित्रवत् देखूं। आपस में सभी एक दूसरे को मित्र के समान देखें। इसी तरह अथर्ववेद में कहा है—

"तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः" (अ०वे० ३. ३०. ४) अर्थात् हम सभी एक साथ ऐसी प्रार्थना करें जिससे कि आपस में सुमति और सद्भाव का प्रसार हो। फिर एक उक्ति मिलती है—

"यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि" (अ०वे० १७. १. ७) भगवन् ! आपकी कृपा से मैं सभी मनुष्यों के प्रति, चाहे मैं उनसे परिचित होऊँ अथवा नहीं, सद्भाव रखूं।

इतना ही नहीं, बल्कि विश्व-शान्ति के भाव पर बल देते हुए कहा गया है कि सूर्य की किरणें हम सभी के लिए (मनुष्यमात्र के लिए) शान्ति प्रदान करने वाली हों और सभी दिशाएं भी शान्ति-दायिनी हों।[2] और यजुर्वेद में तो शान्ति की भावना के विस्तार की कामना पृथ्वी लोक से लेकर द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक तक

---

१. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत् सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥
ऋ० वे० ५. ८५. ७.

२. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। ऋ०वे० ७. ३५. ७.

की गई है। जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, सभी देवता एवं ब्रह्म सब के सब शान्ति देने वाले हों। विश्व ही पूर्ण शान्तिमय हो।[1]

इन उक्तियों को देखकर क्या कोई कह सकता है कि वैदिक युग में अहिंसा-भाव का संचार न था। भले ही अहिंसा शब्द पर उस समय कोई प्रकाश नहीं दिया गया हो ऐसा माना जा सकता है लेकिन भाव रूप में तो अहिंसा की पूरी अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि ऋग्वेद और अथर्ववेद में अहिंसा की सीमा मात्र मनुष्य तक ही दिखाई गई है किन्तु यजुर्वेद में अहिंसा भाव का पूर्ण विकास मिलता है जहाँ पर सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव व्यक्त किया गया है और विश्व-शान्ति की कामना की गई है।

उपनिषद् :

उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं क्योंकि ये वेदों के अन्तिम भाग माने जाते हैं। इनकी संख्या काफी अधिक है जिनमें से कुछ तो प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हैं पर कुछ ऐसे हैं जिन्हें गौण स्थान प्राप्त है और वे लघु उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं। रचना-काल के दृष्टिकोण से कौषीतकि, तैत्तिरीय, महानारायण, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और केन उपनिषद् बुद्ध और पाणिनि से काफी पहले के हैं। इन उपनिषदों के कुछ बाद कठ, श्वेताश्वतर, ईश, मुण्डक, प्रश्न आदि की रचना हुई। पर ये सब भी बुद्ध से बाद के नहीं बल्कि पहले के ही हैं।[2]

उपनिषदों ने कर्मकाण्ड यानी यज्ञादि से ज्यादा ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी है। इनमें बहुदेवतावाद का स्थान ब्रह्मवाद को मिलता है और सांसारिक सुख-सुविधा के बदले उपनिषद्-कालीन लोग मोक्ष पर जोर देते हैं। यद्यपि उनके भोजन आदि में

---

१. द्यौःशान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ यजु०वे० ३६. १७.

2. Vedic Age (Ed. R. C. Majumdar), p. 493.

कोई परिवर्तन नहीं होता है। वे चावल, रोटी, दूध, घी आदि के साथ मांस भी खाते हैं।[1] भले ही वह मांस बलि दिए गए पशु का हो अथवा साधारण तरह से मारे गए पशु का ही हो।[2]

किन्तु इतनी बात अवश्य है कि अहिंसा का सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् में ही होता है—उस आत्मज्ञान का ब्रह्मा ने प्रजापति के प्रति वर्णन किया, प्रजापति ने मनु से कहा, मनु ने प्रजावर्ग को सुनाया। नियमानुसार गुरु के कर्त्तव्य-कर्मों को समाप्त करता हुआ वेद का अध्ययन करता हुआ (पुत्र-शिष्यादि को) धार्मिक कर सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थापित कर शास्त्र की आज्ञा से अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करता हुआ वह निश्चय ही आयु की समाप्ति पर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ (अन्त में) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ॥१॥[3]

इसके पहले ही अध्याय ३ में आत्मज्ञानोपासना का वर्णन करते हुए कहा है कि तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य-वचन इसकी (आत्मयज्ञ की) दक्षिणा है।[4]

लघु उपनिषदों, जैसे प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् एवं आरुणिकोपनिषद् आदि में भी अहिंसा को सद्गुण या आत्म-संयम के प्रमुख साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में स्मृति, दया, शान्ति तथा अहिंसा को प्राणाग्निहोम यज्ञ करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी का पूरक बताया है। इन गुणों के होने पर पत्नी, जिसका साथ यज्ञ में आवश्यक समझा जाता है, की

---

1. Vedic Age (Ed. R. C. Majumdar), p. 519.
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. I, p. 231.
३. तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ छा०उ० ८. १५. १.
४. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छा० उ० ३. १७. ४.

पूर्ति हो जाती है। अर्थात् पत्नी न भी हो और ये सब गुण जिस व्यक्ति में हों तो उसे प्राणाग्निहोत्र यज्ञ करने में दोष नहीं लगता।[१] इतना ही नहीं, आगे चलकर इसमें अहिंसा को यज्ञ का इष्ट बताया गया है अर्थात् अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए यज्ञादि किए जाते हैं।[२] आरुणिकोपनिषद् में बार-बार कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य आदि व्रतों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।[३] और शाण्डिल्योपनिषद् ने तो अहिंसा की गिनती दश यमों में की है यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच ये दश यम हैं।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों के अनुसार अहिंसा मनुष्य के सदाचार का एक प्रधान अंग है तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने का एक बहुत बड़ा साधन भी है। इसी वजह से इसे यज्ञादि का इष्ट या उद्देश्य भी समझा गया है।

स्मृति :

स्मृतियों में मनुस्मृति अभीष्ट है। यह वैदिक धर्म या ब्राह्मण परम्परा का पथ-प्रदर्शन करती है। इसमें प्राय: २६८५ श्लोक हैं। काणे तथा नीलकंठ शास्त्री ने माना है कि इसका संशोधन ई० पूर्व द्वितीय शती से ई० सन् द्वितीय शती तक के बीच में हुआ था।[५] इसका मतलब होता है कि मनुस्मृति की रचना निश्चित

१. स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंजाया:। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड ४.

२. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड ४.

३. ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे
रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥३॥
आरुणिकोपनिषद्।

४. तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृति-
मिताहारशौचानि चेति यमा दश ॥१॥
शाण्डिल्योपनिषद्।

5. History of Dharmaśāstra (Kane), Vol. I, pp. 133-53;
History of Philosophy : Eastern and Western, Vol. 1, p. 107.

रूप से ई० पूर्व द्वितीय शती से पहले हुई होगी। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिता तथा छान्दोग्योपनिषद् में मनु का उल्लेख नियम निर्धारित करने वाले के रूप में हुआ है। यहाँ तक कि यास्क जिनका समय ई० पूर्व सातवीं शती माना जाता है, ने निरुक्त में मनु का उल्लेख किया है। इस तरह एक वैदिक ऋषि के रूप में मनु का समय अति प्राचीन समझा जाना चाहिए। उनके द्वारा रचित बहुत श्लोक भी काफी पुराने हैं पर मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र के रूप में उनका संकलन बाद में हुआ है। चूँकि मनुस्मृति का संबंध मानव-सूत्र-चरण (वैदिक शाखा) जो कृष्ण यजुर्वेद पर आधारित है,[1] से है, इस पर वैदिक विचार-धारा का काफी प्रभाव है। इसमें वर्ण धर्म तथा आश्रम धर्म पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य का विस्तृत विवेचन किया गया है। खास तौर से मांसाहार जिसका संबंध हिंसा-अहिंसा के सिद्धान्त से है, का पूर्ण स्पष्टीकरण इसमें मिलता है।

मांसाहार तथा हिंसा का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। कोई भी व्यक्ति आहार के निमित्त मांस की उपलब्धि तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि वह किसी जीव की हिंसा नहीं करता, क्योंकि मांसाहार करने वाले स्वाभाविक मृत्यु से मरे हुए प्राणी के मांस को ग्रहण करना न चाहते हैं और न करते भी हैं। मांसभक्षण का अर्थ ही है हिंसा। अतः अहिंसक के लिए मांसाहार का निषेध किया गया है। मनुस्मृति में यह बताया गया है कि मांस ग्रहण करना किस हद तक उचित है अथवा अनुचित। इसके पाँचवें अध्याय में हिंसा-अहिंसा-संबंधी बृहद् विवेचन मिलता है। यहाँ पर इस संबंध में तीन पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं : १. यह पक्ष पशु-पक्षियों के भक्ष्य-अभक्ष्य मांस की चर्चा करता हुआ हिंसा का समर्थन करता है। २. इस पक्ष में हिंसा की मर्यादा यज्ञ तक साबित की गई है, यानी यज्ञ में पशुओं की हिंसा करना और उनके मांस का विधिपूर्वक भक्षण करना उचित है परन्तु साधारण मांस जो यज्ञ के अलावा

1. Hindu Civilization (Radha Kumud Mookerji), p. 159.

अन्य साधनों से उपलब्ध हो, को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। ३. यज्ञ में पशु-वध एवं मांसाहार को दोषपूर्ण बताते हुए अहिंसा का समर्थन किया गया है। इन पक्षों की स्पष्टता नीचे के शब्दों में दृष्टिगोचर होती है :

पहला पक्ष—कच्चा मांस खानेवाले गिद्ध इत्यादि तथा घर में रहने वाले कबूतर आदि पक्षी अभक्ष्य हैं। जिनके नाम बताये नहीं गये हों ऐसे खुरवाले, घोड़े, गधे आदि के मांस खाने योग्य नहीं होते। टिटहरी पक्षी का मांस अभक्ष्य होता है। लेकिन पाठीन और रोहित मछलियां हव्य-काव्य के लिए निर्देशित हैं; इनके अलावा राजीव, सिंहतुण्ड और चोंयटेवाली सभी मछलियाँ भी खाने योग्य हैं। ब्राह्मण यज्ञ के लिए तथा स्वजनों के रक्षार्थ हिंसा कर सकता है, क्योंकि अगस्त्य ऋषि ने ऐसा किया था। ऋषियों तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों के द्वारा किए गए पहले के सभी यज्ञों में मांस के उपयोग हुए हैं। मंत्रों के द्वारा पवित्र मांस खाया जा सकता है; यज्ञविधि से मांस खाना तथा प्राण-संकट आने पर मांस का खाना निषिद्ध नहीं है। प्राण के लिये ये ब्रह्मा के द्वारा कल्पित अन्न हैं, स्थावर और जंगम सभी प्राण के भोजन हैं—जैसे चरों का अन्न अचर, डाढ़वालों के बिना डाढ़वाले और वीरों के अन्न कायर हैं। इस तरह जो जीव खाने वाला है वह प्रतिदिन प्राणियों को खाकर भी दोषी नहीं होता। कारण, ब्रह्मा ने ही खादक और खाद्य दोनों को ही जन्म दिया है।[1]

---

१. क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११॥
कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्रावहं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥१२॥
प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥१३॥
पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥

दूसरा पक्ष—यज्ञ के लिये मांस-भक्षण की अपनी दैवी-विधि ही होती है। इसके विपरीत यदि कोई मांस खाने के लिए ही हिंसा करता है और मांस खाता है तो उसे राक्षसोचित कार्य कहा जाता है। किसी भी विधि से प्राप्त जैसे, खरीदा हुआ, स्वयं कहीं से लाया हुआ, भेंट में प्राप्त मांस यदि देवता या पितृ को अर्पित करके खाया जाता है तो खाने वाला दोषी नहीं होता। विधि और निषेध का ज्ञाता यदि सामान्य अथवा सुख की अवस्था में विधि का उल्लंघन करके मांस खा लेता है तो जन्मान्तर में वे पशु (जिनके मांस वह खाता है) उसे खा जाते हैं। धन के लिए यदि कोई मृग को मारता है तो वह उतना पापी नहीं समझा जाता जितना कि मांस खाने वाला होता है। श्राद्ध और मधुपर्क में विधिवत् नियुक्त होने के बाद भी जो व्यक्ति मांस खाने से इनकार करता है उसे इक्कीस जन्म तक पशु होना पड़ता है। ब्राह्मण को कभी भी बिना मंत्र-संस्कार के मांस नहीं खाना चाहिए लेकिन यज्ञ में मंत्रों से पवित्र किए हुए पशुओं के मांस वह खा सकता है। इच्छा की प्रबलता के कारण वह घृत या मैदे का पशु बनाकर खा सकता है लेकिन व्यर्थ (यानी यज्ञ के अलावा) पशुवध न करना चाहिए। पशुओं को व्यर्थ मारने वाला मरने के बाद उतनी ही बार पशुजन्म धारण करता है जितनी मरे हुए पशु की रोमसंख्या होती है जब मारा जाता है। ब्रह्मा ने यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं की सृष्टि की है। अतः यज्ञ में किया हुआ वध वध नहीं समझा जाता। पशु, वृक्ष,

---

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥२३॥
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥२७॥
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥२८॥
चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥२९॥
नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥ मनुस्मृति, अ० ५.

कछुआ और पक्षी आदि यज्ञ में मारे जाने पर फिर श्रेष्ठ जन्म धारण करते हैं। मधुपर्क, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ, पितृकर्म तथा देवकर्म के अलावा हिंसा नहीं करनी चाहिए। वेद का ज्ञाता द्विज मधुपर्क आदि कर्मों में पशुबलि देकर उस पशु तथा अपने को उत्तम गति का अधिकारी बनाता है। गृह में या गुरुकुल, या वन यानी ब्रह्मचर्य आश्रम या गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थ या आपत्ति में आ जाने पर भी एक आत्मनिष्ठ ब्राह्मण को चाहिए कि वह वेदविरुद्ध हिंसा न करे। चूंकि धर्म वेद से निकलता है, वेदविहित हिंसा तथा इस चराचर नियत हिंसा को हिंसा न समझकर अहिंसा ही मानना चाहिए। जो अपने सुख की इच्छा से यानी यज्ञों के अलावा अहिंसक पशुओं को मारता है वह किसी भी जीवन में सुख नहीं पाता। जो देवता, पितरों को अर्पित किये बिना दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर निकृष्ट या पापी अन्य कोई नहीं हो सकता।[1]

---

१. यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥
क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥
नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥३३॥
न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥३४॥
नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥३५॥
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन।
मंत्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥३६॥
कुर्याद् घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥३७॥
यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥३८॥

तीसरा कथन—जिस व्यक्ति के मन में यह कामना नहीं होती है कि वह पशुओं को बांधे या मारे तथा किसी प्रकार का कष्ट दे वह सभी जीवों का हितैषी होता है और उसे अत्यधिक सुख की

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥
एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥
गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥४३॥
या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥४४॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
सजीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥
यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४६॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥४७॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥४९॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥५०॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥५२॥ मनुस्मृति, अ० ५.

प्राप्ति होती है। जो किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता उसे बिना प्रयास ही मनचाहे धर्म की उपलब्धि हो जाती है। पशुओं के वध के बिना मांस प्राप्त नहीं किया जा सकता है और पशु-हिंसा स्वर्ग दिलानेवाली नहीं होती; अतः मांस-भक्षण त्याग देना चाहिए। मांस की उत्पत्ति रज-वीर्य तथा वध-बन्धन से होती है अतः इसको ध्यान में लाते हुए मांस खाना छोड़ देना चाहिए। जो सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो मांस नहीं खाता, दोनों ही समान पुण्य के भागी होते हैं। पवित्र फल, फूल तथा हविष्यान्न आदि खाने से उस पुण्य की प्राप्ति नहीं होती जो सिर्फ मांस-भक्षण के त्याग से होती है। इस लोक में जिसका भक्षण मैं करता हूँ दूसरे लोक में वह मेरा मांस खायेगा। यही मांस का मांसत्व है। इस प्रकार नियमानुसार मांस खाना, मद्य पीना तथा स्त्री-संभोग करना दोषपूर्ण नहीं कहे जा सकते, कारण, ये तो प्राणी के स्वभाव हैं लेकिन इन सबसे निवृत्त होना श्रेयस्कर तथा महाफलदायक है।[1]

इसके अलावा मनुस्मृति में अन्य जगहों पर भी बहुत से श्लोक ऐसे मिलते हैं जिनसे पूर्णतः अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जैसे—प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसापूर्ण अनुशासन होना चाहिए।[2] इन्द्रियनिग्रह, रागद्वेषत्याग तथा अहिंसा से संन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।[3] अहिंसा, इन्द्रियसंयम, वैदिक

---

१. वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥ मनुस्मृति, अ० ५.

२. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।१५९। मनुस्मृति, अ० २.

३. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६०॥ मनुस्मृति, अ० ६.

कर्मों का अनुष्ठान और कठोर तपस्या से पद की प्राप्ति होती है।[1] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रियनिग्रह ये चारों वर्णों के लिए उपयुक्त हैं।[2] यही बातें बारहवें अध्याय में मिलती हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि सभी प्राणियों को अपने में और सभी प्राणियों में अपने को देखनेवाला आत्मयाजी ब्राह्मण स्वराज्य यानी मुक्ति पाता है। स्थिरचित्त होकर सत्-असत् सबको अपने अन्दर देखनेवाला व्यक्ति अधर्म से अपने को अलग रखता है। सभी देवता आत्मस्वरूप हैं, समूचा जगत् आत्मा में स्थित है और आत्मा के ही द्वारा शरीरधारियों के कर्मयोग का निर्माण होता है। इस तरह जो भी व्यक्ति अपने को सभी जीवों में देखता है वह सबमें समन्वय-भाव की सृष्टि करता है, और इसी वजह से वह ब्रह्मपद की प्राप्ति करता है।[3]

अतः यद्यपि मनुस्मृति में वैदिक विधियों की प्रबलता देखी जाती है फिर भी अहिंसा का सिद्धान्त काफी आगे बढ़ा हुआ मालूम पड़ता है। अहिंसा की राह पर चलनेवाले को इसने उस महापुण्यफल का भागी बताया है जो अनेकों वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करने से होता है, और मुक्तिदायिका तो यह (अहिंसा) है ही जिसे अनेक स्थलों पर उद्घोषित किया है।

---

१. अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५॥ मनुस्मृति, अ० ६.

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥ मनुस्मृति, अ० १०.

३. यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥८१॥
वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥८३॥
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥ मनुस्मृति, अ० १२.

सूत्र :

सूत्रों के चार प्रकार या विभाग हैं : श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र तथा शूल्य सूत्र। राधाकुमुद मुकर्जी ने सूत्रों की रचना ई० पूर्व अष्टमी शती से ई० पूर्व तीसरी शती के बीच में माना है।[1] श्रौत सूत्रों का संबंध श्रुति से है इसलिए इन्हें 'श्रौत' कहते हैं और गृह्य एवं धर्म सूत्र स्मृति पर आधारित हैं इसलिए इन्हें स्मार्त कहते हैं।[2]

सूत्र काल में यद्यपि उपनिषदों से निकली हुई ज्ञानधारा प्रवाहित होती हुई देखी जाती है, ब्राह्मण और आरण्यक से प्रस्फुटित कर्म-काण्ड की धारा ज्यादा वेगवाली मालूम पड़ती है जिसकी जानकारी गृह्य सूत्रों एवं धर्म सूत्रों में प्रस्तुत क्रिया-काण्डों एवं सामान्य आचार आदि के वर्णन से प्राप्त हो सकती है और इसी के आधार पर सूत्र काल में प्रसारित हिंसा-अहिंसा सिद्धान्त का भी ज्ञान हो सकता है। बोधायन, सांखायन, पारस्कर, आश्वलायन, आपस्तम्ब, खादिर, हिरण्यकेशी एवं जैमिनि आदि गृह्य सूत्रों में अन्नप्राशन, अर्घ तथा अष्टकाकर्म के निम्नलिखित वर्णन आते हैं जिनमें मांस-भक्षण की विधि बताते हुए हिंसा का समर्थन हुआ है :

अन्नप्राशन—जन्म के बाद छठे माह में बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार होता है। इस अवसर पर बच्चे को अन्न तथा उपयोगिता के अनुसार विभिन्न प्रकार के मांस खिलाने का विधान है, जैसे—यदि बच्चे में वचन-प्रवाह यानी अस्खलित बोलचाल की आदत डालनी हो तो उसे भारद्वाजी नामक पक्षी का मांस देना चाहिए।

---

1. "Although the chronology of the legal literature is uncertain, it can be assumed with probability that the older Dharma Sūtras belonging to the Vedic schools date from between 600 and 300 B. C." Hindu Civilization, p. 120.
2. "The former are so called as they are based on Śruti, but both the Gṛhya - and the Dharma-Sūtras are called Smārta, as they are based on Smṛti (tradition)". Vedic Age, p. 474.

यदि बच्चे को काफी तन्दुरुस्त बनाना हो तो तित्तर का मांस देना चाहिए। इसी प्रकार चंचलता या चपलता लाने के लिए मछली, लम्बी उम्र की प्राप्ति के लिए कृकशा पक्षी का मांस, पवित्र कान्ति लाने की कामना हो तो आति नामक पक्षी का मांस और यदि इन सभी गुणों की कामना हो तो अभी बताए हुए सभी मांसों को खिलाना चाहिए।[1]

अर्घ—पितृ, देवता या अन्य किसी व्यक्ति के प्रति आदरस्वरूप दिये गये तर्पण की संज्ञा "अर्घ" होती है। पारस्कर के अनुसार शादी के समय छः व्यक्तियों को अर्घ देना चाहिए—गुरु, शादी कराने वाला पुरोहित, कन्यादाता पिता, राजा, मित्र तथा स्नातक। किन्तु अर्घ मांस के बिना नहीं होना चाहिए (स्वेवामा सोर्घः)।[2] शादी-सबंधी नियम निर्धारित करते हुए आपस्तम्ब ने कहा है कि सभी शुद्ध नक्षत्रों में शादी होनी चाहिए। मघा नक्षत्र में अर्घस्वरूप शादी के समय एक गाय और गृह में भी एक गाय देनी चाहिए। प्रथम गाय से वर के निमित्त अर्घ तैयार करना चाहिए तथा दूसरी गाय से वर को चाहिए कि अपने पूज्यलोगों को अर्घ दे। इस प्रकार गायों को मारने के प्रमुख समय ये सब हैं—अतिथि का आगमन तथा अष्टक बलियां जो पितृ एवं शादी के निमित्त होती हैं।[3] इसी तरह बोधायन, हिरण्यकेशी तथा खादिर गृह्य सूत्रों में भी अर्घ-संबंधी नियम प्रस्तुत किए गए हैं।[4]

---

१. षष्ठे मासेन्नप्राशन ॥१॥
श्वेतेर्भारद्वाज्या मांसेनवाक्प्रसारिकामस्य कपिञ्जलमांसेनान्नाद्यकामस्य मत्स्यैर्जवनकामस्य कृकषायास्याठ्या ... ७–११,
पारस्कर गृह्यसूत्र, काण्ड १, काण्डिका १९, सूत्र १, ७–११.
सांखायनगृह्यसूत्र, अ० १, खं० २७, सूत्र २८८–२९१.
आश्वलायन गृह्यसूत्र, अ० १, कां० १६, सूत्र १-३.
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल ६, खं० १६, सूत्र १२.
२. पारस्कर गृह्यसूत्र, काण्ड १, काण्डिका ३, सूत्र २९.
३. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल १, खण्ड २, सूत्र १३,१४.
" " " " " १-९.
४. बौधायन गृह्यसूत्र, प्रश्न १, अ० ३, सूत्र ५२,५३.
हिरण्यकेशी " " १, पटल ४, खण्ड १३, सूत्र १३.

अष्टका—अगहन मास की पूर्णिमा के बाद कृष्ण पक्ष की तीन अष्टमियों को तीन अष्टकाएँ होती हैं, इनको आचार्य लोग अपूपाष्टक कहते हैं, क्योंकि ये पूआ के द्वारा की जाती हैं, लेकिन बीच में यानी पौष मास की पूर्णिमा के बाद वाली अष्टमी को गाय मारकर उसके मांस को प्रयोग करने का विधान है।[1]

धर्मसूत्रों में भी भक्ष्य-अभक्ष्य, श्राद्ध तथा अन्य यज्ञों के विषय में नियम निर्धारित किये गये हैं।

भक्ष्य-अभक्ष्य—बौधायन धर्मसूत्र में कहा है कि पालतू जानवर, मांसाहारी जन्तु तथा पालतू पक्षी आदि नहीं खाना चाहिए लेकिन बकरा और भेड़ इसके अपवाद हैं। ऐसे ही पाँच अंगुलियों वाले जानवर, जैसे खरगोश आदि खाने को कहा गया है।[2] ऐसी ही बातें आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ धर्मसूत्रों में भी मिलती हैं।

---

१. खादिर गृह्यसूत्र, पटल ३, खं० ३, सूत्र २७.
मध्यमार्यां गौ ॥१॥ पटल ३, खं० ४, सूत्र १,७,८, १४-१७.
सांखायन गृह्यसूत्र, अ० ३, खं० १३, सूत्र ६६४.
पारस्कर गृह्यसूत्र, कां० ३, काण्डिका ३, सूत्र ८.
आश्वलायन ,, अ० २, कां० ४, सूत्र ७, १३.
हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, प्रश्न २, पटल ५, खं० १५, पूर्ण.
ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षास्तेषामेकैकस्मिन्नेकैकाष्टका भवति शाकाष्टका मांसाष्टकापूपाष्टकेति तत्र शाकमांसापूपानि हवीष्योदनं च तेषां हविषां स्थाली पाकावृताग्नौ जुहुयादष्टकायै स्वाहा एकाष्टकायै स्वाहा अष्टकायै सुराधसे स्वाहा संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय कृणुता नमोभिः। जैमिनी गृह्यसूत्र, २. ३.

२. अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः ॥१॥
क्रव्यादाश्शकुनयश्च ॥२॥
तथा कुक्कुटसूकरम् ॥३॥
अन्यत्रा (२) आविकेभ्यः ॥४॥
भक्ष्याः श्वाविड्गोधाशशशल्यककच्छपखड्गाः खड्गवर्जाः पञ्च पञ्चनखाः ॥५॥
तथर्श्यहरिणपृषतमहिषवराह(२)कुलुंगाः कुलुंगवर्जाः पञ्च द्विखुरिणः ॥६॥

श्राद्ध—गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि पितरों के श्राद्ध में तिल, उड़द, चावल, जव तथा जल प्रयोग करने से उसे एक माह के लिए तुष्टि होती है; मछली, साधारण मृग, चितकबरा मृग, खरगोश, समुद्री कछुआ, सुअर और भेड़ के मांस से तीन वर्षों तक; गाय के दूध या दूध से बने सामान से बारह वर्षों तक; वार्ध्रीणस का मांस, तुलसी, लाल रंग का बकरा और गैंडे के मांस आदि से, मधु के साथ बने सामान से अनेक वर्षों तक पितरों को संतोष प्राप्त होता है।'

यज्ञ—सामान्यतौर से यज्ञों के दो प्रकार हैं: वे यज्ञ जिनमें पशुओं की बलि दी जाती है तथा वे यज्ञ जिनमें अन्नादि का प्रयोग होता है—किसी भी प्राणी की जान नहीं ली जाती है। किसी भी प्राणी की जान लेना निश्चित ही हिंसा है, इसलिए यज्ञ में भी पशुओं का हनन करना हिंसा कहा जा सकता है किन्तु इस सम्बन्ध में वैदिक धर्मग्रन्थों में कोई एक विचार नहीं बल्कि अनेकों मत मिलते हैं जिन्हें हम आगे आनेवाले पृष्ठों पर देखेंगे।

पूर्णचन्द्र, नवीनचन्द्र, अर्धवार्षिक आग्रयन, इश्ति, चातुर्मास तथा अर्धवार्षिक यज्ञों के समय जानवरों की बलि होनी चाहिए, ऐसा वशिष्ठ का मत है। और बौधायन ने भी कहा है कि यज्ञ में

पक्षिणस्तित्तिरिकपोतकपिञ्जलवार्ध्राणसमयूरवारणा
वारणवर्जाः पञ्च विविष्किराः ॥७॥
मत्स्यास्सहस्रदंष्ट्रश्चिलिचिमो वर्मी बृहच्छिरोरोमशकरिरोहितराजीवाः ॥८॥
बौधायन धर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, खण्ड १२.
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, प्रश्न १, पटल ६, खण्ड १७, सूत्र ३१-३३, ३६, ३७.
वशिष्ठ ,, अ० १४, सूत्र १४, १५, ३०, ३८.]

१. तिलमाषव्रीहियवोदकदानैर्मासं पितरः प्रीणन्ति ।
मत्स्यहरिणरुरुशशकूर्मवराहमेषमांसैः संवत्सराणि ।
गव्यपयः पायसैर्द्वादशवर्षाणि । वार्ध्रीणसेन मांसेन
कालशाकच्छागलोहखड्गमांसैर्मधुमिश्रैश्चानन्त्यम् ॥१५॥
गौतम धर्मसूत्र, अ० १५, सूत्र १५.
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, प्रश्न २, पटल ७, खं० १६, सूत्र २४, २६-२८.
वशिष्ठ धर्मसूत्र, अध्याय ११, सूत्र ३४.

अन्य उपकरणों के बाद शुद्ध मक्खन, पकवान, पशु (वध), सोम तथा अग्नि का प्रयोग होना चाहिए।[1]

धर्मसूत्रों में जहां एक ओर मांस के उपयोग का विधान करके हिंसा को प्रश्रय दिया गया है वहां दूसरी ओर अहिंसा के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया गया है। बौधायन के मतानुसार दंड देने के तीन साधनों–मन, वचन और कर्म, में से किसी से भी, संन्यासी को चाहिए कि वह किसी को दण्ड न दे।[2] वशिष्ठ ने कहा है—"कष्ट से सभी जीवों की रक्षा करने की प्रतिज्ञा के साथ एक संन्यासी को अपना घर त्याग देना चाहिए। जो संत सभी जीवों के साथ शान्तिपूर्वक विचरण करता है उसे किसी भी जीव-जन्तु से भय नहीं होता। यदि वह जीवों के कष्ट-निवारण की प्रतिज्ञा नहीं करता और सभी जन्मे-अजन्मे का नाश करता है तथा उपहार ग्रहण करता है तो उसे धार्मिक नियमों से च्युत होने दो किन्तु उसे वेद पढ़ने से वंचित मत होने दो अन्यथा वह शूद्र हो जायेगा। एक संन्यासी को कष्ट देना और दया दिखाना दोनों ही के बीच पूर्णतः तटस्थ होना चाहिए।"[3] आपस्तम्ब के मत में, ब्राह्मण जो ज्ञानी है और सभी जीवो को अपने में और अपने को सभी जीवों में देखता है, वह स्वर्गगामी होता है। क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह, मृषोद्यम, अत्याशन, परीवाद, असूया, काम, मन्यु, अनात्म-भाव तथा अयोग आदि जीवों के विनाश के कारण हैं। इन सभी से अलग होना ही योग या मुक्ति का साधन है। इतना ही नहीं, इनके अनुसार एक ब्राह्मण ही क्या सभी लोगों को क्रोध, हर्ष, लोभ आदि से बचना चाहिए। जो व्यक्ति इन पवित्र नियमों का पालन करता है वह विश्वव्याप्त आत्मा में प्रवेश पा जाता है।[4] गौतम ने सभी जीवों पर दया, सहिष्णुता, अक्रोध, पवित्रता, शान्ति,

---

१. यज्ञांगेभ्यः प्राज्यमाज्याद्धवीषि हविर्भ्यः पशुः पशोस्सोमदाग्नयः ॥११॥
वशिष्ठ धर्मसूत्र, अ० ११, सूत्र ४६.
बौधायनधर्मसूत्र, प्रश्न १, अ० २७.

२. बौधायन धर्मसूत्र, २. ६. २५.

३. वशिष्ठ धर्मसूत्र, १०. १ : ४. २६.

४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, प्रश्न १, पटल ८, खं० २३, सूत्र १.४-६.

अलोभ आदि को कल्याणकर एवं आत्मा के आठ गुण बताए हैं और कहा है कि जो व्यक्ति चालीस प्रकार की धर्मविधियों (इन्होंने अपने धर्म-सूत्र में प्रस्तुत की हैं) का पालन करता है लेकिन यदि उसकी आत्मा ऊपर कथित गुणों को धारण नहीं करती तो उसे न ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है और न स्वर्ग की ही। ठीक इसके विपरीत जो चालीस धर्मविधियों में से कुछेक का पालन करता है और आठ गुणों को धारण करता है उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, साथ ही स्वर्ग की भी।[1]

इस प्रकार गृह्य सूत्रों को देखने से तो लगता है कि अहिंसा का सिद्धान्त जो उपनिषद्काल में चला वह स्मृतिकाल में कुछ दृढ़ बना परन्तु सूत्रकाल में लुप्तप्राय: हो गया। क्योंकि, गृह्यसूत्रों में सब जगहों पर एवं सभी गृह्यकार्यों में मांस का प्रयोग बताया गया है। इसकी पूर्ति एवं पुष्टि धर्मसूत्रों में भी होती है जहाँ श्राद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि के वर्णन मिलते हैं। किन्तु धर्मसूत्रों के दूसरे अंशों को पढ़ने से, जहां पर संन्यासी और ज्ञानी के वर्णन हैं, ऐसा लगता है कि अहिंसा का सिद्धान्त बिल्कुल मर नहीं चुका था बल्कि समाज के एक कोने में खड़ा कांप रहा था। चूंकि सूत्रों में अहिंसा की प्रधानता खासतौर से संन्यासी या मुक्ति चाहने वाले विरक्त लोगों के जीवन में ही दी गई है और यह सामान्यतौर से सोचने की भी बात है कि जिस समाज में साधारण खान-पान ही नहीं बल्कि शादी, श्राद्ध, अतिथि-सत्कार तथा छोटे-बड़े यज्ञों में भी पशुबलि का विधान किया गया हो, वहाँ अहिंसा के सिद्धान्त का विकसित होना असम्भव नही तो कठिन अवश्य था। फिर भी चाहे जिस रूप में भी रहा हो लेकिन यदि अहिंसा का सिद्धान्त जिन्दा था तो उन लोगों को कम श्रेय नहीं दिया जा सकता जिन लोगों ने उसे जीवित रखा।

वाल्मीकि-रामायण :

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण जिसे उनके नाम के साथ ही सम्बन्धित कर दिया गया है, संस्कृत साहित्य का एक अति प्रसिद्ध महाकाव्य है और ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति में इसे एक ऊंचा स्थान

---

१. गौतम धर्मसूत्र, ७०. २२-२५.

प्राप्त है। जैकोबी ने इसका रचना-काल ई० पूर्व आठवीं शती से ई० पूर्व पांचवीं शती के बीच माना है।[1] रामायणकाल में वर्ण एवं आश्रम धर्मों की धाक जमी हुई थी तथा वेद-प्रतिपादित धार्मिक नियमों का अनुगमन होता था। आचार को धर्म का अभिन्न अंग मानते हुए उस पर अधिक बल दिया जा रहा था। अहिंसा, सत्य, आत्म-संयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, शत्रुओं की भी सहायता करना यदि उन्हें आवश्यकता आ पड़े, एवं मन, वचन और कर्म की शुद्धि रामायण में आचार के प्रधान अंग माने हैं।[2] इतना ही नहीं बल्कि राजनीतिक नियमों पर विचार करते हुए

---

1. "Discussing the age of the Rāmāyaṇa, he comes to the conclusion that it must have originated before the fifth or probably in the sixth or the eighth pre-Christian century".
   History of Philosophy: Eastern and Western, (Ed. Sarvepalli Radhakrishnan), Vol. I, p. 75.
२. आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
   राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥१२॥ वा० रा० २.३३.१२
   सत्यं सधर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
   द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥३१॥
   वा० रा० २.१०९.३१.
   पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
   कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥४३॥
   लोकहिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम्।
   कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ॥४४॥
   वा० रा० ६. ११३. ४३-४४.
   बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
   न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥२७॥
   आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
   अरिः प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥२८॥
   वा० रा० ६. १८. २७-२८.
   कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्।
   अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥२१॥ वा० रा० २.१०९.२१.

कहा गया है कि आघात किए जाने पर अपनी रक्षा के लिए घातक पर घात करना दोषपूर्ण कर्म नहीं समझा जा सकता। किन्तु युद्ध में शत्रु भी यदि घात न करता हो, डर कर भाग रहा हो या छुपना चाहता हो या हाथ जोड़कर जान की भीख मांगता हो या नशा पीकर बेहोश हो तो वह छोड़ देने योग्य है, यानी उसे मारना उचित नहीं। सामाजिक दृष्टि से राजा, स्त्री, शिशु, वृद्ध का वध तथा शरणागत का त्याग बहुत बड़ा पाप है।[1]

इन उक्तियों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि रामायण काल में अहिंसा को मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्थान प्राप्त था और अहिंसा का सिद्धान्त विकास की ओर अग्रसर हो रहा था।

महाभारत :

वाल्मीकि-रामायण की तरह महाभारत भी संस्कृत भाषा का बहुत ही प्रसिद्ध महाकाव्य है। प्रारम्भ में इसका नाम 'जय' था फिर यह 'भारत' के नाम से जाना गया और सबसे अन्त में इसने 'महाभारत' का रूप लिया जिसे हमलोग आज १८ पर्वों से युक्त बृहदाकार ग्रन्थ के रूप में पाते हैं। इसमें प्रायः एक लाख से ज्यादा श्लोक हैं। इसके नायक अर्जुन हैं जिनके पौत्र का नाम परीक्षित और प्रपौत्र का नाम जनमेजय है। परीक्षित और जनमेजय के नाम के और भी लोग अर्जुन के वंश में हो गए हैं। इनमें से प्रथम परीक्षित के समय का संबंध ई० से २००० वर्ष पहले माना

---

१. पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागे धर्मश्च राघव ॥२४॥ वा० रा० २.९६.२४
तथा वा० रा० ६. ९.१४;

अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्।
पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥३९॥ वा० रा० ६.८०.३९.
राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥३७॥ वा० रा० २.७५.३७.

गया है।[1] इसी के आधार पर महाभारत के रचना काल का भी अन्दाज किया जा सकता है।

महाभारत काल में भारतीय संस्कृति अपनी चोटी पर थी और इसका बहुमुखी विकास हो चुका था। अतः इसमें अहिंसा का पूर्ण विवेचन हुआ है, जिसमें अहिंसा-संबंधी पहले से आती हुई आशंकाओं का निवारण किया गया है।

शांतिपर्व (महाभारत का बारहवां पर्व) में युधिष्ठिर को राजधर्म या क्षत्रियधर्म समझाते हुए अर्जुन के कथन से लगता है कि क्षत्रिय या कोई गृहस्थ हिंसा का परित्याग कर ही नहीं सकता। सुख-शांति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे को कष्ट दिया ही जाय। वे कहते हैं—

"मछली मारने वाले मल्लाहों की तरह दूसरों के मर्मस्थानों का उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियों को मारे बिना कोई व्यक्ति बहुत बड़ी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता ॥१४॥ जो दूसरों का वध नहीं करता, उसे इस संसार में न तो कीर्ति मिलती है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही उपलब्ध होती है। इन्द्र वृत्रासुर का वध करने से ही महेन्द्र हो गये ॥१५॥ संसार में किसी भी ऐसे पुरुष को मैं नहीं देखता, जो अहिंसा से जीविका चलाता हो; क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥२०॥ हे राजन् ! नेवला चूहे को खा

1. "Considering also that the Purāṇas place more than twenty generations between Janmejaya II and Janmejaya III and counting the date of Janmejaya III to be about 1400 B. C. we may conclude that the time of Parikshita I and Janmejeya II and of Śatapatha and the Aitareya Brāhmaṇas should be about 2000 B. C." Hindu Civilization (Radha Kumud Mookerji), pp. 158-159.

जाता है और नेवले को बिलाव, बिलाव को कुत्ता और कुत्ते को चीता चबा जाता है ॥२१॥"[1]

प्रस्तुत श्लोकों में हिंसा के सिद्धान्त को अपनाया गया है इसमें कोई शक नहीं। लेकिन यहाँ पर खासतौर से राजा या क्षत्रिय के लिए कहा गया है कि वह हिंसा करे। क्योंकि अपने राज्य के विस्तार के लिए उसे दूसरे राजा को मारना या कष्ट पहुंचाना ही होगा अन्यथा उसका राज्य-प्रसार नहीं हो सकता। इसके अलावा यदि कोई अन्य राष्ट्र उस पर आक्रमण कर देता है तो उस समय भी अपनी रक्षा करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक गृहस्थों की बात है, यह सर्वमान्य है कि खेती या गृहस्थी संबंधी अन्य कार्यों में हिंसा होती है किन्तु इसमें यह देखा जाता है कि कर्त्ता का उद्देश्य क्या है? खेती करना अथवा हिंसा करना?

किन्तु अन्य जगहों पर शान्तिपर्व में अहिंसा के सिद्धान्त की पूर्णतः पुष्टि हुई है जो व्यास के द्वारा शुकदेव को दिए गए उपदेशों में पाई जाती है :

> "जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में अपने को और अपने में सम्पूर्ण प्राणियों को स्थित देखता है, उस समय वह ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है ॥२१॥
>
> अपने शरीर के भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरों के शरीर में भी है; जिस पुरुष को निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है वह अमृतत्व को प्राप्त होने में समर्थ होता है ॥२२॥

---

१. नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥१४॥
नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥१५॥
न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥२०॥
नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजन्श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥२१॥ शां० प०, अ० १५.

जो सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा होकर सब प्राणियों के हित में लगा हुआ है, जिसका अपना कोई अलग मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपद को प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञान-योगी के मार्ग की खोज करने में देवता भी मोहित हो जाते हैं ।।२३।।"[1]

इतना ही नहीं पिता-पुत्र संवाद में साफ-साफ कहा गया है—

"जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणों द्वारा किसी भी प्राणी की जीविका का अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धन के कष्ट में नहीं डालते ।"[2]

अहिंसा स्वतः एक पूर्ण धर्म है और हिंसा एक अधर्म ।[3] अहिंसा सबसे महान् धर्म है क्योंकि इससे सभी प्राणियों की रक्षा होती है ।[4] इसकी व्यापकता पर बल देते हुए व्यास कहते हैं[5] कि

१. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।२१।।
यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि ।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।२२।।
सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ।।२३।। शां० प०, अ० २३९.

२. यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ।।२७।।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बध्यते । शा० प०, अ० २७७.

३. अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः ।।२०।। अ० २७२.

४. न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ।।३०।। अ० २६२.

५. यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ।।१८।।
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते ।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसा न प्रपद्यते ।।१९।।
अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः ।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।।२०।।

अहिंसा धर्म और अर्थ दोनों ही (पुरुषार्थों) से ऊँची उठी है, सभी धर्म इसके अन्दर आ जाते हैं, जिस प्रकार हाथी के पदचिह्नों में अन्य प्राणियों के पद-चिह्न समा जाते हैं। अतः जो हिंसा नहीं करता, सबको समान दृष्टि से देखता है, सत्य बोलता है, धैर्य धारण करता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा सभी प्राणियों को शरण देता है वह उत्तम गति को प्राप्त करता है। यह (अहिंसा) सत्य, दान और इन्द्रियसंयम आदि तपों में से एक है[1] तथा सत्य (अंशतः), समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता, निरन्तर स्थिर रहनेवाली वृत्ति तथा अहिंसा आदि सत्य (पूर्णतः) के विभिन्न तेरह रूपों में से एक है।[2] यानी अहिंसा सत्य का एक अंश है। अहिंसा की गणना क्षमा, धीरता, समता आदि दमों में भी होती है।[3] ऐसे साधारणतौर से यह उन नैतिक आचरणों में से एक है जो आदमी को जीवन में सुख प्रदान करते हैं[4] तथा सन्मार्ग पर ले चलते हैं।

जहाँ तक मांस-भक्षण का प्रश्न है, शान्तिपर्व (महाभारत) उस हालत में किसी को भी मांस खाने की अनुमति देता है, जब प्राण संकट में हो यानी प्राण की रक्षा के लिए। इस संबंध में विश्वामित्र तथा चाण्डाल की कहानी प्रस्तुत करते हुए दिखाया गया है

---

१. अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम् ॥८॥ अ० १६१.

२. सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥८॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥९॥ अ० १६२.

३. क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१५॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥१६॥ अ० १६०.

४. दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥२०॥ अ० २६०.

कि बहुत बड़ा दुर्भिक्ष आ आने के कारण एक बार विश्वामित्र एक चाण्डाल के घर से मरे हुए कुत्ते की टाँग लेकर उसका मांस पका कर खाना चाहते हैं और जब चाण्डाल उन्हें मना करता है तो वे कहते हैं कि आदमी के लिए यह जरूरी है कि सर्वप्रथम वह अपने प्राण की रक्षा करे, भले ही रक्षा करने के साधन जो भी हों। क्योंकि जीवित रहकर ही किसी धर्म का पालन किया जा सकता है।[1] इसी प्रकार समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए राजाओं तथा क्षत्रियों को युद्ध करने यानी हिंसा करने की स्वतंत्रता दी गई है।

किन्तु किसी भी हालत में धर्म के नाम पर यज्ञ में पशुबलि के लिए शान्तिपर्व में विधान नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में राजा विचक्षणु तथा नारद के विचार एवं ऋषियों और देवताओं के बीच होने वाला तर्क-वितर्क बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। राजा विचक्षणु ने किसी यज्ञशाला में आर्तनाद करते हुए बहुत से बैलों एवं गायों को देखकर निम्नलिखित शब्दों में हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रबल समर्थन किया है—[2]

---

१. येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साधमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥६३॥ अ० १४१.
सम्पूर्ण अध्याय भी देखें।

२. अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥४॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥५॥
तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥
यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥८॥
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥९॥ अ० २६५.
सम्पूर्ण अध्याय भी देखें।

"जो धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्मा के विषय में संदेह है, एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों ने ही हिंसा का समर्थन किया है। धर्मात्मा मनु ने सम्पूर्ण कर्मों में अहिंसा का प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्यवेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं।.........सम्पूर्ण भूतों के लिये जिन धर्मों का विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गई है। यदि कहें कि मनुष्य यूप-निर्माण के लिए जो वृक्ष काटते हैं और यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है अपितु धर्म है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता। सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी, इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है। ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञों में भगवान् विष्णु का ही आदर-भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदि से उनकी पूजा का विधान करते हैं।"

इसी तरह नारद ने भी एक ब्राह्मण की कहानी कही है, जो अहिंसापूर्ण यज्ञ करना चाहता था। उसने यज्ञ का प्रारम्भ तो अपने विचारानुसार ही किया किन्तु अन्त में कुछ लोगों की राय पाकर हिंसा करने को भी तैयार हो गया। उसके साथ में धर्म का निवास था जो मृग के रूप में उस ब्राह्मण के साथ रहता था; अज्ञानवश ब्राह्मण ने उस मृग को मारकर बलिकार्य सम्पादित करने का विचार किया और जैसे ही यह धारणा उसके दिमाग में बनी कि वह साधुत्व की उच्च कोटि से निम्न कोटि में आ गया। पशुबलि-संबन्धी राय उसे सही रूप में नहीं अपितु परीक्षा के लिए दी गई थी, और परीक्षा में वह असफल रहा।[1]

---

१. उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परं तपः ॥५॥
तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तथा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥१८॥ अ० २७२;
सम्पूर्ण अध्याय भी देखें।

"अज" शब्द, जिसका प्रयोग यज्ञों के प्रसंग में होता है, का सही अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में एक बार ऋषियों एवं देवताओं के बीच मतभेद हुआ। ऋषियों ने "अज" शब्द का अर्थ 'बीज' या 'अन्न' लगाया तथा देवताओं ने 'बकरा'। अतः ऋषियों ने यज्ञ में अन्न या बीज के प्रयोग की विधि बताई और देवताओं ने बकरे की बलि का विधान किया। संयोगवश उसी समय राजा वसु या उपरिचर वहाँ पहुँच गए। जिन्हें दोनों ही पक्षों ने सही निर्णय देने को आग्रह किया। किन्तु उपरिचर ने देवताओं का पक्षपात करते हुए निर्णय दिया कि "अज" शब्द का अर्थ होता है छाग या बकरा। यह सुनते ही ऋषिगण कुपित हो गए और देव-पक्ष की बात कहने वाले वसु को यों शाप दिया—

> "राजन्! तुमने यह जानकर भी कि "अज" का अर्थ अन्न है, देवताओं का पक्ष लिया है, इसलिए स्वर्ग से नीचे गिर जाओ। आज से तुम्हारी आकाश में विचरने की शक्ति नष्ट हो गई। हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेदकर पाताल में प्रवेश करोगे।" ऋषियों के इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर आकाश से नीचे आ गए और तत्काल पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर गए।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि "अज" शब्द का अर्थ बकरा न होकर बीज अथवा अन्न ही होता है। अतः यज्ञ में बकरे या अन्य किसी पशु की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अनुशासन पर्व में अहिंसा को नैतिक या धार्मिक दृष्टि से बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। अतः कहा गया है[2] कि अहिंसा परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है और अन्य धर्मों की उद्गम-

---

१. सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात् तस्माद् दिवः पत ॥१५॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्वा प्रवेक्ष्यसि ॥१६॥
ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा।
अधो वै सम्बभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप ॥१७॥ अ० ३३७;
सम्पूर्ण अध्याय भी देखें।

२. अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥

सकती है। वह परम संयम है, परम दान, परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र तथा परम सुख है। इतना ही नहीं, यदि सभी यज्ञों में दान किया जाय, सभी तीर्थों में स्नान किया जाय, सब प्रकार के स्नान-दान के फल प्राप्त हों तो भी अहिंसा-धर्म से प्राप्त फल की तुलना में कम ही रहेंगे।

अहिंसा सभी धर्मशास्त्रों में परम पद पर सुशोभित होती है। देवताओं और अतिथियों की सेवा, सतत धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, गुरु और आचार्य की सेवा तथा तीर्थयात्रा ये सब अहिंसाधर्म की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं।[1]

अतः जो अहिंसा के पथ पर चलता है उसकी तपस्या अक्षय होती है, वह हमेशा वही फल प्राप्त करता है जो तप करने से प्राप्त होता है और वह सभी प्राणियों के माता-पिता की तरह है। लेकिन क्या यहीं अहिंसा की मर्यादा सीमित हो जाती है? कदापि नहीं। इससे प्राप्त होनेवाले सुयश का वर्णन तो सौ वर्षों में भी समाप्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो स्वाद के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है वह बाघ, गिद्ध, सियार और राक्षसों के समान है। अतः जैसे अपने शरीर का मांस काटने पर स्वयं को

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ अनुशासनपर्व (महाभारत),
अ० ११५, श्लोक २३; अ० ११६, श्लोक २८–३०.

१. अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ अनु० प०, अ० १४५.

कष्ट होता है उसी प्रकार दूसरे का मांस काटने पर उसे भी पीड़ा होती है, ऐसा विज्ञ पुरुषों को समझना चाहिए। इस भूमण्डल पर आत्मा से अधिक प्रिय कोई भी चीज नहीं है। इसलिए सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिए और सबको अपनी ही आत्मा समझनी चाहिए।[1]

महाभारत में अहिंसा के सिद्धान्त का जितना विकास हुआ है उतना वैदिक परम्परा में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। यहां तक कि शान्तिपर्व में ऐसा आदेश दिया गया है कि जिस स्थान पर वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रिय-संयम एवं अहिंसा-व्रतों का पालन हो वहीं व्यक्ति को रहना चाहिए।[2] इसके साथ होनेवाली सभी शंकाओं एवं गलतियों को दूर करके यह प्रयास किया गया है कि अहिंसा का सिद्धान्त सर्वव्यापी एवं सर्वमान्य हो; यद्यपि क्षत्रियों को या प्राण संकट में पड़े हुए व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा को क्षम्य घोषित किया गया है। कुछ बातें विरोधाभास-सी अवश्य लगती हैं, जैसे राजा विचक्षणु का यह कहना कि मनु ने यज्ञ में पशुबलि का विधान नहीं किया है, क्योंकि मनुस्मृति में यज्ञ के लिए पशुहिंसा की स्वतंत्रता दी गई है।

गीता :

श्रीमद्भगवद्गीता यद्यपि महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है, परन्तु यह समूचे महाभारत का सार है और इसका अपना एक

---

१. अहिंसः सर्वभूतानां यथा माता तथा पिता ॥
एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुंगव ।
नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥
संछेदनं स्वमांसं यथा संजनयेद् रुजम् ।
तथैव परमांसेऽपि वेदितव्यं विजानता ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासं लभते यत्रयत्रोपजायते ॥ अनु० प०, अ० १४५.

२. यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥८८॥
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत् ॥८९॥
शा० प०, अ० ३४०.

स्वतंत्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें, इसके पूर्व के सभी आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है। इसकी भाषा सरल तथा सुबोध है। इसमें अर्जुन के द्वारा उठाए गये अनेकों धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक प्रश्नों के उत्तर श्री कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इसमें मोक्ष के तीन मार्ग बताए गए हैं—ज्ञान, भक्ति, एवं कर्म जिनका पूर्ण विवेचन क्रमशः शंकर, रामानुज तथा बालगंगाधर तिलक के द्वारा हुआ है। ज्ञान की प्रधानता दिखाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—

"ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले होते हैं। जिनका मन समत्वभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया। क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित है।"[1]

अर्थात् ज्ञानीजन अहिंसा के पथ पर चलते हैं। इसी तरह कर्म का विवेचन करते हुए कहा है :

"कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र में भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निःसन्देह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।"[2]

लेकिन इससे पहले उन्होंने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए यह भी कह दिया है कि कर्म करने में कर्त्ता का उद्देश्य क्या होना चाहिए—

"तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। (और तू) कर्मों के फल की वासनावाला (भी) मत हो

---

१. विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
गीता, अ० ५.

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥ गीता, अ० ३.

(तथा) तेरी कर्म न करने में (भी) प्रीति न होवे। हे धनंजय! आसक्ति को त्याग कर (तथा) सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। (यह) समत्वभाव ही योग नाम से कहा जाता है।"[1]

यदि कार्य के फल के प्रति कर्त्ता को मोह या राग न होगा तो उसके मन में किसी के प्रति द्वेष भी न होगा और द्वेष के अभाव में न क्रोध हो सकता है और न हिंसा ही। इसके अलावा श्री कृष्ण अपने को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, आदि पुरुष बताते हुए कहते हैं—

"हे अर्जुन! ऐसा समझो कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों (परा एवं अपरा) से ही उत्पत्ति वाले हैं और मैं संपूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ—पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं वह मैं हूँ और तपस्वियों में तप हूं। हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण मेरे को ही जान—मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ तथा संपूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।"[2]

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थ: कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥ गीता, अ० २.

२. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा ॥६॥
पुण्योगन्ध: पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥१०॥ अ० ७.
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥ अ० १०;
(अ० १०, श्लोक १४ भी देखें।

वे आगे अर्जुन को युद्ध करने को प्रेरित करते हुए कहते हैं :

"मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित हुए योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे—वे सब शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। तू तो केवल निमित्तमात्र ही होगा। द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार और भय मत कर·········"[1]

इतना ही नहीं, अपने कर्तापन को वे निम्नलिखित शब्दों में दढ़ करते हैं :

"जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में अथवा संपूर्ण कर्मों में लिप्त नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है।"[2]

ऊपर कथित सभी विचार एक भक्त के हृदय में आ सकते हैं। क्योंकि वह अपने को पूर्णरूपेण भगवान् के प्रति समर्पित कर देता है, अतः वह समझता है कि जो कुछ भी उसके जीवन में या संसार मे होता है, भले ही वह बुरा हो या भला, उसका कर्ता परमात्मा होता है। अतः हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही यहाँ नही उठता। क्योंकि

---

१. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न······प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥
गीता, अ० ११.

२. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥ गीता, अ० १८.

व्यक्ति तो एक निमित्तमात्र ही होता है, वास्तविक कर्ता तो परमेश्वर होता है जो हिंसा-अहिंसा-संबंधी दोष या गुण से परे है।

किन्तु सही रूप में ज्ञानी या कर्मयोगी या भक्त बनना कोई आसान बात नहीं। इन स्तरों पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि तप किया जाय। तप के विभिन्न प्रकार हैं: देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि।[1].........इसके विपरीत हिंसायुक्त कार्य की गणना तामसी तथा राजसी क्रियाओं में होती है।[2]

इनके अलावा श्री कृष्ण ने ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ तथा तपयज्ञ करने को प्रेरित किया है जिनमें वैदिक यज्ञों की भाँति पशुबलि और मांसाहार की आवश्यकता नहीं होती।[3] किन्तु श्री कृष्ण का यह कहना कि अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान (अच्छे कर्म), अपकीर्ति (बुरे कर्म) आदि प्राणियों के विभिन्न प्रकार के भाव मेरे से ही पैदा होते हैं,[4] हिंसा-अहिंसा आदि सभी सिद्धान्तों को भी उन्हीं के साथ कर देता है और मनुष्य इनसे बिल्कुल अलग हो जाता है।

इस प्रकार गीता में अहिंसा को एक प्रकार का तप या मुक्ति पाने के एक साधन के रूप में प्रस्तुत करते हुए भी ईश्वर के हाथ में अधिकृत कर दिया गया है। यदि सब-कुछ का कर्ता ईश्वर ही है तो मनुष्य क्यों व्यर्थ परेशान होगा और नाम-बदनाम के चक्र में आयेगा ?

---

१. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥ गीता, अ० १७.

२. अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥ अ० १८;
अ० १८, श्लोक २८ भी देखें।

३. गीता, अ० ४, श्लोक २३-३३.

४. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥ गीता, अ० १०.

पुराण :

पुराणों के समय के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं होती। पारजिटर के अनुसार ये प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) के ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी सिद्धान्तों के विश्वकोश हैं।[1] पर इनका रचना-काल कोई एक नहीं कहा जा सकता, कारण पुराणों की संख्या बहुत है, जिनमें से एक-दो तो अति प्राचीन माने जाते हैं यानी महाभारत आदि से भी पूर्व के और कुछ बाद के समझे जाते हैं। सामान्य तौर से वायु-पुराण को सभी पुराणों में प्राचीन माना जाता है, क्योंकि इसकी लेखन-पद्धति अन्य पुराणों की लेखन-पद्धति से भिन्न है। पुराणों में भी अहिंसा-सिद्धान्त को अच्छी तरह प्रकाशित किया गया है।

वायुपुराण—इसके अनुसार मन, वाणी एवं कर्म से सभी जीवों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु अनिच्छा से भी किसी पशु की हिंसा कर डालता है तो इस दोष या पाप से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप उसे चान्द्रायण आदि कठोर व्रतों को करना चाहिए।[2] यद्यपि, जैसा कि हम लोगों ने देखा है कि अन्य शास्त्रों ने उस हिंसा को क्षम्य माना है जिसमें हिंसक का उद्देश्य हिंसा करना न हो, किन्तु वायुपुराण तो उस व्यक्ति (खास तौर से भिक्षु, संन्यासी) को भी महादोषी ठहराता है जो जान-बूझकर नहीं, बल्कि अनजाने या भूल से ही हिंसा कर बैठता है।

---

1. Pargitar has rightly remarked—"Taken collectively, they (the Purāṇas) may be described as a popular encyclopaedia of ancient and mediæval Hinduism, religious, philosophical, historical, personal, social and political" Encyclopaedia of Religion and Ethics, article on "Purāṇa."

२. अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणामनसागिरा। अकामादपि हिंसेत यदि भिक्षुः पशून मृगान्। कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥१३॥
वायुपुराण, पूर्वार्ध, अ० १८.

विष्णुपुराण—सूत्रों में हम लोगों ने देखा है कि यज्ञों में गाय या अन्य पशुओं की बलि धर्मोचित है। विष्णुपुराण के मैत्रेयी-पराशर वार्तालाप में उन अन्नों या औषधियों के नाम बताये गए हैं जो यज्ञ के काम में आते हैं—धान, यव, उड़द, गवेधु, वेणु, छोटे धान्य, तिल, कांगनी, कुलथी, श्यामाक, नीवार, वनतिल, मर्कट (मक्का)। ये सभी यज्ञानुष्ठान की सामग्रियाँ हैं, किन्तु इनमें किसी भी प्रकार का मांस या मछली का नाम नहीं दिया गया है।[1] इतना ही नहीं, इस पुराण में हिंसा का एक पारिवारिक रूप भी प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है :

"अधर्म की स्त्री हिंसा थी। उससे अनृत नामक पुत्र और निकृति नामक कन्या उत्पन्न हुई। उन दोनों से भय और नरक नाम के पुत्र पैदा हुए। जिनकी पत्नियाँ माया और वेदना नाम की कन्याएँ बनीं। उनमें से माया ने समस्त प्राणियों का संहार-कर्त्ता मृत्यु नामक पुत्र उत्पन्न किया और मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा और क्रोध की उत्पत्ति हुई। ये सब अधर्मरूप हैं और दुःखोत्तर नाम से प्रसिद्ध हैं (क्योंकि इनके परिणामस्वरूप दुःख ही प्राप्त होता है)। इनकी न कोई स्त्री और न कोई सन्तान ही है। ये ऊर्ध्वरेता हैं। हे मुनिकुमार ! ये सब भगवान्

---

१. व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमाश्चाणवस्तिलाः।
प्रियंगवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सतीनकाः ॥२१॥
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः।
आढक्यश्चणकाश्चैव शणाः सप्तदश स्मृताः ॥२२॥
इत्येता ओषधीनां तु ग्राम्याणां जातयो मुने।
ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥२३॥
व्रीहयस्सयवा माषा गोधूमाश्चाणवस्तिला।
प्रियंगुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलत्थकाः ॥२४॥
श्यामाकास्त्वथ नीवारा: जर्तिला: सगवेधुकाः।
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तथा मर्कटका मुने ॥२५॥
ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्दश।
यज्ञनिष्पत्तये यज्ञस्तथासां हेतुरुत्तमः ॥२६॥

विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अ० ६.

विष्णु के बड़े भयंकर रूप हैं और ये ही संसार के नित्य प्रलय के कारण हैं।"[1]

चूँकि विष्णु सर्वव्यापक हैं, यज्ञ में इन्हीं का यजन होता है, इन्हीं का जप किया जाता है और हिंसा करने वाला इन्हीं की हिंसा भी करता है। अतः जो व्यक्ति परस्त्री, परधन एवं हिंसा से अपने को अलग रखता है उससे हमेशा ही विष्णु संतुष्ट रहते हैं। जो सभी प्राणियों को पुत्रवत् देखता है उससे शीघ्र ही श्री हरि यानी विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं। अतः ब्राह्मण को चाहिए कि किसी का अहित न करे, साथ ही सबके हित की कामना करे क्योंकि सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना ब्राह्मण का धर्म है।[2]

---

१. हिंसा भार्या त्वधर्मस्य ततो जज्ञे तथानृतम् ।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च ॥३२॥
माया च वेदना चैव मिथुनं त्विदमेतयोः ।
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥३३॥
वेदना स्वसुतं चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात् ।
मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधाश्च जज्ञिरे ॥३४॥
दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः ।
नैषां पुत्रोऽस्ति वै भार्या ते सर्वे ह्यूर्ध्वरेतसः ॥३५॥
रौद्राण्येतानि रूपाणि विष्णोर्मुनिवरात्मज ।
नित्यप्रलयहेतुत्वं जगतोऽस्य प्रयान्ति वै ॥३६॥

विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अ० ७.

२. यजन्यज्ञान्यजत्येनं जपत्येनं जपन्नृप ।
निघ्नन्नन्यान्हिनस्त्येनं सर्वभूतो यतो हरिः ॥१०॥
परदारपरद्रव्यपरहिंसासु यो रतिम् ।
न करोति पुमान्भूप तोष्यते तेन केशवः ॥१४॥
यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा ।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम् ॥१७॥
सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजः ।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम् ॥२४॥

विष्णुपुराण, अंश-३, अ० ८.

इस प्रकार विष्णुपुराण ने हिंसा को सभी पातकों की जड़ तथा अहिंसा को विष्णु को संतुष्ट करने यानी मुक्ति पाने का बड़ा साधन कहा है तथा यज्ञों में अन्न के प्रयोग को धर्मोचित बताया है। लेकिन इसका यह तर्क कि विष्णु सर्वव्यापक हैं और हिंसा करने वाला उन्हीं की हिंसा करता है, अतः हिंसा गलत है, उतना ठीक नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि यदि मारे जाने वाले जीव में विष्णु का निवास है तो हिंसक में क्या विष्णु निवास नहीं करते ? इसलिए जहाँ तक विष्णु की व्यापकता की बात है, मारनेवाला और मरनेवाला दोनों ही विष्णु के रूप हैं। अतएव हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अग्निपुराण—इसमें अहिंसा एवं अन्य नैतिक व्रतों की फलदायिनी व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये मुक्ति एवं भुक्ति दोनों के ही देनेवाले हैं। शान्तिपर्व की तरह इसमें भी अहिंसा की तुलना हाथी के पदचिह्न से की गई है तथा कहा गया है कि शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर-पूजन, प्राणियों को कष्ट न देना आदि अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं। इसके विपरीत उद्वेगजनन, सताप देनेवाला रुदन, पिशुनता, हित का निषेध, दिल को दुःखित करनेवाली बात, सुख का अभाव, संरोध और वध ये सभी हिंसा के रूप हैं।[1]

---

१. चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः पर।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥२॥
यमाः पञ्च स्मृता विप्र नियमाभुक्तिमुक्तिदाः।
शौचं संतोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने ॥३॥
भूतपीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः।
यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम् ॥४॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते।
उद्वेगजननं हिंसा सन्तापकरणं तथा ॥५॥
रुक्कृतिः शोणितकृतिः पैशुन्यकरणं तथा।
हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्घाटनमेव च ॥६॥
सुखापह्नुतिः संरोधो वधो दशविधा च सा।
यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम् ॥७॥ अग्निपुराण, अ० ३७२.

मत्स्यपुराण—अहिंसा मुनि-व्रतों में से एक है।[1] जितना पुण्य चार वेदों के अध्ययन से या सत्य बोलने से अर्जित होता है उससे कहीं अधिक पुण्य की प्राप्ति अहिंसा व्रत के पालन से होती है।[2] ऐसा कहकर अहिंसा के स्थान को बहुत ही ऊंचा उठाने का प्रयास किया गया है। आगे चलकर यज्ञ में किए गए पशु-वध का निषेध करते हुए कहा गया है कि यज्ञ में पशु-हिंसा करने से धर्म के नाम पर बहुत बड़ा अधर्म होता है। मुनिजन कभी भी हिंसा या हिंसापरक यज्ञ का अनुमोदन नहीं करते, क्योंकि इन लोगों के अनुसार शरीर को अनेक वर्षों तक तपाकर मुक्ति पाना तथा कन्द-मूल खाकर क्षुधातृप्ति करना श्रेयस्कर है; वे मुनिजन कभी भी हिंसा की प्रशंसा नहीं करते।[3]

ब्रह्मपुराण—शिव-पार्वती वार्तालाप में पार्वती के पूछने पर कि कौन-कौन से लोग मुक्ति पाने योग्य होते हैं, शिव उत्तरस्वरूप कहते हैं—प्रलय और उत्पत्ति को जानने वाले, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ एवं वीतराग पुरुष कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; उसी प्रकार मन,

---

१. मुनिव्रतमहिंसादिपरिगृह्य त्वयाकृतम् ।
धर्मार्थशास्त्ररहितं शत्रुं प्रति विभावसो ॥१५॥ म० पु०, अ० ६०.

२. चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम् ॥४८॥ म० पु०, अ० १०५.

३. अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव ।
नवः पशुविधिस्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम ॥१२॥
अधर्मो धर्म्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया ।
नायंधर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म्म उच्यते ।
आगमेन भवान् धर्मं प्रकरोतु यदीच्छति ॥१३॥
हिंसास्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः ।
तथैते भाविता मन्त्रा हिंसालिङ्गमहर्षिभिः ॥२१॥
तस्मान्नहिंसायज्ञे स्याद्यदुक्तमृषिभिः पुरा ।
ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभिर्दिवंगताः ॥२९॥
तस्मान्न हिंसायज्ञञ्च प्रशंसन्ति महर्षयः ।
उञ्छो मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ॥३०॥ म० पु०, अ० १४२.

वचन और कर्म से अहिंसा व्रत को पालने वाले भी मुक्त हो जाते हैं। जो जीव हिंसा से रहित, शीलवान तथा दयालु हैं और जिनकी दृष्टि शत्रु और मित्र के लिए बराबर है, वे कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाते हैं। सब प्राणियों पर दया दिखाने वाले, सब में विश्वास रखनेवाले, सब तरह की हिंसा से विरक्त रहनेवाले, एकान्त में भी परायी स्त्री की कामना न करनेवाले और मन से भी किसी जीव की हिंसा न करनेवाले लोग स्वर्गगामी होते हैं।[1]

---

१. प्रभवोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः।
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ॥६॥
कर्मणा मनसा वाचा येन हिंसन्ति किंचन।
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्नन्ति कर्मभिः ॥७॥
प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः।
तुल्यद्वेष्यप्रियादान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ॥८॥
सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंस्रसमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥९॥
परस्वनिर्ममा नित्यं परदारा विवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१०॥
अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
मनसाऽपि न गृह्णन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३०॥
तथैव परदारान्ये कामवृत्ता रहोगताः।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३१॥
एवं भूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते।
विपरीतस्तु धर्मात्मा रूपवेणाभिजायते ॥४९॥
निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः।
यातनां निरये रौद्रां सकृच्छ्रां लभते नरः ॥५०॥
शुभेन कर्मणा देवि प्राणिघातविवर्जितः।
निक्षिप्तदण्डो निर्दण्डो न हिंसति कदाचन ॥५३॥
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥५४॥
ईदृशः पुरुषो नित्यं देवि देवत्वमश्नुते।
उपपन्नान्सुखान्भोगानुपाश्नाति मुदायुतः ॥५५॥ म० पु०, अ० २२४.

नारदपुराण—इस पुराण में महर्षि भृगु के द्वारा राजा भगीरथ को दिया गया उपदेश अहिंसा-सम्बन्धी विचार को काफी दृढ़ बनाता है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार धर्म का विरोध न हो उसी प्रकार धर्मपरायण व्यक्तियों के कर्म होने चाहिए। सज्जन पुरुषों के अनुसार वे ही सत्य वचन हैं जिनसे किसी का विरोध न हो, जिनसे किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। हे राजन्! यह अहिंसा का रूप है; इसके द्वारा सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[1] इसके अलावा अन्यत्र यह भी कहा गया है कि मन, वचन और कर्म से बिना किसी को कष्ट पहुँचाये विष्णु की पूजा करनी चाहिए। योगी किसी भी मार्ग पर चले, यानी कर्म या ज्ञान योग के पथ पर या और किसी मार्ग पर लेकिन सभी हालत में उसे अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, डाह का त्याग और दया का पालन करना आदि इसके लिए परमावश्यक हैं। क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध और अनसूया ये सब यम के संक्षिप्त रूप हैं और अहिंसा जिसका अर्थ होता है—किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, योग में सिद्धि दिलाने वाली हैं।[2]

---

1. धर्माविरोधतो वाच्यं तद्धि धर्मपरायणैः ।
देशकालादिविज्ञाय स्वधर्मस्या विरोधतः ॥२४॥
यद्वचः प्रोच्यते सद्भिस्तत्सत्यमभिधीयते ।
सर्वेषामेव जंतूनामक्लेशजननं हि तद् ॥२५॥
अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी ।
कर्मकार्यसहायत्वमकार्यं परिपन्थता ॥२६॥ नारदपुराण, अ० १६.

2. कर्मणा मनसा वाचा परपीडा पराङ्मुखः ।
तस्मात्सर्वगतं विष्णुं पूजयेद् भक्तिसंयुतः ॥३४॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोस्समाः ॥३५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अक्रोधश्चानसूया च प्रोक्ताः संक्षेपतो यमाः ॥७५॥
सर्वेषामेव भूतानामक्लेशजननं हि यत् ।
अहिंसा कथिता सद्भिर्योगसिद्धिप्रदायिनी ॥७६॥ नारदपुराण, अ० ३३.

शिवपुराण—शिवपुराण ने सामान्य तौर से हिंसा की गणना पापकर्मों में की है, यानी अहिंसा पुण्यकर्म है। इसके अनुसार अभक्ष्य का भक्षण करना हिंसा, दूसरों का धन हरण करना, माता-पिता को त्याग देना, तथा शिव-भक्तों के द्वारा मांस भक्षण करना, झूठ बोलना आदि पापकर्म हैं।[1] जो व्यक्ति पाप-कर्मों में रत है यानी क्रोध करता है, हिंसा करता है, तथा अपनी आजीविका के लिए दान-यज्ञ करता है वह नरकगामी होता है अर्थात् विभिन्न प्रकार की यातनाएँ पाता है।[2]

बृहद्धर्मपुराण एवं कूर्म्मपुराण—बृहद्धर्मपुराण ने अग्निपुराण की तरह ही अहिंसा का बहुत विस्तृत रूप बताया है और कहा है कि श्रद्धा, अतिथि-सेवा, सबसे आत्मीयता, आत्मशुद्धि आदि सभी अहिंसा की ही विभिन्न विधियां हैं।[3]

कूर्म्मपुराण ने (जैसा कि हम लोगों ने अन्य जगहों पर देखा है) अहिंसाव्रत को सिर्फ ज्ञानी या ब्राह्मणों के लिए ही आवश्यक नहीं कहा है अपितु अन्य आश्रमों या वर्णों के लिए भी इसे आवश्यक बताकर इसकी व्यापकता को और बढ़ा दिया है। इसने कहा है कि क्षमा, दम, दया, दान, अलोभ, आर्जव, अनसूया, सत्य, सन्तोष, श्रद्धा आदि ब्राह्मणों की विशेषताएँ हैं। किन्तु अहिंसा, प्रिय वचन,

---

१. अभक्ष्यभक्षणं हिंसा मिथ्याकार्यं निवेशनम् ।
परस्वानामुपादान चतुर्धा कर्मकार्यकम् ॥५॥
पितृमातृपरित्याग: कूटसाक्ष्यं द्विजानृतम् ।
आमिषं शिवभक्तानामभक्ष्यस्य च भक्षणम् ॥३३॥ शिवपुराण, अ० ५.

२ ये पापनिरता: क्रूरा येऽपि हिंसाप्रिया नरा: ।
वृत्त्यर्थं येऽपि कुर्वंति दानयज्ञादिका: क्रिया: ॥२१॥ शिवपुराण, अ० ६

३. अहिंसात्वासनजय: परपीडा विवर्ज्जनम् ।
श्रद्धाचातिथिसेवा च शान्तरूपप्रदर्शनम् ॥
आत्मीयता च सर्वत्र आत्मबुद्धि: परमात्मसु ।
इति नानाविधा: प्रोक्ता अहिंसेति महाकुले ॥११-१२॥
बृहद्धर्मपुराण, अ० २.

अपिशुनता आदि चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिये आवश्यक है।[1]

भागवतपुराण—इसमें सनत्कुमार ने अहिंसा को गुरु और शास्त्रों के वचनों में विश्वास करना, भागवत धर्मों का आचरण, तत्त्वजिज्ञासा तथा ज्ञानयोग की निष्ठा आदि ब्रह्मप्राप्ति के अठारह साधनों में से एक कहा है।[2] आगे चलकर नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि धर्म के तीस लक्षण हैं जिनमें अहिंसा भी प्रमुख स्थान रखती है।[3]

---

१. क्षमा दमो दया दानमलोभस्त्याग एव च ।
आर्जवं चानसूया च तीर्थानुसरणं तथा ।।६५।।
सत्यं सन्तोषमास्तिक्यं श्रद्धा चेन्द्रियनिग्रहः ।
देवताभ्यर्चनं पूजा ब्राह्मणानां विशेषतः ।।६६।।
अहिंसा प्रियवादित्वमपैशुन्यमकल्कता ।
सामासिकमिमं धर्म्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।।६७।। कूर्म्मपुराण, अ० २.

२. सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ।।२२।।
अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ।।२३।।
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ।।२४।।
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूरगुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसंगः सदसत्यनात्मनि स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ।।२५।।
भागवतपुराण, प्रथम खण्ड, स्कन्ध ४, अ० २२.

३. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।।८।।
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ।।९।।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ।।१२।।
भागवतपुराण, प्रथम खण्ड, स्कन्ध ७, अ० ११.

इसके (भा० पु०) द्वितीय खण्ड में शुकदेव जी ने धर्म और अधर्म के चरण या रूप का वर्णन करते हुए यह भी बताया है कि किस प्रकार समय-परिवर्तन के अनुसार धर्म और अधर्म के बल घटते-बढ़ते रहते हैं। इनके अनुसार सतयुग में धर्म के चार चरण थे—सत्य, दया, तप और दान। इसी तरह अधर्म के भी चार चरण थे—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह। त्रेतायुग में धर्म का चतुर्थांश समाप्त हो गया फिर भी अत्यन्त हिंसा और लम्पटता न थी। द्वापर में हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष अधर्म के चार चरणों की प्रबलता हो गई जिनकी वजह से धर्म के चरण—तपस्या, सत्य, दया और दान अर्धक्षीण हो गए और कलियुग में अधर्म के चारों चरण अपने बल की पराकाष्ठा पर पहुंच गए हैं।[1]

इस प्रकार पुराणों को देखने से पता लगता है कि इनमें भी अहिंसा का सिद्धान्त पूर्ण विकसित एवं समृद्ध है तथा इसे संन्यासी और ब्राह्मणो तक ही सीमित न रखकर सभी वर्णों के लिए आवश्यक कहा गया है, यह मुनिव्रत ही सिर्फ न रहकर साधारण

---

१. कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥१९॥
त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः ।
अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥२०॥
तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः ।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥२१॥
तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे ।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥
यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः ।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः ॥२३॥
कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः ।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति ॥२४॥

भागवतपुराण, द्वितीय खण्ड, स्कन्ध १२, अ० ३.

धर्म का प्रमुख अंग बन गया है, जैसा कि हमलोगों ने महाभारत में देखा है। कहीं-कहीं यह अपने में सभी धर्मों को समाविष्ट करती हुई दीखती है और शुकदेव जी ने जो समयानुसार धर्म या अधर्म की शक्ति की वृद्धि या क्षय का जो प्रसंग उपस्थित किया है उससे विभिन्न युगों में हिंसा अथवा अहिंसा की गति-विधि का एक अन्दाज-सा लगता है।

ब्राह्मण दर्शन :

उपनिषदों में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों का सारस्वरूप 'तत्त्वमसि' मंत्र बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है, त्वं यानी जीव और तत् यानी ब्रह्म, एक है, अर्थात् दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। इस सिद्धान्त के विवेचन तथा स्पष्टीकरण के लिए औपनिषदिक काल के बाद विभिन्न दार्शनिकों ने प्रयास किए जिनके फलस्वरूप अन्य मतों के जन्म हुए, जैसे सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त जिन्हें षड्दर्शन कहा जाता है। राधाकृष्णन् ने कहा है—

> "भारत मे हम बौद्धकाल में दार्शनिक चिन्तन की एक महती लहर उमड़ती हुई पाते हैं ·········· ·········। बौद्ध तथा जैन धर्मों के विप्लव ने, वह विप्लव अपने आप में चाहे जैसा भी था, भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया··· ·········। वास्तविक तथा जिज्ञासा-भाव से निकला हुआ संशयवाद विश्वास को उसकी स्वाभाविक नींवों पर जमाने में सहायक होता है। नींव को अधिक गहराई में डालने की आवश्यकता का ही परिणाम महान् दार्शनिक हलचल के रूप में प्रकट हुआ, जिसने छः दर्शनों को जन्म दिया जिनमें काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेषण और शुष्क समीक्षा ने ले लिया।"[1]

इससे लगता है कि षड्दर्शनों का जन्म ई० पूर्व छठी शती में ही हुआ। इन दर्शनों में सिर्फ तात्त्विक विवेचन ही नहीं बल्कि ज्ञान-मीमांसा एवं नैतिक विचार-विमर्श को भी स्थान मिला है,

---

१. भारतीय दर्शन—राधाकृष्णन्, भाग २, हि० अनु०—नन्दकिशोर गोभिल, पृ० १५.

और इनकी नैतिक समस्याओं में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न भी एक रहा है।

योग—इसके अनुसार योग में आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। और अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—ये यम के ही रूप हैं।[1] ये महाव्रत हैं जो जाति, देश, काल, समय तथा परिस्थितियों में ही सीमित नहीं रहते। इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप आदि नियम हैं। किन्तु यम और नियम के अभ्यास के समय वितर्क या विरोधी बाते यानी कुविचार मन में आते हैं और ये कुविचार हिंसा या अन्य कुकर्म अथवा पाप करने को प्रेरित करते हैं। हिंसा की जाती है, कराई जाती है तथा करने को अनुमोदित होती है, अर्थात् कोई व्यक्ति स्वतः हिंसा करता है, दूसरे को आज्ञा देकर हिंसा करवाता है और हिंसामय कार्य देखकर चुप रह जाता है, उसका विरोध नही करता। ये लोभ, क्रोध और मोह के कारण होती है। इनके तीन स्तर होते हैं—मृदु, मध्य और तीव्र। इस प्रकार कृत, कारित एव अनुमोदित, तथा लोभ, क्रोध एव मोह के आधार पर होने के कारण हिंसा ९ प्रकार की होती है। चूंकि ये तीन स्तरों (मृदु, मध्य एव तीव्र) की होती हैं, इसलिए ९ × ३ = २७ प्रकार हुए। फिर मृदु, मध्य एव तीव्र के भी अलग-अलग तीन-तीन स्तर हो सकते हैं; जैसे—मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-तीव्र; मध्य-मृदु, मध्य-मध्य, मध्य-तीव्र और तीव्र-मृदु, तीव्र-मध्य, तीव्र-तीव्र। इन सबके आधार पर हिंसा ८१ प्रकार की होती है। इस तरह अहिंसा के प्रतिष्ठान से वैर का सर्वथा त्याग हो जाता है।

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ॥२९॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा. ॥३०॥
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥
शौचसंन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा: ॥३२॥
वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदित लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग: ॥३५॥ योगसूत्र, अ० २.

इस प्रकार योग सूत्र में हिंसा-अहिंसा के बहुत ही सूक्ष्म रूपों पर विचार किया गया है। ऐसे हिंसा के २७ प्रकार तो सामान्यतौर से समझ में आ जाते हैं किन्तु उसके बाद के बताए हुए प्रकार जिन्हें व्यास बढ़ाकर ८१ ही नहीं बल्कि असंख्य तक ले जाते हैं, वे सिर्फ विचारों की दौड़ान मात्र ही कहे जा सकते हैं।

सांख्य तथा मीमांसा—सांख्य उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानता है कि यज्ञों में की गई हिंसा भी दोषपूर्ण है। इसमें भी उतने ही दोष हैं जितने कि अन्य समयों या जगहों पर की गई हिंसाओं में होते हैं। मीमांसा उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो कहता है—"**वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति**" अर्थात् यज्ञों में की गई हिंसा, हिंसा नहीं होती। इस संबंध में 'सांख्य-तत्त्वकौमुदी' में एक बहुत ही रोचक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समस्या है दुःखत्रय–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक से छुटकारा पाने की। इसके समाधान के लिए तीन साधन हैं—लौकिक उपाय—जैसे अन्न से बुभुक्षा, जल से प्यास, औषधि से ज्वर, इन्द्रियनिग्रह से काम, दान से लोभ, दया से क्रोध आदि दूर होते हैं। शास्त्रीय उपाय-वेदों के अनुसार यज्ञ करना और शास्त्र-जिज्ञासा से अभिप्राय है प्रकृति तथा पुरुष का विवेकज्ञान।[1] इनमें लौकिक उपाय दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते और यही बात वेदोक्त यज्ञादि कर्मकाण्ड के साथ भी है। क्योंकि ये अशुद्धि (मल) तथा न्यूनाधिक विषमता से युक्त हैं। अतः प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान ही श्रेयस्कर है, मुक्तिदायक है।[2]

वैदिक यज्ञ धर्म या पुण्य उत्पन्न करने के साथ ही साथ अधर्म या पाप भी पैदा कर देते हैं, क्योंकि ये हिंसायुक्त होते हैं और यही इनकी अविशुद्धि का कारण है। सर्वप्रथम कारिका २ में आए हुए 'आनुश्रविकः' शब्द के अर्थ की समस्या उठती है। 'आनुश्रविक'

१. दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावाद् ॥१॥
सांख्यकारिका १.

२. दृष्टवदानुश्रविकः, स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ॥
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद् ॥२॥ सां० का० २.

तो पूरी श्रुति को कहा जाता है क्योंकि यह सुनी गई है। लेकिन ऐसा समझने से तो प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान जो वेदों पर ही आधारित है, दोषपूर्ण हो जायगा। अतः यद्यपि 'आनुश्रविक' का सामान्य अर्थ पूर्ण श्रुति से है, यहाँ पर सिर्फ कर्मकाण्ड यानी वैदिक यज्ञादि ही समझना चाहिए।

वैदिक यज्ञों के विषय में भाष्यकार ने कहा है—'स्वल्पः संकरः, सपरिहारः' यानी यज्ञ में जो संकर दोष है, वह स्वल्प है, कम मात्रा में है; जिसका परिहार हो सकता है, यदि परिहार की आवश्यकता होती है। इसका मतलब है कि अविशुद्धि भी अवश्य है। इसके अलावा वैदिक विचारधारा एक ओर तो प्रस्तुत करती है—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि'—किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए, और दूसरी ओर कहती है—'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'—अग्नि और सोम के लिए पशु ले आओ। ये दोनों बातें विरोधात्मक हैं।

किन्तु मीमांसकों का कथन है कि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' सामान्य नियम है और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' विशेष नियम है और इन दोनों मे कोई विरोध नही है। क्योकि जहाँ पर विशेष नियम लागू होता है वहाँ पर सामान्य नियम लागू नही होता। यदि विरोध होता तो विशेष नियम सामान्य को प्रभावित करता।

किन्तु ऐसा कहना मीमांसकों के पक्ष में सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ तक सिर्फ अविरोध की बात है तो इन दोनों नियमों के भी दो-दो अर्थ हो सकते हैं और दोनों में कोई विरोध नहीं हो सकता, जैसे—

'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' सिर्फ यही व्यक्त करता है कि हिंसा अनर्थकारिणी है, यह ऐसा नहीं कहता कि हिंसा यज्ञ के लिए अनुपयोगी है। ठीक इसी तरह 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इतना बताता है कि हिंसा यज्ञ के लिए उपयोगी है, न कि यह अनर्थकारिणी है। ऐसा होने पर दोनों ही वाक्यों के दो-दो अर्थ होंगे—

न हिंस्यात् सर्वभूतानि—१. हिंसा अनर्थकारिणी है।
२. हिंसा यज्ञ के लिए अनुपयोगी है।

अग्निषोमीयं पशुमालभेत—१. हिंसा यज्ञ में उपयोगी है।
२. हिंसा अनर्थकारिणी है।

किन्तु दो-दो अर्थ होने से वाक्यों में 'वाक्यभेद दोष' आ जाएगा, जिसे मीमांसक भी मानते हैं। यदि वाक्यभेद दोष को न भी माना जाए तो भी इन दोनों अर्थों में कोई भेद नहीं है—हिंसा यज्ञ के लिए आवश्यक है और हिंसा पापजनक है। और ऐसा सिद्ध हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि आवश्यकरूप से हिंसा आदि का होना यज्ञादि कर्मकाण्डों में अविशुद्धि का कारण है।[1]

वेदान्त—सिद्धान्ततः (अद्वैत) वेदान्त यह मानता है कि ब्रह्म एक है, दूसरा नहीं, और उसी ब्रह्म के अनेक रूप या अंश हैं तथा ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या ……… अर्थात् ब्रह्म ही केवल सत्य है, और जो भी है असत्य है। ऐसी हालत में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि हिंसा करने वाला तथा हिंसित होने वाला दोनों ही ब्रह्म ही के अंश हैं। साथ ही यदि सब कुछ सिवाय एक ब्रह्म के असत्य ही है तो हिंसा या अहिंसा जो भी इस जगत में होता हो सब कुछ असत्य ही होगा। किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में अद्वैत वेदान्ती लोग भी हिंसा-अहिंसा को मानते हैं। अतः ब्रह्मसूत्र (३. १. २५) की व्याख्या करते समय शंकराचार्य ने हिंसा एवं यज्ञ के सम्बन्ध का विवेचन किया है। सूत्र है—

'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥' अ० ३, पाद १.

अर्थात् वैदिक यज्ञ—अग्निष्टोम आदि अशुद्ध हैं, क्योंकि इनमें पशु-हिंसा होती है। अतः इसके करने वाले दुःखी जीवन प्राप्त करते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसको भाष्यकार शंकर यों कहते हैं—

> 'पशु-हिंसा आदि के योग से यज्ञकर्म अशुद्ध है, उसका फल अनिष्ट हो सकता है, इसलिए अनुशयी जीवों का व्रीहि आदि रूप से जन्म यदि मुख्यार्थ हो सकता है तो उसमें गौणी कल्पना अर्थ (प्रयोजन) रहित होगी, ऐसा जो कहा गया है, उसका

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० १-२;
सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा—डा० आद्या प्रसाद मिश्र।

परिहार किया जाता है—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म-अधर्म के विज्ञान का हेतु शास्त्र है, यह धर्म है और यह अधर्म है, इसके विज्ञान मे शास्त्र ही कारण है, क्योंकि वे दोनों—धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय हैं और उनका देश, काल और निमित्त अनियत है। जिस देश, काल और निमित्त में जिस धर्म का अनुष्ठान होता है वही धर्म अन्य देश, अन्य काल और अन्य निमित्त में अधर्म हो जाता है। इसलिए शास्त्र के बिना धर्म और अधर्म का ज्ञान किसी को भी नहीं होता। हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप है, ऐसा ज्योतिष्टोम धर्मरूप से शास्त्र द्वारा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? परन्तु 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' (सब भूतों को—किसी भी जीव की हिंसा न करो) यह शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा अधर्म है, ऐसा बतलाता है। सत्य है, वह तो उत्सर्ग है। और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि और सोम के लिए पशु का वध करे) यह अपवाद है। उत्सर्ग और अपवाद का विषय व्यवस्थित है। इसलिए वैदिक कर्म विशुद्ध है, क्योंकि शिष्ट उसका अनुष्ठान करते हैं और वह निन्दा करने के योग्य नहीं है। इसलिए स्थावर रूप से जन्म जो प्रतिकूल है, वह उसका फल नही है।"[1]

अर्थात् शकर भी यह मानते हैं कि वेदों द्वारा निर्देशित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा अधर्ममूलक या पापजनक नहीं है।

वैष्णव धर्म—वैष्णव धर्म के आधार ग्रन्थ गीता, विष्णुपुराण, भागवतपुराण आदि हैं, जिनमें आये हुए विचार हमने पहले ही प्रस्तुत किये हैं। इसके प्रधान आचार्यों में रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी, माधवाचार्य द्वैतवादी, विष्णुस्वामी और वल्लभ शुद्धाद्वैतवादी, निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी तथा चैतन्य महाप्रभु अचिन्त्यभेदाभेदवादी आदि के नाम आते हैं।

रामानुज (१०३७-११३७ ई०) ने 'श्रीभाष्य' में ब्रह्मसूत्र (३. १. २५) की व्याख्या अपने ढंग से की है। इनके सामने भी

---

१. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, अनु०—यतिवर भोलेबाबा, भाग २, पृ० १६९९-१७००.

'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' तथा 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' दो पक्ष हैं। ये कहते हैं कि ऐसा कहा जा सकता है कि यज्ञ में की गई हिंसा, स्वतंत्ररूप में की गई हिंसा से भिन्न है क्योंकि इनमें प्रथम तो धर्मोपदेशानुसार होती है और दूसरी किसी लोभ या मोह के कारण है। किन्तु बात ऐसी नहीं, क्योंकि यज्ञ में जो हिंसा होती है वह भी इस लोभ या फलप्राप्ति के कारण होती है कि आगे चलकर यज्ञकर्त्ता को स्वर्ग या स्वर्ग का आनन्द मिले। क्योंकि कहा है—

'स्वर्गकामो यजेत'=स्वर्गकामी यज्ञ करे। तै० सं० २.५.५.

अतः यज्ञ में की गई हिंसा और स्वतंत्ररूप से अन्यत्र की गई हिंसा में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी बात वहाँ भी पाई जाती है जहाँ कहा गया है—'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमित सुखम्' आश्वलायन धर्मसूत्र—२. १. २. २.

अपने धर्म के पालन में सभी वर्णों को परम सुख की प्राप्ति होती है, यानी धार्मिक क्रिया-कर्मों के पालन में सुख की अभिलाषा रहती ही है। इस लोभ के कारण धार्मिक कर्मों का पालन अशुद्ध है और हिंसा आदि पापकर्मों के कारण ही धान्य आदि स्थावर योनि में जीव जन्म पाता है। जैसा कि मनु ने कहा है—

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। मनुस्मृति—१२.६.

किन्तु रामानुज के अनुसार बात ऐसी नहीं है। यज्ञ में जो हिंसा होती है उसकी विशेषता कुछ और है। बलि देने के समय पशु को स्वर्ग मे भेजने की कामना करते हैं और उससे कहते हैं कि हम तुम्हें मार नहीं रहे हैं, तुम्हें सुनहली देह के साथ, सहज ढग से वहाँ भेज रहे हैं जहाँ दुष्कर्मी नही बल्कि बड़े-बड़े कर्मयोगी अनेकों प्रकार की कठिनाइयो को झेलने के बाद जाते हैं; इस राह पर सूर्य तुम्हारा पथ प्रदर्शन करे।[1]

यज्ञ में की गई हिंसा उस प्रकार की है जैसे किसी डाक्टर के द्वारा की गई चीर-फाड़। डाक्टर घाव को चीरते समय घाव-ग्रस्त

१. न वा उ वै तन्म्रियसे न रिष्यसि देवानिदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ तै० ब्रा० ३.७.७.१४.

व्यक्ति को कष्ट अवश्य होता है लेकिन उसका उद्देश्य उस व्यक्ति को दुःख से छुटकारा दिलाकर सुखी बनाना होता है। ठीक उसी तरह यज्ञ में बलि देकर पशु को स्वर्ग में भेजा जाता है जोकि अधिक सुखकर होता है। अतः चूँकि वैदिकी हिंसा का उद्देश्य दुःख देना नहीं बल्कि सुख देना है, वह दोषपूर्ण या अशुद्ध नहीं कही जा सकती।[1]

वल्लभाचार्य, जिनके जन्म का समय राधाकृष्णन् ने १४०१ ई० तथा बलदेव उपाध्याय ने १४७९ ई० बताया है,[2] ने अपने अणुभाष्य में ब्रह्मसूत्र (३.१.२५) की व्याख्या करते हुए यही माना है कि यज्ञ में की जानेवाली हिंसा दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि यह देव-स्वीकृत है। देवता लोग भी अन्न की हवि देते हैं जिससे वीर्य पैदा होता है (छा० उप० ५.७.२)। इसके अलावा शास्त्रों ने भी इसकी शुद्धि हेतु सस्कारकर्म बताए हैं। यदि दोनों में से किसी को भी न माना जाये तब जीवन पर्यन्त होने वाले विभिन्न कार्य किस प्रकार सम्पन्न होंगे ? अतः हिंसा होने के कारण यज्ञ अशुद्ध और अनिष्टकारी नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक परम्परा पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है कि अहिंसा का सिद्धान्तरूप में प्रारम्भ उपनिषदों में होता है किन्तु वेदों में भी इसकी झलक कहीं-कहीं दिख जाती है। ब्राह्मणों में हिंसायुक्त यज्ञ की प्रधानता मिलती है। स्मृति (मनुस्मृति) में यद्यपि वैदिक कर्मकाण्डों पर जोर दिया गया है, अहिंसा के सिद्धान्त को भी पहले की तुलना में आगे बढ़ाया गया है। सूत्रों में अहिंसा की रूपरेखा बहुत ही क्षीण-सी दीखती है क्योंकि धर्मसूत्रों के कुछ स्थलों को छोड़कर सभी गृह्यसूत्र या धर्मसूत्र उन्हीं कर्मों के विधान देते हैं जो हिंसायुक्त हैं। गीता में हिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन अच्छी तरह हुआ है। इसमें यज्ञ को हिंसारहित बताते हुए उसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। महा-

---

१. श्रीभाष्य—सं० आर० डी० करमरकर, भाग ३, पृ० ७९६-७९९.
2. Indian Philosophy—Radhakrishnan, Vol. II, p. 759; भारतीय दर्शन—पंडित बलदेव उपाध्याय, पृ० ५१४.

भारत और पुराणों में तो अहिंसा का सिद्धान्त पूर्ण विकसित मालूम पड़ता है। इनमें हिंसायुक्त यज्ञ की काफी भर्त्सना की गई है किन्तु परिस्थिति विशेष जैसे, आत्म-रक्षा, समाज-रक्षा, राष्ट्र-रक्षा आदि के लिए छूट भी मिली है, यानी हिंसा को क्षम्य समझा गया है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, अद्वैत वेदान्त आदि ब्राह्मण दर्शनों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को अपनाया है लेकिन सांख्य ने इसकी कड़ी आलोचना की है, हिंसापूर्ण यज्ञ को इसने अशुद्ध माना है। वैष्णव परम्परा के रामानुज एवं वल्लभ आदि आचार्यों ने हिंसायुक्त होने पर भी वैदिक यज्ञादि को शुद्ध और दोषरहित माना है, यद्यपि अन्य प्रकार की हिंसा को घृणित एवं त्याज्य बताया है।

बौद्ध परम्परा :

बौद्ध परम्परा की मूलभित्ति बौद्ध धर्म या बौद्ध दर्शन है, जिसके जन्मदाता गौतम बुद्ध थे। उनका जन्म ई० पूर्व ६ठीं शती में हुआ था। वह आध्यात्मिक असंतोष या असंतुलन का युग था। उस समय अध्यात्म-चिन्तन से ज्यादा वैदिक यज्ञों पर और उनके विधि-विधानों पर बल दिया जा रहा था। देवता की भक्ति के बदले धर्मशास्त्रों के प्रति ज्यादा झुकाव था। जो व्यक्ति यज्ञादि के नियमों में प्रवीण होता था उसका कर्म-काण्ड के क्षेत्र में या यों कहें कि धर्म के क्षेत्र में एकाधिपत्य सा होता था। अतः इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ जिसने वेद, यज्ञादि कर्म-काण्ड तथा हिंसा का पूर्णरूपेण विरोध किया।[1]

बौद्ध धर्म के दो रूप मिलते हैं: १—शुद्ध धार्मिक रूप, जिसमें आचार मार्ग को बहुत ही सरल ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास है, और २—दार्शनिक रूप, जिसमें आचार की शिक्षा की गहराई में रहने वाले, सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन एवं विकास किया गया है। इसके दो आधार स्तम्भ हैं—सुत्तपिटक तथा विनयपिटक। 'सुत्तपिटक' में दीघनिकाय, मज्झिम-

1. History of Philosophy--Eastern and Western (Ed. Radhakrishnan), p. 154.

निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय हैं। खुद्दक निकाय में ही 'धम्मपद' है, जिसमें बुद्ध द्वारा प्रस्तुत उपदेशात्मक ४२३ गाथाएँ संकलित हैं तथा 'जातक' जो बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित ५५० कथाओं का संग्रह है, बहुत प्रसिद्ध है। इसके अलावा खुद्दक पाठ, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंश तथा चरियापिटक हैं। पातिमोक्ख (भिक्षु एवं भिक्षुणी पातिमोक्ख), खन्धक तथा परिवार विनयपिटक के तीन विभाग है, इनमे से खन्धक महावग्ग और चूलवग्ग के रूप में विभाजित होता है। पुग्गलपञ्ञति, धातुकथा, धम्मसंगणि, विभंग, पट्ठान, पकरण, कथावत्थु तथा यम अभिधम्मपिटक के रूप में सण्होक्षे जाते हैं। इन सबके अलावा 'मिलिंदपम' जिसकी रचना नागसेन ने की थी, को बौद्ध साहित्य मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

बौद्ध परम्परा मे मन, वचन तथा कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न देने को अहिंसा की संज्ञा दी गई है।[1] अहिंसा के पथ पर चलने वाला न स्वयं किसी को दुःख देता है और न किसी अन्य व्यक्ति को इसके लिए प्रेरित करता है,[2] वह बड़े-बड़े जीवों को ही नहीं बल्कि एकेन्द्रिय पेड़ पौधों को भी कष्ट नही पहुँचाता।[3] इसमें अहिंसा को एक अच्छा स्थान मिला है लेकिन इसे वह श्रेष्ठ-तम स्थान नही मिला है जो कि मित्रता को दिया गया है, यद्यपि 'अहिंसा' और 'मित्रता' दोनों ही एक-दूसरे पर आधारित हैं। इसके अनुसार जितने भी आचार हैं, भले ही वे एक भिक्षु के लिए हों अथवा एक गृहस्थ के लिए, उन सब में मित्रता ही श्रेष्ठ है, जिसे व्यापक ढंग से निभाने के लिए ही अन्य आचार आचरित होते हैं।

दीघनिकाय—इस निकाय के '**ब्रह्मजाल सुत्त**' में भिक्षुओं को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शीलों—आरम्भिक, मध्यम

१. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनु०—भिक्षु जगदीश काश्यप तथा भिक्षु धर्म-रक्षित, पहला भाग, पृष्ठ ७१.

२. धम्मपद, २५. ९–१०.

३. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २०७.

उच्च महा की चर्चा की है, जिन्हें अपनाना भिक्षुओं के लिए अत्यन्त आवश्यक समझा है। इन शीलों के अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य, नशे का त्याग आदि को स्थान दिया है।[1] अहिंसा

---

१. प्रारम्भिक शील—भिक्षुओ ! वह छोटा और गौण शील कौन-सा है, जिसके कारण अनाड़ी मेरी प्रशंसा करते हैं ? (वे ये हैं)–श्रमण गौतम जीवहिंसा (प्राणातिपात) को छोड़ हिंसा से विरत रहता है। वह दंड और शस्त्र को त्यागकर लज्जावान, दयालु और सब जीवों का हित चाहनेवाला है। . . . श्रमण गौतम चोरी (अदत्तादान) को छोड़कर चोरी से विरत रहता है। ...... व्यभिचार छोड़कर श्रमण गौतम निकृष्ट स्त्री-संभोग से सर्वथा विरत रहता है।... .कठोर भाषण को छोड़ श्रमण गौतम कठोर भाषण से विरत रहता है। वह निर्दोष, मधुर, प्रेमपूर्ण, जँचनेवाला, शिष्ट और बहुजनप्रिय भाषण करनेवाला है। भिक्षुओ ! अथवा......श्रमण गौतम किसी बीज या प्राणी के नाश करने से विरत रहता है ...... दलाली, ठगी और झूठा सोना-चांदी बनाने (निकति) के कुटिल काम से, हांथ-पैर काटने, वध करने, बांधने, लूटने-पीटने और डाका डालने के काम से विरत रहता है।

मध्यमशील—भिक्षुओ ! अथवा अनाड़ी मेरी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण (गृहस्थों के द्वारा) श्रद्धापूर्वक दिये गये भोजन को खाकर इस प्रकार के सभी बीज और सभी प्राणी के नाश में लगे रहते हैं, जैसे मूलबीज (जिनका उगना मूल से होता है), स्कन्धबीज (जिनका प्ररोह गांठ से होता है, जैसे ईख), फलबीज और पांचवां अग्रबीज (ऊपर से उगता पौधा)। उस प्रकार श्रमण गौतम बीज और प्राणी का नाश नही करता।

महाशील—जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक दिये गये भोजन को खाकर इस प्रकार की हीन (नीच) विद्या से जीवन बिताते हैं, जैसे .....मूषिक-विष, अग्नि-हवन, दर्वी-होम, तुष-होम, कण-होम, तण्डुल-होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर-होम...... .. श्रमण गौतम इस प्रकार की हीन विद्या से निन्दित जीवन नहीं बिताता।

दीघनिकाय, हिन्दी अनु०—रा० सांकृत्यायन तथा ज० काश्यप, पृ० २-३.

का सम्बन्ध सिर्फ मानव मात्र के ही प्राणाघात या कष्ट से नहीं, बल्कि जीव, बीज आदि को भी विनष्ट होने से बचाने से है। अतः मूलबीज, स्कन्धबीज, फलबीज एवं अग्रबीज आदि को नाश से बचाने वाले को ही श्रमण या भिक्षु कहा गया है। कठोर वचन न बोलकर प्रेमपूर्ण सर्वजनप्रिय भाषण देना भी अहिंसा की श्रेणी में लिया गया है। आगे चलकर "सामञ्ञफल सुत्त" में "भिक्षु होने का प्रत्यक्षफल" शीर्षक के अन्तर्गत फिर से इन्हीं बातों को प्रकाशित किया गया है। वहाँ आरम्भिक शील के अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय आदि की अलग-अलग गणना करके इन सबों की संख्या २५ बतायी गई है। मध्यशील और महाशील के अलावा इन्द्रियों का संवर (संयम), स्मृति, सम्प्रजन्य और सन्तोष आदि को भी शील की कोटि में रखा गया है।[१]

'तेविज्ज-सुत्त' में वाशिष्ठ माणव को 'ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग' प्रदर्शित करते हुए बुद्ध ने १-मैत्री भावना, २-करुणा भावना, ३-मुदिता भावना एवं ४-उपेक्षा भावना पर बल दिया है। बुद्ध कहते हैं—[२]

> "वह (भिक्षु) मैत्रीभाव युक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण करके विहरता है; दूसरी दिशा०, तीसरी दिशा०, चौथी० इस प्रकार ऊपर नीचे आड़े बेड़े सम्पूर्ण मन से, सबके लिए, मित्रभाव (मैत्री) युक्त, विपुल, महान=अप्रमाण, वैर-रहित, द्रोह-रहित चित्त से सारे ही लोक को स्पर्श करता-विहरता है। जैसे वाशिष्ठ! बलवान् शंखधमा (शंख बजाने वाला) थोड़ी ही मिहनत से चारों दिशाओं को गुँजा देता है। वाशिष्ठ इसी प्रकार मित्र-भावना से भावित, चित्त की मुक्ति से जितने प्रकार में काम किया गया है, वह वहीं अवशेष=खतम नहीं होता।"

"उपेक्षा" का मतलब वैर, द्रोह आदि की उपेक्षा से है। इस प्रकार यहाँ पर मैत्री को प्रधानता देकर अहिंसा को ही प्रश्रय दिया गया है।

---

१. दीघनिकाय, पृ० २४-२८.

२. दीघनिकाय, पृ० ९०-९२.

संयुत्त निकाय—संयुत्त निकाय के 'मल्लिका सुत्त' में राजा प्रसेनजित के कहने पर कि 'अपने से प्यारा कोई नहीं है' बुद्ध कहते हैं—

> सभी दिशाओं में अपने मन को दौड़ा, कहीं भी अपने से प्यारा दूसरा कोई नहीं मिला, वैसे ही, दूसरों को भी अपना बड़ा प्यारा है, इसलिए, अपनी भलाई चाहने वाला दूसरे को मत सतावे।[1]

आगे चलकर 'ब्राह्मण संयुत्त' के अहिंसक सुत्त में भारद्वाज ब्राह्मण के द्वारा अपने को अहिंसक घोषित करने पर, अहिंसक शब्द को पारिभाषित करते हुए बुद्ध ब्राह्मण से कहते हैं—

> जैसा नाम है वैसा ही होवो, तुम सच में अहिंसक ही होवो, जो शरीर से, वचन से और मन से हिंसा नहीं करता वही सच में अहिंसक होता है, जो पराए को कभी नहीं सताता।[2]

सातवें परिच्छेद के 'लक्षण संयुत्त' में गृद्धकूट पर्वत पर विहार करने वाले लक्षण और महामौद्गल्यायन के बीच हुए वार्तालाप के सन्दर्भ में बुद्ध के द्वारा यह बताया गया है कि हत्या करने अथवा हिंसा करने के क्या परिणाम होते हैं।

कथानक इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—एक समय गृद्धकूट पर्वत पर से उतरते हुए महामौद्गल्यायन ने कुछ देखकर मुस्करा दिया, इससे लक्षण के मन में आशंका हुई और उन्होंने मुस्कराने का कारण पूछा, तब अपने मुस्कराने का कारण वे बुद्ध के समक्ष कहते हैं—

'आउस ! गृद्धकूट पर्वत से उतरते हुए मैंने हड्डियों के एक कंकाल को आकाश मार्ग से जाते देखा। उसे गीध भी, कौए भी और चील भी झपट-झपट कर नोचते थे, टुकड़े-टुकड़े कर देते थे, और वह आर्त्तस्वर कर रहा था।' तब बुद्ध कहते हैं—

> 'भिक्षुओ ! पहले मैंने भी उस सत्त्व को देखा था, किन्तु किसी को नहीं कहा। यदि मैं कहता तो शायद दूसरे नहीं मानते। जो मुझे नहीं मानते उनका यह चिरकाल तक अहित और दुःख

---

1. संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृष्ठ ७१.
2. संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृष्ठ ११२.

के लिए होता। भिक्षुओ ! वह सत्व इसी राजगृह में गोहत्या करने वाला था। इस पाप के फलस्वरूप वह…… …लाखों वर्ष तक नरक में पचता रहा। उस कर्म के अवसान में उसने ऐसा आत्मभाव प्रतिलाभ किया है।''[1]

इस प्रकार 'गोघातक सुत्त' में गाय मारने वाले, पिण्डसाकुणीसुत्त में चिड़िमार, निच्छवोरब्भिसुत्त में भेड़ों को मारने वाले कसाई, असिसूकरिकसुत्त में सूअर मारनेवाले कसाई, सत्तिमागवीसुत्त में मृगमार (=बहेलिया), उसकारणिकसुत्त में अन्यायी न्यायाधीश, सूचिसारथीसुत्त में सारथी, सूचकसुत्त में सूचक तथा ग्रामकूटक सुत्त में गांव के दुष्ट पंच के वर्णन हैं। यानी ये सभी हिंसक हैं और हिंसा के परिणाम स्वरूप इन्हें अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ता है।

यज्ञ—जहां तक यज्ञ की बात है, बुद्ध ने हिंसायुक्त यज्ञ का विरोध किया है और हिंसारहित यज्ञ को हितकर एवं उचित बताया है। जब उन्हें राजा प्रसेनजित के यहां होने वाले हिंसायुक्त यज्ञ की खबर भिक्षुओं के द्वारा मिलती है तो वे कहते है कि यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते महर्षि लोग, जो सुमार्ग पर चलने वाले हैं वैसे यज्ञो के लिए निर्देश करते हैं, जिनमें भेड़, बकरे और गायें आदि नही कटते।[2]

---

१. संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृष्ठ ३०१-३०२.

२. अश्व-मेध, पुरुष-मेध, सम्यक् पाश, वाजपेय,
निरर्गल और ऐसी ही बड़ी-बड़ी करामातें,
सभी का अच्छा फल नहीं होता है।
भेड, बकरे और गायें तरह-तरह के जहां मारे जाते हैं,
सुमार्गपर आरूढ़ महर्षि लोग ऐसे यज्ञ नही बताते हैं।
जिस यज्ञ मे ऐसी तूलें नही होती हैं, सदा अनुकूल यज्ञ करते है,
भेड़, बकरे और गौवें तरह-तरह के जहा नही मारे जाते हैं,
सुमार्ग पर आरूढ़ महर्षि लोग ऐसे ही यज्ञ बताते हैं,
बुद्धिमान पुरुष ऐसा ही यज्ञ करे, इस यज्ञ का महाफल है,
इस यज्ञ करनेवाले का कल्याण होता है, अहित नहीं,
यह यज्ञ महान होता है, देवता प्रसन्न होते हैं।
संयुत्त निकाय, प्रथम भाग, पृ० ७२.

अप्रमाद—रजकण और महापृथ्वी के बीच के अन्तर को दिखाते हुए बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हैं कि मनुष्य को अपनी सत्ता को रजकण तथा संसार की अन्य सत्ताओं को महापृथ्वी के समान समझकर अपने में 'प्रमाद' नहीं लाना चाहिए। भिक्षुओं को चाहिए कि वे सदा अप्रमत्त होकर विहार करें (क्योंकि प्रमाद ही सब अनिष्टों की जड़ है)।[1] इतना ही नहीं, संयुत्त निकाय के दूसरे भाग में 'अप्रमाद' की व्यापकता एवं महानता बताते हुए वे कहते हैं—

> 'भिक्षुओ ! जितने जंगम प्राणी हैं सभी के पैर हाथी के पैर में चले आते हैं। बड़ा होने में हाथी का पैर सभी पैरों में अग्र समझा जाता है। भिक्षुओ ! वैसे ही जितने कुशल धर्म हैं सभी का आधार=मूल अप्रमाद ही है। अप्रमाद उन धर्मों में अग्र समझा जाता है" (पद सुत्त–४३. ५. २)।

"भिक्षुओ ! कूटागार के जितने धरण हैं सभी कूट की ओर झुके होते हैं। कूट ही उनमें अग्र समझा जाता है। भिक्षुओ ! वैसे ही जितने कुशल धर्म हैं........"[2] (४३. ५. ३)।

मैत्री-भावना—मैत्री-भावना में जो शक्ति है, वह व्यक्ति को सब तरह से सुरक्षित रखती है। जिस प्रकार, जिस कुल में अधिक पुरुष और कम स्त्रियाँ हैं, उस कुल को चोर-डाकुओं से भय नहीं होता, अथवा जैसे स्वतः तीक्ष्ण बर्छी को किसी छेदन-भेदन का भय नहीं होता, ठीक वैसे ही जिस व्यक्ति में मैत्री-भावना चैतन्य है, जगी है उसे किसी भी स्थान पर और किसी भी प्राणी से डर नहीं होता। अतः बुद्ध कहते हैं—

---

१. संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृ० १०७.

२. संयुत्त निकाय, दूसरा भाग, पृ० ६४०–६४१.

"भिक्षुओ ! इसलिए, तुम्हें ऐसा सीखना चाहिए—मैत्रीचेतो-विमुक्ति मेरी भावित होगी…।"[1]

कल्याणमित्त सुत्त में कल्याणमित्रता को मोक्ष के शुभागमन का लक्षण बताया है और कहा है कि जिस प्रकार आकाश में लालिमा देखने से सूर्योदय की आशा हो जाती है, उसी प्रकार कल्याणमित्रता आ जाने पर अष्टांगिक मार्ग से लाभान्वित होने की आशा हो जाती है—

> "भिक्षुओ ! अष्टांगिक मार्ग के लाभ के लिए एक धर्म बड़े उपकार का है। कौन एक धर्म है ? जो यह 'कल्याण मित्रता'।"[2]

इस प्रकार संयुत्त निकाय में अहिंसा, हिंसा का परिणाम, हिंसा-रहित यज्ञ, अप्रमाद, एवं मैत्री-भावना के विवेचन अहिंसा के सिद्धान्त की अच्छी तरह पुष्टि करते हैं।

सुत्तनिपात—इसके 'मेत्तसुत्त' मे सभी प्राणियों के प्रति मित्रता के भावप्रदर्शन को ब्रह्मविहार कहा गया है, जिसे वैदिक साहित्यानुसार ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्म-साक्षात्कार कहा जाये तो शायद अनुचित न होगा। यहाँ कहा गया है कि शान्तिपद को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अत्यन्त ऋजु बने; उसके वचन प्रिय एवं विनीत हों, वह सरल एवं संतोषी हो; वह छोटा से छोटा कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे उसे ज्ञानी लोग दोषी ठहरायें। सभी प्राणियों के सुख एवं कल्याण की कामना करे। वह सदा सोचे—'जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान जितने भी प्राणी हैं, वे सभी सुखपूर्वक रहें'। वह किसी की वंचना तथा अपमान न करे। सभी प्राणियों को वह उस प्रकार देखे जैसे एक माँ अपने एकलौते पुत्र को देखती है। वैर-बाधा से रहित हो, ऊपर-नीचे-तिरछे सभी स्थानों के प्राणियों की

---

१. संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृ० ३०६-३०७.

२. संयुत्त निकाय, दूसरा भाग, पृ० ६३३-६३५.

रक्षा का ध्यान रखे। वह खड़े रहकर, चलकर, बैठकर, सोकर, जागकर सब तरह से सभी प्राणियों को एक समान देखे, प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखे। यही "ब्रह्मविहार" है और इसे ही अपनाकर व्यक्ति काम, तृष्णा आदि से ऊपर उठकर जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है, यानी निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[1]

धम्मपद—जेतवन में विहार करते समय एक दिन बुद्ध ने छः वर्गीय भिक्षुओं के द्वारा सत्रह वर्गीय भिक्षुओं का पीटा जाना देखा, तब उन भिक्षुओं को समझाते हुए उन्होंने कहा कि भिक्षुओ! सब को अपने ही समान समझो, क्योंकि दण्ड और मृत्यु सबके लिए

---

१. करणीयमत्थकुसलेन यं तं सन्तं पदं अभिसमेच्च।
सक्को उजू च सूजू च सुवचो चस्स मुदु अनतिमानी ॥१॥
सन्तुस्सको च सुभरो च अप्पकिच्चो च सल्लहुकवुत्ति।
सन्तिन्द्रियो च निपको च अप्पगब्भो कुलेसु अननुगिद्धो ॥२॥
न च खुद्दं समाचरे किञ्चि येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं।
सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥३॥
ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा मज्झिमा रस्सकाऽणुकथूला ॥४॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥५॥
न परो परं निकुब्बेथ नातिमञ्ञेथ कत्थचि नं कञ्चि।
ब्यारोसना पटिघसञ्ञा नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय्य ॥६॥
माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवंऽपि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ॥७॥
मेत्तं च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियं च असंबाधं अवेरं असपत्तं ॥८॥
तिट्ठं चरं निसिन्नो वा सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो।
एतं सतिं अधिट्ठेय्य ब्रह्ममेतं विहारं इधमाहु ॥९॥
दिट्ठिं च अनुपगम्म सीलवा दस्सनेन संपन्नो।
कामेसु विनेय्य गेधं न हि जातु गब्भसेय्यं पुनरेतीति ॥१०॥

सुत्तनिपात, उरगवग्ग, मेत्तसुत्त।

कष्टकर होते हैं।[1] सबको अपना जीवन प्रिय होता है। उसी तरह एक दिन उन्होंने बहुत से लड़कों को एक साँप को मारते हुए देखा तो उन्हें समझाते हुए कहा कि जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख के लिए मारते हैं, वे मरने के पश्चात् भी सुखी नही होते। इसके विपरीत जो अन्य प्राणियों को अपने सुख के लिए नहीं मारता है, वह मरकर सुख प्राप्त करता है।[2] अतः न किसी को मारना चाहिए और न मारने के लिए प्रेरित करना चाहिए। जो व्यक्ति अहिंसापूर्ण संयमित जीवन यापन करता है उसे अच्युत पद की प्राप्ति होती है जिसे प्राप्त कर वह कभी भी दुःखी नहीं होता।[3] जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता वह अहिंसक ही आर्य कहला सकता है।[4] हिंसा करने वाला कभी भी आर्य कहलाने के योग्य नहीं होता और जो चर-अचर किसी भी प्राणी का घात नहीं करता, उन्हें कष्ट नही पहुंचाता या मारने के लिए प्रेरणा नही देता यानी जो किसी भी प्रकार की हिंसा से विरत है, वही ब्राह्मण है।[5] इस प्रकार 'बुद्ध-धर्म-शासन' में रहता हुआ

---

१. सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥१॥धम्मपद, दण्डवग्गो।
सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥२॥ " " "

२. सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥३॥
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥ " " "

३. अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥ धम्मपद, कोधवग्गो।

४. न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियोति पवुच्चति ॥१५॥
धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो।

५. निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥
धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो।

प्रसन्नचित्त तथा राग-द्वेष से विरत मैत्रीपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सुखमय परमपद यानी निर्वाण को प्राप्त करता है।[1]

विनय-पिटक—विनय-पिटक में भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार पर प्रकाश डाला गया है। यानी एक भिक्षु या भिक्षुणी को साधना-पूर्ण जीवन यापन करने के निमित्त कौन-कौन से कर्म करने चाहिए तथा कौन-कौन से नहीं।

> "जो भिक्षु जानकर मनुष्य को प्राण से मारे, या (आत्म-हत्या के लिए) शस्त्र खोज लाए, या मारने की तारीफ करे, मरने के लिए प्रेरित करे—अरे पुरुष! तुझे क्या (है) इस पापी दुर्जीवन से? (तेरे लिए) जीने से मरना अच्छा है; इस प्रकार के चित्त-विचार से, इस प्रकार के चित्त-संकल्प से अनेक प्रकार से मरने की जो तारीफ करे, या मरने के लिए प्रेरित करे तो वह भिक्षु पाराजिक होता है—(भिक्षुओं के साथ) सहवास के अयोग्य होता है।"[2]

यदि कोई भिक्षु जमीन खोदे वा खुदवाये, वृक्ष काटे वा कटवाये, जान बूझकर प्राणियों का घात करे, क्रोधित होकर दूसरे भिक्षुओं को पीटे तो इन सभी दोषों या अपराधों के लिए वह पाचित्तिय है।[3] ऐसे ही विधान भिक्षुणियों के लिए भी बताए गये हैं।[4]

---

१. मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ॥९॥
सिञ्च भिक्खु! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥१०॥

धम्मपद, भिक्खुवग्गो।

२. विनय-पिटक, हि० अनु०—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ६.

३. वही, पृष्ठ २३.

४. वही, पृष्ठ २४, ४२, ५६, ६१ तथा ६३.

एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को रोकने की दृष्टि से बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा है—[1]

> "भिक्षुओ ! ताल के पत्र की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"
>
> "भिक्षुओ ! बांस के पौधों की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"

क्योंकि पत्ते कट जाने पर पौधे सूख जाते हैं, जिसकी वजह से एकेन्द्रिय जीव की हिंसा होती है।

चर्मनिषेध के सम्बन्ध में एक कथा प्रस्तुत की गई है, जिसमें एक भिक्षु एक उपासक से उसकी गाय के बछड़े को मरवाता है और बछड़े का चर्म लेकर अपने आश्रम को लौटता है। यह बात बुद्ध को मालूम होती है कि सिर्फ चर्म-लोभ के कारण ही भिक्षु ने प्राणी-हिंसा की है, तब वे भिक्षुओं को उपदेश देते हैं—

> "भिक्षुओ ! प्राण-हिंसा की प्रेरणा नहीं करनी चाहिए। जो प्रेरणा करे उसको धर्मानुसार (दंड) करना चाहिए। भिक्षुओ ! गाय का चाम नहीं धारण करना चाहिए। जो चर्म धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओ ! कोई भी चर्म नहीं धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट दोष हो।"[2]

किन्तु इन सभी निषेधों के अपवादस्वरूप बुद्ध ने विशेष अवस्थाओं, जैसे किसी अत्यन्त कष्टदायक रोग की अवस्था आदि में औषध-स्वरूप मांस या चर्बी या खून के प्रयोग को क्षम्य अथवा दोषरहित बताया है।[3] इसके अलावा अमनुष्यवाले रोग (एक प्रकार का रोग) में तो इन्होंने साफ कहा है—

---

१. विनय-पिटक, पृष्ठ २०७.

२. वही, पृष्ठ २१०.

३. भिक्षुओ ! अनुमति देता हूं चर्बी की दवाई की (जैसे कि) रीछ की चर्बी, मछली की चर्बी, सूँस की चर्बी, सुअर की चर्बी, गदहे की चर्बी, काल (पूर्वाह्न) में लेकर काल से पका काल से, तेल के साथ मिलाकर

"भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ अमनुष्यवाले रोग में कच्चे मांस और कच्चे खून की ।"[1]

जहाँ तक मांस-मछली के भक्षण का प्रश्न है इस सम्बन्ध में बुद्ध का कथन है—

"भिक्षुओ ! जान-बूझकर (अपने) उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए । जो खाए उसे दुक्कट का दोष हो । भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देखे, सुने, संदेह-युक्त—इन तीनों बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की ।"[2]

अर्थात् भिक्षु यदि देखता है या सुनता है अथवा उसे आशंका होती है कि मांस या मछली जो उसको भेंट की गई है, वह उसी के निमित्त मारी और तैयार की गई है तो ऐसी हालत में वह उस मांस या मछली को नहीं खा सकता । यदि खायेगा तो दोष का भागी होगा । लेकिन, यदि वह भिक्षाटन के लिए जाता है और भिक्षास्वरूप, गृहस्थ उसे अपने लिए तैयार मांस या मछली में से कुछ दे देता है तो वैसी हालत में भिक्षु का मांस या मछली का लेना और खाना दोषपूर्ण नहीं समझा जायेगा । कारण, यदि वह इनकार करेगा दिये हुए मांस को लेने से तो गृहस्थ को उसके लिए अन्यवस्तु की व्यवस्था करनी पड़ेगी, जिसकी वजह से वह परेशान होगा । इस तरह गृहस्थों के लिए भिक्षुओं को भिक्षा

सेवन करने की । भिक्षुओ ! यदि विकाल से ग्रहण की गई हों, विकाल से पकाई और विकाल से खिलाई गई हों (और) भिक्षुओ ! उनका सेवन करे तो तीनों दुक्कटो का दोष हो । यदि भिक्षुओ ! काल से लेकर विकाल से पका, विकाल से मिला उनका सेवन करे तो दो दुक्कटों का दोष हो । यदि भिक्षुओ ! काल से लेकर काल से पका, विकाल से उनका सेवन करे (तो) एक दुक्कट का दोष हो । यदि भिक्षुओ ! काल से ले काल से पका काल से मिला उनका सेवन करे तो दोष नहीं ।

विनय-पिटक, पृ० २१६.

१. वही, पृ० २१८, वात आदि रोग के लिए ।

२. वही, पृ० २४५.

देना एक समस्या बन जाएगी और वह कष्टकर होगी। अतः भिक्षु को गृहस्थ के द्वारा दी गई कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि मांस-मछली भी ग्रहण करने में दोष नहीं है, यदि वह वस्तु भिक्षु के निमित्त न बनी हो।

विसुद्धिमग्ग—आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' नामक पुस्तक में बुद्ध के प्रवचनों के आधार पर यह दर्शाने की कोशिश की है कि बौद्धमत में निर्वाण प्राप्त करने का कौन-सा मार्ग है और उस पर किस प्रकार अग्रसर हुआ जा सकता है? उस मार्ग को ही उन्होने 'विशुद्धिमार्ग' कहा है। 'विशुद्धिमार्ग' को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं—

> "विशुद्धि, सब मलों से रहित अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण को जानना चाहिए। उस विशुद्धि का मार्ग—विशुद्धिमार्ग है। निर्वाण की प्राप्ति का उपाय मार्ग कहा जाता है।[1]"

> विशुद्धिमार्ग कही **विपश्यना**, कही **ध्यान और प्रज्ञा**, कहीं **कर्म**, कही **शील**[2] और कहीं स्मृति-प्रस्थान आदि के अनुसार बताया गया है। 'जीव हिंसा आदि (करने) से विरत रहने वाले, या (उपाध्याय आदि की) सेवा-टहल करनेवाले की चेतना आदि धर्म (मानसिक अवस्थाएँ) शील हैं।

'प्रतिसम्भिदा' के अनुसार शील के चार स्तर होते हैं—**चेतना, चैतसिक, संवर एवं अनुल्लंघन**। इनमें से दो का सम्बन्ध जीवहिंसा की विरति से है, जैसा कि कहा है—[3]

> "जीव-हिंसा आदि से विरत रहने वाले, या व्रत-प्रतिपत्ति (व्रताचार) पूर्ण करनेवाले की चेतना ही **चेतना-शील** है।"

> "जीव-हिंसा आदि से विरत रहने वाले की विरति (अलग होने का विचार) चैतसिकशील है।"

---

१. विशुद्धिमार्ग—आचार्य बुद्धघोष, हि० अनु०—भिक्षु धर्मरक्षित, पहला भाग, पृ० ३.

२. सब्बदा सीलसम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो ओघं तरति दुत्तरं ॥ संयुत्त निकाय, २. २. ५.

३. विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृ० ८.

आगे चलकर ब्रह्मविहारों का विवेचन करते हुए मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावनाओं को प्रस्तुत किया है। मैत्री-भावना 'क्षमा' पर आधारित होती है। अतः 'क्षमा' को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह सबसे बड़ा बल है तथा इसे धारण करने वाला ब्राह्मण कहलाता है।[1] और जो द्वेष से दूषित होता है वह हिंसा करता है। अतः इन गुण-अवगुणों को देखते हुए मैत्री-भावना को अपनाना चाहिए। किन्तु यदि कोई व्यक्ति मैत्री-भावना का प्रारम्भ अपने वैरी के साथ करता है तो वह असफल रहेगा, क्योंकि वैरी को याद करते ही उसके प्रति जगी हुई वैर-भावना बाधा स्वरूप आगे आ जायेगी। अतः उसे अपनी मित्रता का प्रारम्भ अपने प्रियजनों से करके, मध्यस्थजनों से होते हुए अन्त में वैरी तक पहुँचना चाहिए, जैसे—

> "भिक्षु को..................अत्यन्त प्रिय सहायक के ऊपर, अत्यन्त प्रिय सहायक के बाद मध्यस्थ पर, मध्यस्थ से वैरी व्यक्ति पर मैत्री-भावना करनी चाहिए..............।"[2]

करुणा के विषय में भी यही क्रम बताया गया है, किन्तु 'अंगुत्तरट्ठकथा' में करुणा-भावना बढ़ाने का जो क्रम दिया गया है, वह इसके विपरीत-सा लगता है।

इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा का सही-सही पालन करनेवाला ही विशुद्धिमार्गी होता है।

बोधिचर्यावतार—आचार्य शान्तिदेवविरचित 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है कि बोधिसत्त्व को सभी प्राणियों का हित चाहने वाला होना चाहिए,[3] क्योंकि एक प्राणी का घात करके भी मनुष्य हीन बन जाता है और जो अनेक जीवों का अहित करता है अथवा

---

१. खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। धम्मपद, २६. १७.

२. विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृ० २६५.

३. चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्त्वसुखावहान्।
सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिनाम् ॥३॥

तृ० परिच्छेद, बोधिचित्तपरिग्रह।

उन्हें कष्ट पहुँचाता है उसके विषय में तो कहना ही क्या?[1] उसे हमेशा हँसमुख रहना चाहिए, किसी पर भौंहे टेढ़ी नहीं करनी चाहिए यानी किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिए, दूसरों की कुशलता का ख्याल रखना चाहिए तथा संसार के सभी प्राणियों से मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए।[2] इसके 'क्षान्तिपारमिता' में द्वेष और क्षमा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि द्वेष सबसे बड़ा पाप है तथा क्षमा सबसे बड़ा तप। जिसका दिल द्वेष से दूषित है, उसे कभी भी न शान्ति मिलती है और न सुख। उसे नींद तक नही आती और धैर्य तो उससे बिल्कुल ही दूर हो जाता है। द्वेष से सिर्फ दूसरों को ही कष्ट नही पहुँचता, बल्कि स्वयं उसके पालने वाले को भी उससे अनेक दुःख प्राप्त होते हैं।[3] इस प्रकार 'बोधिचर्यावतार' में क्षमा और मित्रता के माध्यम से अहिंसा के सिद्धान्त को प्रश्रय मिलता है।

बौद्ध-परम्परा में अहिंसा को मैत्री-भावना के पालन में एक सबल साधनस्वरूप प्रमुखता मिली है। यज्ञसबंधी हिंसा को इसने सही या धर्मानुकूल नही माना है। यद्यपि इसने मानव से एकेन्द्रिय जीव पर्यन्त हिंसा-अहिंसा का विचार किया है, परिस्थिति के

---

१. एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत्।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनाम् ॥१०॥

चतुर्थ परिच्छेद, बोधिचित्ताप्रमाद।

२. एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत्।
त्यजेद् भृकुटिसंकोचं पूर्वाभाषी जगत्सुहृत् ॥७१॥

पंचम परिच्छेद, संप्रजन्य-रक्षण।

३. न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ॥२॥
मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥३॥
पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम् ॥४॥

षष्ठ परिच्छेद, क्षान्ति-पारमिता।

अनुसार कहीं-कहीं हिंसा को क्षम्य भी मान लिया है, जैसे दवा स्वरूप चर्बी और खून का प्रयोग। इसके अलावा भिक्षुओं के द्वारा गृहस्थों से भिक्षास्वरूप मांस का भी ले लेना अहिंसा-सिद्धान्त की दृढ़ता में कुछ कमी-सी ला देता है, यद्यपि गृहस्थों की सुविधा का ध्यान रखते हुए यह विधान किया गया है।

सिक्ख-परम्परा :

सिक्ख परम्परा का प्रारम्भ सिक्ख धर्म के साथ होता है, जो संसार का एक नया धर्म है। यद्यपि इसने अपने से प्राचीन धर्मों की विभिन्न विशेषताएँ ग्रहण की हैं, इसने मानव कल्याण को महत्त्व देते हुए अपने को संकीर्ण भावनाओं एवं अन्धविश्वासों से काफी दूर रखा है। इसमें दस धर्म-पथ-प्रदर्शक हो गए हैं जिन्हें गुरु विशेषण से सम्मानित एवं सम्बोधित किया जाता है।

सिक्ख धर्म का सबसे प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' है, जिसमें गुरु नानक, गुरु अङ्गद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव एवं तेज बहादुर के उपदेशों के साथ-साथ रामानन्द, कबीर, रविदास, नामदेव, शेख फरीद, जयदेव, सूरदास, पीपा, धन्ना, सैण, त्रिलोचन, परमानन्द, वेणी, भीखन आदि के भक्ति-काव्य सकलित हैं। गुरु गोविन्द सिंह की हिन्दी, पंजाबी तथा फारसी भाषाओं में प्रस्तुत की गई रचनाएँ जिस ग्रन्थ में संगृहीत हैं उसे दसमग्रन्थ कहते हैं। उसमें जाप, अकाल-स्तुति, विचित्र-नाटक, ज्ञान-प्रबोध, जफरनामा आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। भाई नन्दलाल, भाई देशा सिंह, भाई प्रह्लाद सिंह आदि के रहितनामे एवं प्रेमसुमार्ग, सर्वलोहग्रंथ, जन्मसाखी, पन्थप्रकाश, गुरु-विकास आदि भी सिक्ख साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सिक्ख धर्म में मुक्ति के चार मार्ग दिखाए गए हैं—(१) कर्म मार्ग (२) योग मार्ग (३) ज्ञान मार्ग एवं (४) भक्ति मार्ग। कर्म [illegible] लेषित करते हुए इसे दो विभागों में विभाजित किया गया [illegible] धनप्रद कर्म और मोक्षप्रद कर्म। बन्धनप्रद कर्म में कर्मकाण्डयुक्त कर्म, अहंकार कर्म और सेंप्रणी कर्म आते हैं। मोक्ष-

प्रद कर्म में—हरिकीर्तन कर्म, अध्यात्म कर्म और हुकुमरजाई कर्म समझे जाते हैं।

यद्यपि कर्मों को गुरुओं ने प्रधानता दी है, वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया है, जिसमें योग या यज्ञ के नाम पर हिंसाएँ की जाती हैं। इस सम्बन्ध में योग और योगी की व्याख्या करते हुए नानक ने कहा है—

"जोग न हिंसा जोग न डडे,
जोग न भसम चढ़ाइए।
जोग न मुंडी मुंड मुंडाइए,
जोग न जिमी बाइए।
अंजन माहि निरंजन रहिए,
जोग जुगति तउ पाइए।"[1]

अर्थात् न हिंसा करने, न भस्म लगाने, न सिर मुड़ा लेने को ही योग कहा जा सकता या इस तरह के कर्म करने वालों को ही योगी समझा जा सकता है। योगी तो उसे कहते हैं जो निम्नलिखित विचार का होता है—

"गल्ली जोग न होई।
एक दृष्टि कर समसर जागे
जोगी कहीये सोई।"[2]

अर्थात् जिसकी दृष्टि एक है, जो सब को समान रूप से देखता है, ऐसा समता-भाव रखनेवाला ही वास्तविक योगी होता है। इतना ही नहीं बल्कि अहिंसा के सिद्धान्त को प्रमुखता देते हुए उसे अपने प्रथम धर्मोपदेश में ही गुरुओं ने स्थान दिया है, जो इस प्रकार है—

---

१. 'आज' (दैनिक पत्रिका), गुरुनानक विशेषांक, २३ नवम्बर १९६९, पृ० १४.

२. वही।

"नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सवर्त्त का भला।।"[1]

'सवर्त्त का भला' का अर्थ होता है सबकी भलाई, जो अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाए बिना हो ही नहीं सकती। अहिंसा और सबकी भलाई ये दोनों तो वैसे ही हैं जैसे एक सिक्के के दोनों रुख। जब तक दूसरों के हित की बात ध्यान में नहीं आएगी तब तक अहिंसा की ओर प्रवृत्ति न होगी और जब तक अहिंसा का भाव मन में नहीं आएगा तब तक दूसरों का उपकार नहीं हो सकता। ये दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं।

आपस के प्रेम भाव को जो अहिंसा की पुष्टि करता है, प्रकाशित करते हुए कहा गया है—

"आवहु भैणे गलि मिलहि,
मेरी अक्क सहेलड़ि आहि।
मिल कै करहि कहाणियाँ,
समरथ्य कन्त कीआहि" ।। (श्री राग)[2]

प्रेम के सिद्धान्त की महत्ता को ऊँचा उठाते हुए गुरु गोविन्द सिंह कहते हैं—

"साच कहहुं सुनि लेहु सबहि,
जिन प्रेम कियो तिनही प्रभु पायो।"[3]
(अकाल स्तुति)

अर्थात् मेरा उद्घोष सब कोई सुन ले कि बिना प्रेम किए हुए कोई व्यक्ति प्रभु या परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता। और अर्जुनदेव ने तो विश्व को ही अपना समझ रखा है—

"ना को वैरी न ही बेगाना,
सगल सङ्गि हम को बन आई।"[4]

---

१. सिक्ख धर्म की रूपरेखा, पृ० १.
२. वही, पृ० २.
३. वही, पृ० ३.
४. वही, पृ० २.

वे कहते हैं न कोई मेरा शत्रु है और न कोई मित्र ही। मेरे लिए सभी समान हैं, मेरी तो सबसे बनती है।

सिक्ख परम्परा में पाँच धर्मगत चिन्हों को महत्त्वपूर्ण समझा गया है—कड़ा, कच्छहरा, कृपाण, केश एवं कङ्घा। कृपाण सामान्यतः हिंसासूचक माना गया है। अतः कोई ऐसा समझ सकता है कि सिक्ख धर्म में हिंसा की प्रवृत्ति बलवती है। किन्तु जहाँ तक कृपाण की बात है, वह अहिंसा के पोषण के निमित्त रखा जाता है। उससे काम वहाँ लिया जाता है जहाँ अन्याय न्याय को दबाता है। सिक्ख धर्म अन्याय को चुप-चाप सह लेने की राय नहीं देता। यह ईसाई मत की तरह प्रतिपादन नहीं करता कि कोई एक गाल पर एक तमाचा मार देता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। यह उस चोट को सहने को कभी भी तैयार नहीं होता जो किसी अनुचित कारण से पहुँचाई गई हो। इसके अनुसार दैवी प्रवृत्ति या शुभ प्रवृत्ति को फैलाने के लिए राक्षसी या अशुभ प्रवृत्ति को मिटाना आवश्यक है, चाहे वह हिंसात्मक तरीके से ही क्यों न हटाई जाए। कृपाण ही से सही,[1] लेकिन दुष्टजन को दबाना या दूर करना तो आवश्यक है ताकि सज्जन सचाई के मार्ग पर चल सकें और धार्मिक एवं नैतिक विचारो का विकास हो। इसीलिए गुरुओ ने कहा है कि बिना शस्त्र के कभी भी नही रहना चाहिए, तथा हिम्मत के साथ अन्याय का सामना करना चाहिए।

जहाँ तक खान-पान की बात है, इस परम्परा में विशेष भोजन को दो नामों से जाना जाता है—कड़ाह प्रसाद तथा महा प्रसाद। महा प्रसाद में मांस आदि आते हैं। इसके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि शिकार से प्राप्त मांस ग्रहण करना चाहिए और यदि शिकार से मांस न मिल सके तो झटके से मारे गए पशु का मांस खाना भी दोषरहित है। इस सम्बन्ध में गुरु गोविन्द सिंह के वचन का हवाला दिया जाता है। मांसभक्षी सिक्ख कहते हैं कि गुरु साहब ने अपने हाथ से काटे गए पशु के मांस को ग्रहण करने

१. कच्छ, कृपाण न कबहूं त्यागै।
सन्मुख लरै न रण ते भागै॥ रहितनामा—भाई नन्दलाल।

को कहा है। लेकिन गुरु साहब के कहने का वास्तविक अर्थ क्या था उसे गौण करके रसलोलुपतावश सिक्खों (गृहस्थ) ने उनके वचनों का अपने अनुसार अर्थ लगाया या समझा है। यदि उन्होंने कहा भी तो उसके पीछे कोई और राज था। वे असल में यह चाहते थे कि यदि किसी की प्रकृति इतनी बलवती हो जाती है कि वह मांस खाए बिना अपने को रोक नहीं सकता है तो ऐसी हालत में वह स्वयं किसी पशु का वध करके उसका मांस भक्षण करे, ताकि पशु की हत्या करते समय उसके मन में दया भाव जग सके। इस सम्बन्ध में सदन कसाई की कथा प्रसिद्ध है। सदन को राजा से आज्ञा मिली मांस प्रस्तुत करने की। लेकिन जब वह मांस प्राप्त करने के लिए बकरे को मारने चला तब रात होने वाली थी। अतएव उसने सोचा कि बकरे को जान से मार देने पर उसका पूरा मांस खर्च न हो सकेगा और वह खराब हो जाएगा, इसलिए अच्छा है कि उसका एक अंग ही काटा जाए। इस विचार से वह बकरे के निकट गया। किन्तु सदन को देखते ही बकरा हँस पड़ा। बकरे को हँसते हुए देखकर सदन बहुत ही आश्चर्यित हुआ क्योंकि उस दिन तक उसने कभी बकरे को हँसते हुए नहीं देखा था, यद्यपि उसने बकरे आदि अनेक पशुओं का वध किया था। फिर उसने बकरे से हँसने का कारण पूछा। तब बकरे ने उत्तर स्वरूप कहा कि मेरा-तेरा अदला-बदला पूर्व जन्मों से होता आ रहा है। कभी तुम बकरा बनते हो तो मैं कसाई और कभी मैं बकरा तो तुम कसाई। हम दोनों बहुत दिनों से एक-दूसरे की हत्या करते आ रहे हैं लेकिन इस बार जो तुम सोच रहे हो यह तुम्हारा एक नया उपक्रम होगा। यह सुनकर सदन को ज्ञान हो गया कि संसार में जो जैसा करता है वह वैसा ही पाता है और ऐसा सोचकर उसने अपने विचार को बदल दिया। आगे चलकर वह एक प्रसिद्ध भक्त बन गया और आजीवन अहिंसा के पथ पर चलता रहा। हो सकता है कि यह कथा मनगढंत ही हो, लेकिन सामान्यतः भी ऐसा देखा जाता है कि मांस-मछली खाना तो बहुत से लोग पसन्द करते हैं परन्तु जीव-जन्तुओं की हत्या अपने हाथ से करना नहीं चाहते हैं। कारण, किसी जीव को मारते समय उनके दिल में दया आ जाती है।

इसके बावजूद भी गुरुग्रन्थ साहब में कहा गया है—

"जे रत लगे कपड़े जामा होए पलीत।
जे रत पीवें मांसा तिन क्यों निर्मल चीत ॥"

अर्थात् रक्त या खून लग जाने से वस्त्र गन्दा हो जाता है, उस में दाग लग जाती है, फिर कैसे माना जाए कि रक्तयुक्त मांस खाने से या मांस के साथ लगे हुए खून को पीने से किसी व्यक्ति का मन मैला नहीं होता? यानी मांस खाने से चित्त अवश्य ही दूषित होता है। इसलिए मांसादि ग्रहण करना दोषपूर्ण है। इस प्रकार सिक्ख परम्परा में विशुद्ध सात्त्विक भोजन करने का विधान है, जिससे अहिंसा के नियम का पालन होता है। इस सम्बन्ध में कबीरदास जी का कहना है कि लोग इतना जुर्म क्यों करते हैं कि दूसरे जीवों की जान तक ले लेते हैं। वे खिचड़ी क्यों नहीं खाते जिसमें डाला गया नमक अमृत के समान होता है। खुदा जब उनके कर्मों का लेखा-जोखा करेगा तब वे क्या जवाब देंगे?[1] मतलब यह कि जितनी भी वे हत्याएं करते हैं उन सबका सही हिसाब ईश्वर के आध्यात्मिक कार्यालय में लिखा होता है और हिंसक को उसकी सजा भुगतनी पड़ती है।

---

१. कबीर जो किया सो जुलुम है,
कहता न वो हलाल।
दफ्तर लेखा मागिए,
तब होएगो कौन हवाल।
खूब खाना खीचड़ी जामे अमृत लोण,
हेरा रोटी कारणे गला कटावे कौन।

गुरुग्रन्थ साहब, पृ० १३७४.

कबीर जो किया सो जुलुम है,
ले जवाब खुदाए।
दफ्तर लेखा निकसी, मार मुए मुंह खाए।

गुरुग्रन्थ साहब, पृ० १३७५.

पारसी परम्परा :

पारसी परम्परा के जन्मदाता महर्षि जरथुस्त्र हो गए हैं, जिन्हें ग्रीक लोगों ने जोरोष्टर के नाम से सम्बोधित किया है। उनका जन्म ईसा पूर्व दसवीं शती में ईरान के राजा कइ-विशतस्प के शासन काल में हुआ था, किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञों के मत में उनका आविर्भाव ईसा पूर्व दसवीं शती से ई० पू० छठी शती के बीच में हुआ था। उनके जन्म के विषय में भी विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है, लेकिन उनके कर्म-स्थानों में बैक्ट्रिया, पूर्व मेडिया, ईरान और परसिया के नाम आते हैं। चूँकि महात्मा जरथुस्त्र के द्वारा चलाई गई धार्मिक परम्परा का सबसे ज्यादा प्रसार परसिया में हुआ था, अत: उसे पारसी परम्परा के नाम से जाना जाता है। इसका सबसे प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' है, जिसके सम्बन्ध में ऐसी धार्मिक धारणा है कि इस धर्म के सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान आराध्य अहुरामजदा ने स्वयं अपने हाथों से उसे जरथुस्त्र को दिया था।

अवेस्ता के अनुसार आदमी के प्रधानत: तीन कर्त्तव्य होते हैं[1]—

१. अपने शत्रु को मित्र बना लेना।
२. दानव को मानव बनाना या दानवी प्रवृत्ति रखने वालों के भीतर मानवी प्रवृत्ति भर देना।
३. अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

शत्रु को मित्र बनाना नि:सन्देह अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित है। शत्रु के साथ यदि हिंसाजनक व्यवहार होगा तो कभी भी वह मित्र नहीं बन सकता। लेकिन शत्रु को किसी प्रकार का कष्ट न देते हुए उसके प्रति प्यार व्यक्त करना, सद्भाव प्रकट करना अहिंसा की परिधि के ही अन्दर आता है। प्यार एवं सद्भाव व्यक्त करने के बजाय यदि कोई अपने शत्रु के प्रति वैर-भाव व्यक्त करता है और अहितकर व्यवहार करता है तो उसे हिंसक कहना ही पड़ेगा। जरथुस्त्र ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति किसी के

1. Glimpses of World Religions, p. 130.

विकास में बाधा उपस्थित करता है या किसी जीव का घात करके प्रसन्न होता है उसे अहुरामजदा निकृष्ट कोटि में रखते हैं।[1] यहाँ तक कि किसी से बदला लेने की भावना भी उनकी नजर में गलत है, क्योंकि दूसरे से बदला लेने में भी तो अनेक प्रकार के अहित होने की संभावना रहती है।[2] इतना ही नहीं बल्कि प्रतीकात्मक रूप से जो अहुरामजदा के दरबार को सुशोभित करते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—वोहुमानु (सद्‌प्रवृत्ति), अश-वहिस्त (शुद्धता और पवित्रता), क्षत्रवर (शक्ति और अधिकार), स्पेन्दमंद (प्रेम), हौरवतत (स्वास्थ्य), अमेरेतत (अमरता) तथा फायर (अग्नि)।[3] इससे साफ जाहिर होता है कि इस परम्परा में प्रेम का स्थान बहुत ही ऊँचा है। इसीलिए कहा गया है कि एक पारसी ईश्वर के साथ-साथ आदमी को भी प्यार करे। आदमी आपस में एक दूसरे को प्यार करें।[4] दान की महत्ता को प्रकाशित करते हुए यह परम्परा कहती है कि दान से सभी प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है।[5] दूसरे शब्दो में दान से सभी पाप मिटाये जा सकते हैं। सारांशतः पारसी परम्परा के आचार में ये सब आते हैं—सद्‌कर्म करना, मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना, दूसरों का भला सोचना, सत्य बोलना, दान देना, दयावान एवं विनम्र होना, ज्ञान प्राप्त करना, क्रोध को वश में करना, पवित्र बनना, माता-पिता, शिक्षक, वृद्ध एव वयस्क लोगों के प्रति आदर का भाव रखना, आनन्ददायक मधुर वचन बोलना, धैर्य रखना, सबके प्रति मैत्री भाव रखना, संतोष करना, अयोग्य कर्म करने पर लज्जित होना।[6] इन बातों से निःसन्देह अहिंसा के विधेयात्मक रूप की पुष्टि होती है।

---

१. गाथा, हा० ३४. ३.
२. पहेलवी टेक्स्ट्स।
3. Glimpses of World Religions, p. 134.
4. Ibid., p. 139.
5. Ibid.
6. Ibid., pp. 139-140.

अहिंसा के निषेधात्मक रूप के संबंध में, जो जीव की जान न लेने एवं मांस आदि ग्रहण न करने से संबंधित होता है, यहाँ पर भी जे० बन का विचार ध्यातव्य है। वे कहते हैं—निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पारसी-परम्परा में मांसाहार का विरोध किया ही गया है। फिर भी इतनी बात अवश्य है कि महात्मा जरथुस्त्र मांसाहार करना या पशुओं को मारना नहीं पसन्द करते थे। कारण, मांसाहार के संबंध में पूछने पर उन्होंने साफ असहमति व्यक्त की और अपने शास्त्र का भी हवाला देने को तैयार हुए, पर समयाभाव में मैं उसे नहीं देख सका। खैर! इतनी बात तो है ही कि पारसी शास्त्र में उन पशुओं के प्रति सद्भाव व्यक्त किया गया है और उनके प्रति सद्व्यवहार बरतने को कहा गया है जो मनुष्य के लिए हितकर हैं। किन्तु जो मनुष्य के लिए घातक हैं, जिनसे मनुष्य को डर होता है कि कहीं वे उसकी जान-माल को हानि न पहुँचा दें, उन्हें वह मार सकता है। अतः सैद्धान्तिक रूप से यह माना गया है कि हितकर पशुओं को अच्छी तरह पालना, उनके प्रति स्नेह रखना सुकर्म है और उन्हें मारना, कष्ट देना आदि दुष्कर्म है। ठीक इसके विपरीत हिंसक या घातक पशुओं को मारना सुकर्म है तथा उन्हें प्रश्रय देना दुष्कर्म है।[1] अवेस्ता के तेरहवें अध्याय में तो कुत्ते की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उसके प्रति सद्व्यवहार करने को कहा गया है, जिसकी कुछ विद्वानों ने आलोचना भी की है कि एक धर्मप्रणेता का एक कुत्ते के संबंध में इतना लिखना ठीक नहीं लगता।[2]

जैन धर्म में सभी जीवों के प्रति अहिंसा का भाव व्यक्त किया गया है और उसे देखते हुए पारसी धर्म में व्यक्त किया गया अहिंसा का भाव संकुचित प्रतीत होता है। यह केवल जीवों की उपयोगिता पर विचार करता है, उनकी जान पर या उनके दैहिक

---

1. Din-I-Dus or Religion of Spiritual Atoms, Zoroastrian Unveiled—Jehangirji Bana, p. 615.
2. Avesta—Arthur Henry Bleeck, Fargard XIII, Introduction.

कष्ट पर नहीं। महात्मा जरथुस्त्र ने सबके प्रति प्रेम एवं मित्रता का भाव रखने को कहा है। हो सकता है उनका मतलब केवल मानव जाति से ही हो, सम्पूर्ण जीव-जन्तुओं से नहीं। या हो सकता है उनके अनुयायियों ने बाद में चलकर उनके प्रवचनों को अपने लाभ-हानि को देखते हुए विश्लेषित किया हो। कारण, एक महात्मा मात्र मानव-हित की बात को ध्यान में रखकर अन्य जीवों की अवहेलना करे, यह महात्मोचित आचरण के अन्दर नहीं आता।

यहूदी परम्परा :

जातिगत उत्पत्ति के दृष्टिकोण से यहूदी लोग सेमीत्स (Semites) थे। वे बहुत दिनों तक क्रमशः सौल (Saul), डेविड (David) तथा सोलोमन (Solomon) की छत्रछाया में स्वतंत्र रूप से आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहे। सोलोमन के शासन-काल में उनका प्रसिद्ध शहर जेरूसलम (Jerusalem) अपने उत्थान की चोटी को छू रहा था। उसी समय यह्वेह (Yahveh) के प्रति अगाध श्रद्धा के रूप में एक मन्दिर की स्थापना हुई जिसके फलस्वरूप तत्कालीन धार्मिक प्रवाह बहुदेवतावाद से मुड़कर एक सर्जनात्मक धर्म-चेतना की ओर चला। यहूदी परम्परा के प्रारम्भ में चट्टानों, पशुओं (भेड़ आदि), गुफाओं और पर्वतों की देवी-देवताओं, सर्पों आदि की पूजा होती थी। लेकिन धीरे-धीरे यह्वेह को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया जिससे यहूदी धर्म में दृढ़ता और एकता की भावना का आगमन हुआ। किन्तु शीघ्र ही उसपर मिश्रवालों ने आक्रमण कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यहूदी लोग गुलाम बन गए और उनके जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यतिक्रम आ गया। बाद में मोजेज (Mozes) नामक एक यहूदी ने ही उन्हें फिर से स्वतंत्र किया और उनके सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक जीवन को प्रकाशित किया। उस समय से मोजेज ही उनका धर्म-गुरु बना और उसने ही उनके धार्मिक नियमों का प्रतिष्ठापन किया।

यहूदी धर्म-साहित्य के प्राचीन धर्मग्रन्थ (Old Testament) के पाँच विभाग, जिन्हें पेन्टाच्यूच (Pentateuch) की संज्ञा दी गई है, प्रधान हैं। उनमें न मात्र सामाजिक नियम ही हैं, बल्कि इतिहास, काव्य एवं दर्शन के भी विभिन्न रूप मिलते हैं। सर्व प्रथम मोजेज के द्वारा रचित नियम की पुस्तक का पाठ एक प्रसिद्ध पण्डित एज्रा (Ezra) ने ईसा पूर्व ४४४ में किया था। मोजेज के द्वारा प्रतिपादित धार्मिक नियमों की ख्याति आज भी दस धर्मादेश (Ten Commandments) के रूप में देखी जाती है। इनमें से छठा आदेश है—किसी को मत मारो। इतना ही नहीं बल्कि आगे सातवें से दसवें तक क्रमशः कहा गया है—व्यभिचार मत करो, चोरी मत करो, पड़ोसी के खिलाफ गलत धारणा मत बनाओ एव पड़ोसी की स्त्री, नौकर, नौकरानी, बैल, गधे आदि को लोलुपता की दृष्टि से कभी भी न देखो।[1] इन नियमों को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि यहूदी परम्परा में अहिंसा के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों ही रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

खासतौर से बन्धुत्व के भाव को यहूदी धर्म में विभिन्न प्रकारेण विवेचित किया गया है। इसमें कहा गया है—बन्धुत्व का प्रेम जाति एव धर्म की सीमाओं से ऊपर है, इसलिए अपने पड़ोसी को प्यार करो, उसके प्रति मन में घृणा का भाव मत रखो, न प्रतिकार का विचार मन में लाओ और न उससे ईर्षा ही करो। जब भाईचारे का भाव मन में स्थापित हो जाता है तो सहज ही घृणा का भाव दूर हो जाता है। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं ऐसा समझकर सबसे प्यार करो। पड़ोसी से प्यार करना ही सबसे बड़ा न्याय है और पड़ोसियों या साथियों से घृणा करना ईश्वर से घृणा करना है। अतएव, यदि तुम्हारा भाई—पड़ोसी निर्धन है, पतन की अवस्था में है तो उसे गरीबी से मुक्त करो, यदि वह कोई आगन्तुक या प्रवासी ही है तो क्या; वह तुम्हारे साथ रह सकता है। तुम अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम स्वयं अपने प्रति चाहते हो। उनके साथ वाचिक रूप से भी गलत

1. G. W. R., p. 147.

व्यवहार न करो। अपने संगी-साथियों की किसी भी प्रकार की सेवा करना सुकर्म या सुकृति है।[1]

इस प्रकार यहूदी धर्म ने मानवता के प्रति सम्मान, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति आदि को ईश्वर के प्रति प्रेम या विश्वास के परिचायकों में स्थान दिया है। क्योंकि ये सब सदाचार हैं। इसके विपरीत क्रोध, विलास, गरीब, कमजोर, विधवा स्त्री एवं अनाथ बच्चों को सताना, व्यापार में बेईमानी, लाभ के लिए नीच आचरण को अपनाना, कर्जदारों के प्रति रुष्टता प्रदर्शित करना आदि दुराचार हैं। यहाँ तक कि दया और प्रेम को इसमें ईश्वर का ही रूप माना गया है।[2]

इस प्रकार यहूदी परम्परा का अहिंसा-सिद्धान्त अपने विधेयात्मक रूप में प्रेम और दया को प्रधानता देता है। कारण, यहूदी लोग मिश्र के द्वारा पराजित होने के बाद से स्वतंत्रता के पहले तक गरीबी का जीवन व्यतीत करते रहे और आपस के संगठन के आधार पर ही मोजेज ने उन्हें स्वतंत्रता प्रदान की। इसी वजह से दया और प्रेम (संगठन) को कायम रखना उनके लिए अनिवार्य भी था।

ईसाई-परम्परा :

ईसाई-परम्परा के जन्मदाता महात्मा ईसा मसीह थे, जिनके नाम से ईस्वी सन् प्रचलित है। उनका आविर्भाव आज से प्रायः १६७१ वर्ष पूर्व गैलिली के नाजरेथ शहर में हुआ था। उनकी माता का नाम मेरी और प्रतिपालक पिता का नाम जोसेफ था। जीवन के प्रारम्भ में महात्मा मसीह ने, जिनका घरेलू नाम जेसस था, अपने वंशगत व्यवसाय बढ़ईगिरी की ओर हाथ बढ़ाया, किन्तु बाद में पैलेस्टाइन के एक प्रसिद्ध संस्कार प्रतिपादक जॉन के विचारों से प्रभावित होकर धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। उनकी मातृभाषा हेब्रयु मिश्रित सिरियन थी, जिसमें मौखिक रूप

1. G. W. R., p. 157.
2. Ibid., p. 158.

से ही उन्होंने अपना उपदेश दिया। फिर भी उनके उपदेशों की जानकारी के ये पाँच स्रोत हैं—

१. गॉसपेल्स तथा नयी टेस्टामेंट (Gospels and the writings of New Testament)
२. एपोक्राइफा (Apocrypha)
३. फिलो की कृतियाँ (Works of Philo)
४. एनॉक का ग्रन्थ (Book of Enoch)
५. डेनियल का ग्रन्थ (Book of Daniel)

ईसा से पूर्व प्रचलित धर्मादेशों में ये सब उपदेश प्रसिद्ध थे—व्यभिचार मत करो, हिंसा मत करो, चोरी मत करो, गलत साक्षी मत बनो एवं माता-पिता के प्रति श्रद्धा का भाव रखो। इन नैतिक नियमों को ईसा ने स्वीकार किया, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन इन सभी का विश्लेषण उन्होंने अपने ढंग से किया। उन्होंने सर्व साधारण को सूचित करते हुए कहा कि यद्यपि पहले से ऐसा कहा गया है कि किसी की हत्या न करो अन्यथा जो किसी की हत्या करेगा वह निर्णयात्मक दोष का भागी होगा। लेकिन मैं कहता हूँ कि जो बिना किसी कारण ही अपने भाई से नाराज हो जाता है वह निर्णयात्मक दोष का भागी बन जाता है। अतएव यदि तुम किसी वेदी पर कुछ चढ़ाने जा रहे हो यानी कोई पूजा-पाठ करने जा रहे हो और इस बात से तुम्हारा भाई सहमत नहीं है तो पहले अपने भाई की सहमति ले लो फिर पूजा-पाठ प्रारम्भ करो।[1] कारण, ऐसा न करने से आपस का प्रेम भंग हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक परेशानियाँ आ सकती हैं। आगे चतुर्थ धर्मादेश को सामने रखते हुए उन्होंने कहा है कि 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त बिल्कुल गलत है। आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत निकाल लेने से समस्या का वास्तविक समाधान नहीं मिल सकता। ऐसा करने से शान्ति मिल जाए यह भी नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी भी दुर्व्यवहार का प्रतिकार न करो। यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मार देता है तो दूसरा भी गाल उसके सामने

1. Bible, Matthew V.

कर दो।[1] यदि कोई तुम्हारा कोट लेना चाहता है तो तुम अपना अंगरखा (Cloak) भी दे दो। यदि कोई तुम्हें अपने साथ एक मील चलने को बाध्य करता है तो उसके साथ दो मील तक जाओ। जो कुछ भी तुमसे कोई मांगता है उसका स्वामित्व तुम उसे दे दो और फिर उस व्यक्ति से उधार मांग लो, उसे लौटाओ नहीं। पुन: आपस के प्रेम को प्रकाशित करते हुए उन्होंने पंचम धर्मादेश में कहा है कि पुराने सिद्धान्त पर ध्यान मत दो, जो कहता है—'पड़ोसी को प्यार करो और शत्रु से घृणा करो'। बल्कि शत्रु को प्यार करो, जो तुम्हें शाप दे उसे वरदान दो; जो तुम्हारा बुरा करे उसका भला करो; और जो तुम से ईर्ष्या करता है तुम पर किसी प्रकार का अभियोग लाता है, उसके लिए दुआ करो। तभी तुम अपने उस पिता (ईश्वर) की सच्ची सन्तान बन पाओगे, जो स्वर्ग में रहता है और सूर्य को समान रूप से बुरी या भली प्रकृति वालों को धूप प्रदान करने को और बादल को समान रूप से न्यायी या अन्यायी को जल देने को प्रेरित करता है।[2] इस प्रकार ईसाई-परम्परा में जन-जीवन के प्रेम को ईश्वर-प्रेम का रूप दिया गया है, जो अनियंत्रित है जिसमें न कोई गांठ है, और न कोई सीमा ही है।[3] सचमुच प्रेम ही अहिंसा है या अहिंसा ही प्रेम है। प्रेम के बिना अहिंसा और अहिंसा के बिना प्रेम की कल्पना की ही नहीं जा सकती। प्रेम भी वहीं होता है जहाँ प्रतिकार या द्वेष की भावना का लोप होता है। इसीलिए ईसाई-परम्परा में माना गया है कि जहाँ पर विनम्रता एवं विश्व-बन्धुत्व के भाव पाए जाते हैं वहीं पर ईश्वरीय राज्य होता है।[4] ईश्वर की सेवा का अर्थ होता है पूरे मानव समाज के ईश्वर की सेवा, मात्र किसी एक धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की ही नहीं। ईश्वरीय राज्य पर तो गरीबों एवं अवहेलितों का अधिकार होता है। धनी वर्ग से इस ईश्वरीय राज्य के सम्बन्ध को दिखाते हुए ईसा ने कहा है कि एक ऊँट का सूई

1. Bible, Matthew V.
2. Ibid.
3. G.W.R., p. 172.
4. Ibid., p. 170.

के छिद्र में प्रवेश करना संभव मान लिया जा सकता है लेकिन एक धनी व्यक्ति का ईश्वरीय-राज्य में स्थान पाना बिल्कुल संभव नहीं है।[1] इन बातों से ईसा मसीह ने अहिंसा के आर्थिक एवं सामाजिक रूप पर प्रकाश डाला है।

दान को भी इस परम्परा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि आध्यात्मिक प्यार दान का ही साररूप है[2] यानी दान के द्वारा ही आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया जा सकता है। जिस प्रकार जहाँ आध्यात्मिक या दैवी ज्ञान एवं प्यार होता है वहाँ ईश्वर होता है, ठीक उसी तरह वास्तविक आस्था एवं दान में भी ईश्वर का वास होता है। या यों कहा जाए कि सच्ची आस्था एवं सही दान ही ईश्वर है तो कोई अनुचित न होगा। ईश्वर, आस्था एव दान को अलग नहीं किया जा सकता। कारण, ईश्वर से अलग होने के बाद या तो इन दोनों का अस्तित्व ही नहीं रह जाता और यदि रहता भी है तो अपूर्ण या असफल रूप में। यदि कोई ईश्वर को जानने का दावा करता है और वह दान के महत्त्व को नहीं जानता है इसका मतलब है कि वह ईश्वर को अधूरा ही जानता है। वह ईश्वर को ओठों से ही जानता है दिल से नहीं, अर्थात् उसे केवल किताबी ज्ञान की प्राप्ति हो सकी है हार्दिक ज्ञान की नही। क्योंकि दान ही तो उस आस्था का सार है, जिसके द्वारा ईश्वर को जाना जा सकता है।[3]

ईसा ने अपने अनुयायियों को समझाते हुए ऐसा भी कहा है–'मेरा मास ही वास्तविक मांस है और मेरा खून ही शुद्ध पेय है। जो मेरा मांस खाता है और मेरा खून पीता है वह मुझ में रहता है और मैं उसमें रमता हूँ'[4]। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि मसीह मांस आदि ग्रहण करने के पक्ष में थे। उन्होंने मांस तथा खून का व्यवहार प्रतीकात्मक ढंग से किया है। उनके व्यवहार में

1. G. W. R., p. 182.
2. True Christian Religion, p. 420.
3. G. W. R., p. 422.
4. Bible, John VI, 53-5, 56.

मांस शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक श्रेय (Spiritual good) एवं खून का अर्थ है सत्य (Truth)। कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने मांस को रोटी और खून को मदिरा कहा है।[1] फिर भी ईसाई परम्परा में मांसादि अधिकांशतः खाया जाता है जो आर्थिक या शारीरिक लाभ से सम्बन्ध रखता है, धर्म से नहीं।

इस प्रकार ईसाई-परम्परा अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष से प्यार, दान आदि विधेयात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है।

इस्लाम-परम्परा :

इस्लाम का केन्द्र स्थान अरब है। इससे पहले वहाँ पर बहु-देवतावाद (Polytheism) एवं घोर मूर्तिपूजन (Gross idolatry) से लेकर दृढ़ अदेवतावाद (Rigid atheism) का प्रसार था। किन्तु मुहम्मद साहब, जिनका जन्म मक्का में अब्दुल्ला और अम्ना के पुत्र के रूप में २० अप्रैल ५७१ ई० को हुआ था, ने वहाँ के जन-जीवन को अपने एक नए धार्मिक-विचार से प्रकाशित किया और उन्हीं की दी गई ज्ञान-ज्योति इस्लाम के नाम से जानी गई। इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों की जानकारी प्रमुखतः चार ग्रन्थों से होती है—

१. कुरान (The Quran), २. सुन्ना (The Sunna), ३. इज्म (The Ijma), ४. किअस (The Qias)।

इस धर्म ने ईश्वर में विश्वास करने, धर्म-पथ प्रदर्शकों के विचारों पर आस्था रखने, गरीबों और कमजोरों के प्रति दया-भाव व्यक्त करने की सीख दी है।[2] इसमें गाली (abuse), क्रोध (anger), लोभ (avarice), चुगली खाना (back-biting) खून-खराबी (blood-shedding), रिश्वत लेना (bribery), झूठा अभियोग (calumny), बेईमानी (dishonesty),

1. True Christian Religion, p. 746.
2. G.W.R., pp. 201-202.

मदिरा-पान (drinking), ईर्ष्या (envy), चापलूसी (flattery), लालच (greed), पाखण्ड (hypocrisy), असत्य (lying), कृपणता (*miserliness*), अभिमान (*pride*), कलङ्क (*slandering*), आत्म-हत्या (suicide), अधिक ब्याज लेना (usury), हिंसा (violence), उच्छृंखलता (wickedness), युद्ध (warfare), हानिप्रद कर्म (wrong-doings) आदि को हमेशा ही त्याज्य समझा है और ठीक इसके विपरीत भाईचारा (brotherhood), दान (charity), स्वच्छता (cleanliness), ब्रह्मचर्य (chastity), क्षमा (forgiveness), मैत्री (friendship), कृतज्ञता (gratitude), विनम्रता (humility), न्याय (justice), दया (kindness), श्रम (labour), उदारता (liberality), प्रेम (love), कृपा (mercy), संयम (moderation), सुशीलता (modesty), पड़ोसीपन का भाव (*neighbourliness*), हृदय की शुद्धता (*purity* of heart), सदाचार (righteousness), धैर्य (steadfastness), सत्य (truth), विश्वास (trust) को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[1]

इससे साफ जाहिर होता है कि इस्लाम-परम्परा ने उन तत्त्वों की अवहेलना की है जिनसे हिंसाभाव की उत्पत्ति या वृद्धि होती है और उन तत्त्वों को अपनाया है जिनसे अहिंसाभाव की पुष्टि होती है एव अहिंसा सिद्धान्त का विकास होता है।

दान देने के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कुरान में कहा गया है कि दान तो तब सही रूप लेता है जब कोई बिना किसी हिच-किचाहट के या बिना किसी को कोई कष्ट दिए ही किसी को कुछ देता है। यदि दान देने में किसी प्रकार की परेशानी ली गई या महसूस की गई तो उससे कहीं ज्यादा अच्छा है कि किसी से मधुर संभाषण किया जाए तथा उसके प्रति क्षमा भाव रखा जाए, कारण, खुदा स्वयं धन, वैभव का सर्वोच्च अधिष्ठाता होते हुए भी सरल

1. G. W. R., p. 203.

एवं विलग्न है।[1] कुरान का श्रीगणेश ही खुदा को उदार एवं दयावान कहकर संबोधित कर किया गया है।[2] फिर भी कुरान ऐसा एलान करता है कि खुदा किसी को बिना किसी उचित कारण के मारने के लिए हेदायत करता है और यदि कोई किसी की हत्या बिना सही कारण के ही कर देता है तो खुदाई कानून के अनुसार आगे वह भी (जिसकी हत्या होती है यानी हिंसित) हिंसक की हत्या करने का अधिकारी बन जाता है। लेकिन ऐसा वह स्वेच्छा से नहीं कर सकता, उसे खुदाई कानून का सहारा तो लेना ही पड़ेगा।[3]

किन्तु किसी जीव की हत्या करने के लिए उचित कारण क्या हो सकता है? यह एक समस्या-सी उठ खड़ी होती है। इसके संबंध में कुछ जानकारी वहाँ से हो सकती है जहाँ पर मौदुदी (Maududi) ने ईश्वर, आत्मा, मनुष्य एव विभिन्न जीवों के अधिकारों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि खुदा ने आदमी को अन्य सभी जीवों पर अधिकार देकर उसे सम्मानित किया है। आदमी अन्य जीवों को अपने काम में ला सकता है, लेकिन उनका दुरुपयोग नहीं कर सकता। खुदा की ओर से उसे इतनी छूट नहीं मिली है कि वह चाहे जिस कदर भी उन्हें परेशान करे। यदि अन्य जीवों को आदमी अपने काम में लाता है तो उसे कोशिश करनी चाहिए कि उन्हें कम से कम कष्ट हो। उदाहरणस्वरूप आदमी अपने भोजनार्थ पशुओं की हत्या कर सकता है लेकिन खेल के लिए या अन्य किसी प्रसन्नता के लिए वह ऐसा नहीं कर सकता। और इसमें भी हत्या करने के एक विशेष तरीके को अपनाना चाहिए जिसे ज़भ (Zabh) कहते हैं, क्योंकि इस तरीके से मारने पर जीव को कम कष्ट होता है। जगली हिंसक पशुओं की हत्या करने के लिए भी यह परम्परा छूट देती है क्योंकि हिंसक पशुओं से मनुष्य का जीवन ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। लेकिन इसमें पशुओं को कम

1. Quran, Tr. E. H. Palmer, Part I, Chapter II, 265, p. 42.

२. "बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम" कुरान १. १.

3. Quran, Part II, Chapter VIII, 35. p. 4.

भोजन देना और उनपर चढ़ना, सामान लादना, पक्षियों को पिंजरे में बन्द करके रखना आदि का विरोध किया गया है। यहां तक कि इस्लाम वृक्षों को भी काटने के लिए नहीं कहता, क्योंकि वे फल देते हैं।[1]

परन्तु खुदा, जिसे समदृष्टि वाला माना जाता है, मनुष्य के प्रति इतना उदार और अन्य जीवों के प्रति इस तरह निर्मम कैसे बन गया कि उसने आदमी को अन्य पशुओं को अपने काम में लाने के लिए इस कदर स्वतंत्र कर दिया। इससे तो इस्लाम का खुदा एकांगी और पक्षपाती दीखता है। या हो सकता है कि इस धर्म के अनुयायियों ने अपनी सुविधा को देखकर खुदा का हवाला देते हुए कुरान के धर्मादेशों को अपने अनुसार विश्लेषित कर लिया हो या उसमें कुछ वृद्धि ही कर दी हो। अन्यथा यह कितना अस्वाभाविक है कि जो खुदा भूखे पशुओं के उस दर्द को महसूस कर सकता है जो भूख से पैदा होता है वह पशुओं की उस पीड़ा को समझ नहीं सकता जो भोजन के लिए मनुष्यो के द्वारा की गई उनकी हत्या से होती है।

ताओ एवं कनफ्यूशियस :

चीन में तीन धर्मों का प्रसार है—बौद्ध, ताओ और कन्फ्यूशियस। ताओ धर्म के प्रणेता लाओत्से (Lao-Tze) हो गए हैं जिनका प्रादुर्भाव चुझ्रेण (Chu-Jhren) गाँव में ईसा पूर्व सन् ६०४ में हुआ था। उनका पहला नाम 'ली' था। 'ली' का अर्थ होता है कर्कन्धू या बेर (Plum)। ऐसा नाम उन्हें इसलिए दिया गया कि उनका जन्म कर्कन्धू-वृक्ष के नीचे हुआ था। वे बड़े ही चमत्कारी व्यक्ति थे। अपने समय के राजनीतिक एवं सामाजिक भ्रष्टाचार से ऊबकर वे चीन को ही छोड़ने वाले थे लेकिन लोगों ने उनसे पुस्तक लिखने के लिए आग्रह किया। फिर उन्होंने करीब पाँच हजार शब्दों की 'ताओ-तेह-किंग' नामक एक पुस्तक लिखी

1. Towards Understanding Islam—Sayyid AbulA'la Maududi, pp. 186-187.

जिसके दो भाग हैं—ताओ और तेह। इन्हीं दो भागों में लाओत्से के वास्तविक उपदेश प्राप्त होते हैं।

लाओत्से ने जीवन की सरलता पर सबसे ज्यादा जोर दिया है। जीवन को सही ढग से व्यतीत करने के लिए उन्होंने जो राह दिखाई है उसके ये सब संबल प्रधान हैं :

१. कार्य करना पर उसके कर्तापन पर विचार न करना।
२. कर्म करना पर उससे उत्पन्न दु:ख-दर्द को महसूस न करना।
३. भोजन ग्रहण करना पर उसके अच्छे-बुरे स्वाद पर विचार न करना।
४. छोटे को भी बड़ा समझना।
५. थोड़े को भी अधिक समझना।
६. हिंसा से उत्पन्न घाव पर प्यार का मरहम और दया की पट्टी लगाने का भाव रखना।

यहाँ तक कि राजनैतिक जीवन में भी खून-खराबी हो, इसका लाओत्से ने विरोध किया है। उनका कथन है कि जो बादशाह जनता की निर्मम हत्या में विश्वास करता है या दूसरों की हत्या में आनन्द लेता है, वह कभी-भी एक सफल एवं कुशल शासक नहीं समझा जा सकता।[1]

कनफ्यूशियस परम्परा अपने जन्मदाता कनफ्यूशियस के नाम से ही प्रसिद्ध है। कनफ्यूशियस का जन्म चुफु (Chufu) गाँव में शु-लियांग-हो (Shu-Liang-Ho) के पुत्र के रूप में ईसा पूर्व सन् ५५१ में हुआ था। उनका वास्तविक नाम कुंग-फु-त्से-कुंग (K'ung-fu-tze-Kung) था। किन्तु प्रथम पाश्चात्य यात्री, जिसने यूरप से चीन की यात्रा की थी, ने उनके नाम का सही उच्चारण न करने के कारण लैटिन (Latin) भाषा में उसे कनफ्यूशियस (Confucius) के रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने कोई नया धर्म या नीति नहीं दी किन्तु पहले से आते हुए

1. Great Asian Religions, p. 154.

धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों को अपने ढंग से इस तरह विश्लेषित किया कि उनके द्वारा किए गए विश्लेषण ने ही एक नई परम्परा को जन्म दे दिया, जैसे वैदिक परम्परा में शंकराचार्य के द्वारा किया गया उपनिषदों का विवेचन ही अपने आप में एक दर्शन बन गया है। फिर भी कनफ्यूशियस साहित्य में पाँच ग्रन्थ आते हैं :

१. प्रमाण साहित्य (Book of Records) ।
२ लघु-गान साहित्य (Book of Odes) ।
३. परिवर्तन साहित्य (Book of Changes) ।
४. वसन्त एवं शरद साहित्य (Spring and Autumn Annals) ।
५. इतिहास (Book of History) ।

कनफ्यूशियस के विचारों में श्रेष्ठजन (Superiors) की कल्पना की गई है और उनमें अच्छे गुणों का होना आवश्यक बताया गया है। इसी सिलसिले पर कहा गया है कि एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं[1] :

१. जब तक शारीरिक विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है, उन्हें मांस ग्रहण करने में स्वतंत्र नहीं होना चाहिए ।
२. युवापन में, जब जवानी मदमाती हुई हो, युद्ध करने की प्रवृत्ति पर रोकथाम रखनी चाहिए ।
३. वृद्धावस्था में अभिलाषाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए ।

इससे लगता है कि कनफ्यूशियस ने मांसादि ग्रहण करने का पूर्णतः विरोध नहीं किया है। यदि कोई इस पर नियंत्रण करता भी है तो मात्र एक उम्र विशेष तक ही, जीवन के पूरे समय तक नहीं ।

किन्तु अपने शिष्यों के विभिन्न प्रश्नों का उत्तर देते हुए कनफ्यूशियस ने यह भी कहा है—'जीवन के प्रवाह में प्यार की

1. G. W. R., p. 225.

बाढ़ ला दो और मैत्री का संचार करो"[1]। जो लोग अच्छे होते हैं वे सबको प्यार करते हैं, दूसरों की अच्छाई को देखते तथा अपनी ही तरह दूसरों का भी उत्थान चाहते हैं। एक श्रेष्ठ व्यक्ति पीड़ितों की सहायता करता है लेकिन धनवानों के लिए धन-वैभव की वृद्धि नहीं करता। चार समुद्रों के आस-पास जितने भी लोग हैं ये सब उसके भाई हैं। यदि तुम दान करते हो तो दिल का दान (Charity of heart) करो, यानी मात्र दानी कहलाने के लिए किसी को कुछ मत दो बल्कि जिसे तुम कुछ देते हो उसके प्रति हार्दिक सहानुभूति रखो। सब एक-दूसरे को प्यार करो। जो श्रेष्ठ होता है वह सबके प्रति सहानुभूति रखता है। वह दूसरों की महानता या विशिष्टता को देखकर द्वेष नहीं करता। वह निम्न आचरण के व्यक्ति को देखकर घृणा नहीं करता। बल्कि वह अपने आपके आन्तरिक रूप का अध्ययन करता है अर्थात् वह अपने में देखता है कि क्या वे कलुषित भाव उसमें भी हैं जो दूसरों में वह देख रहा है। वह उत्तेजक बातों पर ध्यान नहीं देता, सबके प्रति विनम्र भाव रखता है लेकिन चापलूसी करना पसन्द नहीं करता। वह अपने से निम्नस्तरीय लोगों के प्रति द्वेष भाव नहीं रखता और न उच्चस्तरीय लोगों से पक्षपात ग्रहण करने का भाव रखता है।[2]

इन बातों को देखने से मालूम होता है कि भले ही कनफ्यूशियस ने निषेधात्मक अहिंसा पर उतना जोर नहीं दिया हो, लेकिन विधेयात्मक अहिंसा पर अधिक बल दिया है और खास तौर से सामाजिक समानता को तो उसने अपनाया ही है।

सूफी सम्प्रदाय :

सर्वप्रथम 'सूफी' शब्द सन् ८१५ ई० में प्रकाश में आया। विभिन्न विद्वानों ने इसके अलग-अलग अर्थ लगाए हैं। अबू नस्र अल-सर्राज ने अपनी पुस्तक 'किताब अल-लुमा' में 'सूफी' शब्द पर विचार करते हुए बतलाया है कि 'सूफी' शब्द अरबी 'सूफ' शब्द

1. G. W. R., p. 233.
2. G. W. R., pp. 233-234.

से निकला है जिसका अर्थ 'ऊन' है।"[1] हुजवीरी ने कहा है कि सूफी शब्द 'सफा' से निकला है।[2] किन्तु अधिकांश लोग 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति 'सूफ' से ही मानते हैं, क्योंकि ऊन का व्यवहार पैगम्बरों के द्वारा बहुत दिन पहले से ही होता आ रहा है। इस परम्परा के जन्म के बारे में विश्वास किया जाता है कि महात्मा मुहम्मद ही इसके भी जन्मदाता थे। कारण, इसका विकास इस्लाम से ही हुआ है। मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे, जिनमें से एक को उन्होंने कुरान के माध्यम से व्यक्त किया और दूसरे को अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान सब लोगों के लिए प्रसारित किया गया लेकिन अपनी हार्दिक ज्योति को कुछ अपने चुने हुए शिष्यों में प्रतिष्ठापित कर दिया। उनका किताबी ज्ञान (कुरान का ज्ञान) 'इल्म-ई-सफिन' (Ilm-i-Safina) और हार्दिक ज्ञान 'इल्म-ई-सिन' (Ilm-i-Sina) था। वह हार्दिक ज्ञान रहस्यपूर्ण था जिसे धारण करने वाले रहस्यकारी सूफी कहलाए।[3] ९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मारूफ अल-करखी ने सूफी मत को परिभाषित करते हुए कहा है—'परमात्मा विषयक सत्यासत्य का ज्ञान और सांसारिक वस्तुओं का परित्याग ही सूफी मत है।"[4] ऐसी स्थिति में तो हिंसा-अहिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। कारण, जहाँ किसी वस्तु के प्रति लोभ, किसी व्यक्ति के प्रति राग या किसी वस्तु के प्रति हेय भाव और किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष भाव होता है, वहीं हिंसा होने की संभावना होती है। लेकिन संसार से पूर्णतः सन्यास ले लेने पर तो ऐसी समस्या ही उठ खड़ी नहीं होती है।

इतना ही नहीं, सूफी प्रेम की आवाज सबसे ज्यादा बुलन्द करते हैं। वे परमात्मा को प्रियतम मानते हैं और ऐसा सोचते हैं कि सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के निकट पहुँचा जा सकता

---

१. सूफीमत-साधना और साहित्य—रामपूजन तिवारी, पृ० १६९.

२. वही, पृ० १७१.

3. G. W. R., p. 258.

४. सूफीमत-साधना और साहित्य, पृ० २१२.

है। मानवीय प्रेम तो आध्यात्मिक प्रेम का साधन है।[1] प्रेम ईश्वर के सार का भी सार है और ईश्वर-पूजन का यह सर्वोच्च रूप है।[2]

इस तरह जहाँ प्रेम को अपनाया गया है वहाँ हिंसा हो सकती है, ऐसा सोचना गलत नहीं तो और क्या होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि सूफी परम्परा में भी अहिंसा के सिद्धान्त को अच्छा प्रश्रय मिला है।

शिन्तो-परम्परा :

शिन्तो (Shinto) जापान का वह धर्म है जिसकी उत्पत्ति जापान में ही हुई थी। इससे जापान की धार्मिक भूमिका का पता लगता है, क्योंकि जिस समय शिन्तो मत का प्रादुर्भाव हुआ उस समय जापान में अन्य किसी बाहरी धर्म का आगमन नहीं हो पाया था। उस समय जापानी लोग प्रकृति की पूजा करते थे। परन्तु बाद में वहाँ बौद्ध धर्म ने भारत से जाकर अपनी जड़ जमा ली।

शिन्तो का शाब्दिक अर्थ होता है देव-मार्ग अर्थात् देवताओं तक पहुँचाने वाला या उनकी सन्निकटता प्राप्त कराने वाला मार्ग (The way of the gods)। शिन्तो शब्द के अन्त में जो 'तो' लगा है वह चीन के ताओ (Tao) का प्रभाव है। 'शिन्तो' वास्तव में चीनी शब्द है जिसका समानार्थक जापानी में 'कामी नो मीची' (Kami no michi) होता है। इसका भी अर्थ होता है श्रेष्ठजन तक ले जाने वाली राह।[3]

इस परम्परा के प्रधान ग्रन्थ कोजिकी (The Kojiki), निहोन्गी (The Nihongi), मन्यो शिउ (The Manyo-shiu), तथा येन्गी शिकी (The Yengi shiki) हैं जिनका रचना-काल क्रमशः सन् ७१२ ई०, सन् ७२० ई०, ८वीं एवं ९वीं शती के बीच

१. वही, पृ० ११६.
2. G. W. R., p. 266.
3. Shintoism—A. C. Underwood, p. 14,

इसका सन् ६८१-७१२ ई० है। कोजिकी को जापानियों का बाइबल 'The Bible of the Japanese' कहते हैं। इसकी भाषा जापानी एवं चीनी मिश्रित है।[1]

शिन्तो धर्म के मठ आदि में सरलता को प्रमुखता दी गई है। इसके कर्म-काण्ड में कोई जटिलता नहीं दिखाई पड़ती। इसमें पूजन आदि के समय किए गए अर्पण को सम्मान का रूप दिया गया है और जो चीजें देवों को अर्पित करने की समझी जाती हैं वे हैं—चावल, रोटी, फल, शाक-भाजी, सामुद्रिक वनस्पति, सूअर के बच्चे, खरगोश तथा चिड़ियों का मांस।[2] इससे लगता है कि पूजा-पाठ में मांसादि के व्यवहार को शिन्तो-परम्परा में गलत नहीं समझा गया है।

बाद के दिए गए धर्मादेश इस प्रकार हैं :

१. ईश्वरी इच्छा का उल्लंघन न करो।
२. अपने पितृजन के प्रति अपनी कृतज्ञता को न भूलो।
३. राज्य-शासन का विरोध न करो।
४. देवों के उदार सद्गुणों को न भूलो जिनसे आपदाएँ दूर होती हैं, बीमारी नष्ट होती है।
५. यह भी नहीं भूलो कि संसार एक परिवार है।
६. अपनी शक्ति का सही अन्दाज करो।
७. दूसरों के क्रोधित हो जाने के बावजूद भी तुम स्वयं क्रोधित न हो।
८. काम में आलस्य मत करो।
९. धर्मोपदेशों पर दोषारोपण मत करो।
१० विदेशी धर्मोपदेशों के प्रभाव में मत आओ।[3]

इन उपदेशों में यह कहा गया है कि यह संसार एक परिवार है। जब संसार को कोई व्यक्ति परिवार के रूप में देखता है तब इसका

1. Ibid; Vide also, pp. 15-16.
2. G. W. R., p. 278.
3. G. W. R., p. 280.

मतलब होता है कि वह सभी लोगों को अपने भाई-बन्धु के रूप में देखता है, फिर तो न कोई ईर्ष्या या द्वेष हो सकता है और न हिंसा ही। इससे भी आगे बढ़कर क्रोध को रोकने के लिए आदेश दिया गया है। भले ही कोई दूसरा नाराज हो जाए लेकिन स्वयं नाराज न होना चाहिए। यहाँ भी हिंसा की जड़ पर कुठाराघात किया गया है।

द्वितीय अध्याय

अहिंसा-सम्बन्धी जैन साहित्य

जैन साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) महावीर के पहले का साहित्य एवं (२) महावीर से बाद का साहित्य। महावीर से पूर्व जो जैन साहित्य था, वह अभी उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके प्रमाण मिलते हैं। इसमें कोई शंका की गुंजाइश भी नहीं दीखती कि महावीर से पहले जैन-साहित्य था, क्योंकि महावीर से पहले भी तीर्थंकर हो चुके हैं और उनके विचारों से भी हम परिचित हैं। चूंकि उस साहित्य का निर्माण महावीर से पूर्व हुआ, अतः वह 'पूर्व' नाम से ही सम्बोधित हुआ और उसका समावेश दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में हुआ। पूर्व चौदह थे।[1]

महावीर से बाद का साहित्य वह है जिसमें महावीर के प्रवचन या सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। महावीर ने अपने धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों को न तो संकलित किया और न कोई साहित्यिक रूप ही उन्हें दिया। किन्तु उनके शिष्यों तथा अन्य आचार्यों ने उनके उपदेशों को संकलित करके उन्हें एक साहित्यिक रूप दिया और इसी आधार पर उस साहित्य को दो विभागों में विभाजित किया जाता है—(१) अंग-प्रविष्ट जिनकी रचना (संकलन) गणधर यानी महावीर के शिष्यों के द्वारा हुई, (२) अंग-बाह्य जिनकी रचना अन्य आचार्यों के द्वारा हुई। किन्तु समय की दौड़ में धीरे-धीरे वह साहित्य लुप्त होने लगा, तब जैन श्रमणों ने तीन बार महासम्मेलन करके उसे फिर से संकलित किया तथा मिटने से बचाया।

---

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन, पृष्ठ ५१, ५२.

जैन आगमिक साहित्य के अंग, उपांग, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभिन्न भाग हैं, जिनमें जैन-विचारधारा दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक आदि अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रवाहित होती है। जैनाचार यद्यपि सम्पूर्ण जैन साहित्य में पल्लवित एवं पुष्पित होता है, इसके मूलस्रोत अंग हैं। अंग बारह हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत-दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टि-वाद (लुप्त)। इनमें से निम्नलिखित अहिंसादि आचारकर्मों पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

आचारांग :

आचारांग समग्र जैन आचार की आधारशिला है। उपलब्ध समग्र जैन साहित्य में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन-तम है, यह इसकी प्राकृत-भाषा, तन्निष्ठ शैली एवं तद्गत भावों से सिद्ध है।[1] प्रधानतौर से यह दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित हुआ है, जिनमें से प्रथम गणधर रचित तथा दूसरा स्थविर रचित है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन हैं—शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, लोकसार, धूत, महापरिज्ञा जो अब उपलब्ध नहीं है, विमोक्ष तथा उपधानश्रुत। ये अध्ययन उद्देशकों में विभक्त हैं जिनकी संख्या ४४ है, और ये उद्देशक ब्रह्मचर्य कहे जाते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग संयम यानी समता अर्थात् अहिंसा के लिए किया गया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में, जिसे नियुक्तिकार ने 'आचाराग्र' कहा है, पांच चूलाएँ हैं, जिनमें १७ अध्ययन हैं। विषय की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन निम्न प्रकार से हैं—

प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक—सुधर्मा स्वामी ने जम्बु स्वामी से वार्तालाप करते हुए इस उद्देशक में आत्मा का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया है, साथ ही कर्म-बन्धन के कारणों एवं फलों की भी चर्चा की है। इसके ग्यारहवें सूत्र में हिंसा के कारण को बताते हुए कहा है कि बहुत से संसारी जीव अपने को दीर्घायु बनाने, यश

१. प्राकृत और उसका साहित्य—डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ ४.

प्राप्त करने, पूजा-पाठ सम्पन्न करने, जन्म-मरण आदि से मुक्ति पाने के हेतु हिंसा आदि दुष्कर्म करते हैं।[1]

द्वितीय उद्देशक—इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार पृथ्वीकाय जीवों की हिंसा होती है और साधु को उस हिंसा से कैसे बचना चाहिए।

तृतीय उद्देशक—इस उद्देशक में बताया गया है कि अप्काय में भी चेतना होती है, इसे भी स्पर्शादि से पीड़ा पहुँचती है। अतः मुनि को अप्काय जीवों की रक्षा का उतना ही ध्यान रखना चाहिए जितना कि और जीवों के लिए।

चतुर्थ उद्देशक—इसमें तेजस्काय की हिंसा को त्यागने का विधान किया गया है क्योंकि अप्काय की तरह तेजस्काय भी चेतनायुक्त *होता है और उसे भी कष्ट की अनुभूति होती है। अग्निकाय यानी* तेजस्काय के आरम्भ का निषेध करते हुए कहा गया है—

"अग्निकाय के आरम्भ से होने वाले अनर्थ को जानकर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरम्भ को करता रहा हूँ, इस समय उसका परित्याग करता हूँ।"[2]

पंचम उद्देशक—इस उद्देशक में वनस्पतिकाय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति जीवाजीव को अच्छी तरह जान लेता है तथा मुनिधर्म को अंगीकार करके यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं वनस्पतिकाय का आरम्भ-समारम्भ नहीं करूँगा, वह वनस्पतिकाय के आरम्भ से निवृत्त समझा जाता है और ऐसे त्यागपूर्ण जीवन की साधना सिर्फ जैन मार्ग में ही संभव है। ऐसे त्यागी पुरुष को अनगार की संज्ञा दी गई है।[3]

---

1. इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं ॥११॥ सूत्र १४ एवं १५ भी देखें।
2. आचारांग—हि० अनु० आत्मारामजी, प्रथम भाग, पृष्ठ १२९.
3. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई ॥४०॥

षष्ठ उद्देशक—इसमें त्रसकाय जीवों की चर्चा की गई है तथा कहा गया है कि उनकी हिंसा करने से बचना चाहिए।[1]

सप्तम उद्देशक—अन्य उद्देशकों की तरह इसमें वायुकाय का वर्णन हुआ है। वायुकायिक जीवों की हिंसा भी उसी प्रकार दु:खदायी होती है, जैसे अन्य प्राणियों की हिंसा। अत: इस तथ्य को समझने वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों की रक्षा करता है। जो अपने सुख-दु:ख को जानता और समझता है वही अन्य प्राणियों क सुख-दु:ख को भी जानता है। जो अन्य जीवों यानी जगत् के सुख-दु ख को जानता है वह अपने सुख-दु:ख को भी जानता है। इसलिए मुनि को चाहिए कि अपने तथा अन्य सभी के सुख-दु:ख को एक तरह समझे और ऐसा समझते हुए सभी प्राणियों की रक्षा करे।[2]

इस प्रकार प्रथम अध्ययन मे षट्कायों की सजीवता पर बल देते हुए यह निर्देशित किया गया है कि मुमुक्षु को यह जानना चाहिए कि षट्काय के आरम्भ-समारम्भ से बन्धन होता है, अत: किसी भी प्रकार के आरम्भ-समारम्भ से उसे बचने का प्रयास करना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन—इस अध्ययन के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे लोकविजय प्राप्ति के साधन का ज्ञान कराया गया है। लोक का अर्थ कषाय यानी राग-द्वेष होता है, जिसे भाव-लाक कहते हैं। द्रव्य-लोक, लोक का वह रूप है, जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है। लेकिन भाव-लोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति स्वत: द्रव्य-लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। राग-द्वेष के अभाव मे इनसे उत्पन्न होने वाली कोई भी क्रिया नहीं होती। इस अध्ययन में छ: उद्देशक हैं। इसके दूसरे उद्देशक मे अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया है।[3]

तृतीय अध्ययन—शीत और उष्ण के अर्थ क्रमश: ठण्डा और गर्म होते हैं किन्तु इस अध्ययन में ये परीषहों के दो रूपों में आए हैं,

१. आचारांग—आत्मारामजी, प्रथम भाग, पृष्ठ १६३, १६५.
२. वही, पृष्ठ १७५.
३. सूत्र ८१.

अर्थात् जो परीषह सुखद हैं वे शीत कहलाते हैं तथा जो दुःखद हैं वे उष्ण। अतः साधक को शीत एवं उष्ण दोनों प्रकार के परीषहों को समान दृष्टि से देखना चाहिए। इसमें चार उद्देशक हैं।

चतुर्थ अध्ययन—तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं।[1] यहाँ पर कहा गया है कि सम्यक्त्व को अच्छी तरह सम्पादित करके ही कोई व्यक्ति मुक्ति पा सकता है। इस अध्ययन में भी चार उद्देशक हैं। इसके दूसरे उद्देशक में यज्ञादि से सम्बन्धित ब्राह्मण-वचन को अनार्य-वचन कहा गया है।[2]

पंचम अध्ययन—चूँकि सम्यग्दर्शन के लिए सम्यक्चारित्र की आवश्यकता होती है, सम्यक्चारित्र को संसार का सार बताते हुए इस अध्ययन में यह सम्पादित किया गया है कि लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार निर्वाण है।[3] इसमें छः उद्देशक हैं तथा इसके प्रथम उद्देशक में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन जीवों की हिंसा करता है, वह सदा छः काय जीव-जन्तुओं में जन्म-मरण धारण करता रहता है तथा मोक्ष नहीं पाता।

षष्ठ अध्ययन—धूत का अर्थ होता है शुद्धि, जो दो प्रकार की होती है—द्रव्य-धूत यानी शरीरादि का मैल दूर करके शरीर की शुद्धि प्राप्त करना और भावधूत यानी मन के मैल को दूर करना। इस अध्ययन में राग-द्वेष आदि मन के मैल को त्यागकर मन की शुद्धि करने को कहा गया है।

सप्तम अध्ययन—यह अध्ययन विच्छिन्न होने के कारण लुप्त समझा जाता है।

---

१. आचारांग—आत्मारामजी, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६८.

२. वही, पृष्ठ ३८७.

३. लोगस्स सारो धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं बिंति।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं॥
आचारांग—आत्मारामजी, प्रथम भाग, पृष्ठ ४०५.

अष्टम अध्ययन—इस अध्ययन में आचार एवं त्यागमय जीवन का वर्णन है। इसमें आठ उद्देशक हैं। षष्ठ उद्देशक में एकत्व की भावना को प्रधानता देते हुए निर्देशित किया गया है—

> "जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं भी किसी का हूँ। इस प्रकार वह भिक्षु एकत्व भावना से सम्यक्तया आत्मा को जाने। क्योंकि आत्मा में लाघवता को उत्पन्न करता हुआ वह तप के सम्मुख होता है। अतः वह सम्यक्तया समभाव को जाने। जिससे वह आत्मा का विकास कर सके।"[1]

नवम अध्ययन—इसमें भगवान् महावीर के तपपूर्ण जीवन का वर्णन है। इसके चार उद्देशकों में क्रमशः महावीर के विहार, शय्या, परीषह एवं आतंक आदि की चर्चा है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—इसकी पांच चूलाओं में अन्तिम चूला आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ को आचारांग से किसी समय पृथक् कर दिया गया, जिससे आचारांग में अब केवल चार चूलाएं ही रह गई हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आने वाले विविध विषयों को एकत्र करके शिष्यहितार्थ चूलाओं में संगृहीत कर स्पष्ट किया गया है। इनमें कुछ अनुक्त विषयों का भी समावेश कर दिया गया है। इस प्रकार, इन चूलाओं के पीछे दो प्रयोजन थे—उक्त विषयों का स्पष्टीकरण तथा अनुक्त विषयों का ग्रहण।[2] तुलनात्मक दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन और मौलिक है। अपने मौलिक रूप में सिर्फ प्रथम स्कन्ध ही था लेकिन भद्रबाहु ने आचारांग पर निर्युक्ति लिखने के समय बाद वाला भाग यानी द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसमें बढ़ा दिया।[3] इसकी प्रथम चूला में सात अध्ययन हैं—पिण्डैषणा, शय्यैषणा, ईर्या, भाषाजात, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा और अवग्रहप्रतिमा। ईर्या नामक तृतीय अध्ययन में साधु-साध्वी के गमनागमन-सम्बन्धी शुद्धि-अशुद्धि पर विचार प्रकट किये गये हैं

---

१. वही, पृष्ठ ५६५.

२. प्राकृत और उसका साहित्य—डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ ६.

३. प्राकृत साहित्य का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ ४५.

तथा बताया गया है कि चलते समय किसी प्रकार की हिंसा न हो इस पर साधु-साध्वी को पूरा ध्यान देना चाहिए।[1]

इसी तरह द्वितीय चूला में भी सात अध्ययन हैं—स्थान, निषीधिका, उच्चार-प्रस्रवण, शब्द, रूप, परक्रिया और अन्योन्य-क्रिया। उच्चार-प्रस्रवण—मल-मूत्र त्याग की विधि को अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित किया गया है।[2]

तृतीय चूला, जो 'भावना' नाम से सम्बोधित हुई है, में महावीर के चरित्र तथा महाव्रतों की पांच भावनाओं की चर्चा हुई है और चतुर्थ चूला विमुक्ति का विषय मोक्ष है।

सूत्रकृतांग :

सूत्रकृतांग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है—

"स्वपरसमयार्थसूचकं सूत्रा, साऽस्मिन् कृतमिति सूत्रकृतांगम्" अर्थात् स्वसमय—स्वागम और परसमय—परागम के भेद और स्वरूप को विश्लेषित करना सूत्रा है, और वह सूत्रा जिसमें रहे, वह सूत्र-कृतांग है।[3] इसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद एवं लोकवाद आदि के खण्डन-मंडन प्रस्तुत किये गये हैं। समवायांग तथा नन्दी सूत्र में इसका परिचय इसकी विशालता को साबित करता है। इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि के विषय में निर्देश है; नवदीक्षितों के लिए बोधवचन हैं, १८० क्रियावादी मतों, ८४ अक्रियावादी मतों, ६७ अज्ञानवादी मतों और ३२ विनयवादी मतों—इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्य दृष्टियों अर्थात् अन्य-यूथिक मतों की चर्चा है।[4] यह दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है, जिनमें क्रमशः १६ तथा ७ अध्ययन हैं। इसके अन्तिम अध्ययन का

---

१. आचारांग—आत्मारामजी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०६८
२. वही पृ० १२९१.
३. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ १६६.
४. प्राकृत और उसका साहित्य—डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ ७–८.

नाम "नालन्दीय" है क्योंकि इसमें नालन्दा में घटने वाली घटनाओं के वर्णन है।

इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन तथा प्रथम उद्देशक में हिंसा को हानिप्रद एवं त्याज्य बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियों को मारता है अथवा मारनेवालों को आज्ञा देता है वह उन प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है।[१] इसके अलावा इस अध्ययन में अहिंसा के रूप पर भी प्रकाश डाला गया है।[२]

द्वितीय अध्ययन में हिंसा तथा अहिंसा दोनों के ही फल बताये गये हैं। जो व्यक्ति आरम्भ मे आसक्त है तथा प्राणियों को दण्ड देना तथा हिंसा करना पसन्द करता है वह नरक में चिरकाल तक पड़ा रहता है।[३] जो आदमी घर में रहकर भी श्रावक धर्म को पालता है, प्राणियों की हिंसा नहीं करता तथा सबको समान समझता है यानी समता के सिद्धान्त का पालन करता है वह देव-लोक में स्थान प्राप्त करता है।[४]

तृतीय अध्ययन में शाक्य आदि मतानुगामियों को असंयमी घोषित करते हुए कहा गया है कि ये लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, मैथुन तथा परिग्रह करते हैं।[५] आगे चलकर इसका विरोध किया गया है कि सिर्फ पीड़ा देना ही दोष है, क्योंकि अन्य मतवालो ने मात्र पीड़ा देने को ही हिंसा कहा है।[६]

ऐसे विचार वालो को पार्श्वस्थ, मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य कहा गया है क्योंकि मात्र पीड़ा देना ही दोष हो ऐसी बात नहीं; नैतिक

---

१. सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

२. सूत्र १०.

३. उद्देशक ३, सूत्र ९.

४. उद्देशक ३, सूत्र १३.

५. पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥ उद्देशक ४.

६. उद्देशक ४, सूत्र १२.

जीव तो बहुत से हैं, जिनमें से हिंसा या पीड़ा देना एक है। जो व्यक्ति ऊपर, नीचे, तिरछा रहने वाले जीवों की हिंसा से निवृत्त रहता है उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है।[1]

पंचम अध्ययन में भी निर्देशित किया गया है कि वे अज्ञानी जीव जो अपने जीवन की रक्षा के लिए अन्य जीवों को दुःख देते हैं, उनकी हिंसा करते हैं, नरक में जाते हैं, जहाँ उन्हें अत्यन्त पीड़ा भोगनी पड़ती है। अतः जो विद्वान् व्यक्ति हैं उन्हें नरक की पीड़ा को ध्यान में रखते हुए अपने को सभी हिंसापूर्ण कार्यों से बचाना चाहिए तथा सभी में श्रद्धा रखते हुए कषायों का ज्ञान करना चाहिए और उनसे बचना चाहिए।[2]

सप्तम अध्ययन में यह बताया गया है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस तथा अण्डज, जरायुज, स्वेदज और रसज सभी के अपने-अपने शरीर हैं और इन सब में सुख प्राप्त करने की कामना रहती है। इसलिए इन प्राणियों की हिंसा करने वाले बार-बार इन्हीं जीवों के रूप में जन्म लेते और मरते हैं।[3] आगे चलकर अग्निकाय के आरम्भ से बचने के लिए कहा गया है।[4]

अष्टम अध्ययन में कहा गया है कि जो कपटी या छली हैं वे अपने सुख के लिए दूसरों का छेदन-भेदन करते हैं, वे असंयमित जीवन व्यतीत करते हुए मन, वचन और काय से इस लोक और परलोक दोनों के लिए ही जीवहिंसा करते हैं। जिसके कारण हिंसित जीव उन्हें भी दूसरे जन्मों में वैसे ही कष्ट देते और मारते हैं जैसे वे

---

१. उद्देशक ४, सूत्र २०.

२. उद्देशक १, सूत्र ३–५.
   उद्देशक २, सूत्र २४.

३. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा।
   जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
   एयाइं कायाइं पवेदियाइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं।
   एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

४. सूत्र ५–७.

इन्हें कष्ट पहुँचाये अथवा मारते रहते हैं।[1] अतएव साधु किसी जीव को पीड़ा न दे और बाहर एवं भीतर से इन्द्रियों का दमन करता हुआ संयमित जीवन-यापन करे।[2]

नवम अध्ययन में बताया गया है कि जो साधु है उसे हिंसा का पूर्णरूपेण परित्याग कर देना चाहिए। उसे बोल-चाल, पाखाना-पेशाब-त्याग आदि जीवन के सभी क्रिया-कर्मों को करते हुए अहिंसा का ध्यान रखना चाहिए।[3]

दशम अध्ययन में कहा गया है कि साधु किसी प्रकार का आरम्भ न करता हुआ संयमित जीवन पालन करे, त्रस और स्थावर प्राणियों को पीड़ा न पहुँचावे, क्योंकि हिंसा से पाप होता है, और सबको अपने समान समझे। इसके अलावा इस अध्ययन में क्रूरतापूर्ण काम को पाप कहा गया है और इस पाप से बचने के लिए भाव-समाधि निर्देशित की गई है। इसलिए विचारशील पुरुष भाव-समाधि में रत रहकर किसी जीव के प्राणघात से अपने को वंचित रखे। साधु न हिंसायुक्त कथा कहे और न हिंसायुक्त कार्य करे, क्योंकि हिंसा सर्वदा दुःखदायी होती है।[4]

एकादश अध्ययन में भी अहिंसा का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति किसी भी प्राणी को कष्ट न दे, यही अहिंसा का सिद्धान्त है और यही उत्तमज्ञान भी है।[5] इसमें अन्न-दान, जलदान की भर्त्सना भी की गयी है। क्योंकि जो ऐसे दान की प्रशंसा करते हैं वे वध-क्रिया को बढ़ाते हैं और जो दान कर्म को रोकते हैं वे प्राणियों की वृत्ति पर आघात करते हैं।[6]

---

१. वही।

२. सूत्र २०.

३. सूत्र १५, १६, २५, २७ और ३१.

४. सूत्र १, २, ३, ५, ६, ७, ९, १०, १२, १३ तथा २१.

५. एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१०॥

६. सूत्र १६, २०.

द्वादश एवं त्रयोदश अध्ययन में बताया गया है कि सत्यवर्ती पुरुष छोटे-बड़े सभी प्राणियों को समान समझते हैं तथा किसी को कष्ट नहीं देते।[1]

चतुर्दश अध्ययन में फिर से साधु के प्रति उपदेश घोषित करते हुए कहा गया है कि वह मन, वचन और काय से सबकी रक्षा करे, इतना ही नहीं साधु ऐसी कोई बात भी न बोले जो दुःखदायी हो यद्यपि वह सत्य ही क्यों न हो। यदि साधु किसी सिद्धान्त की व्याख्या करता है तो उस समय किसी बात को छुपाये नहीं, गुरु से जैसा ज्ञान प्राप्त हो ठीक वैसा ही ज्ञान दान करे वरना ये सभी पाप के कारण हैं और साधु को पाप का भागी बना सकते हैं।[2]

उपासकदशांग :

इसमें दस अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलनी-प्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीप्रिय और शालिनीप्रिय इन दस उपासकों की कथाएं हैं। इन कथानकों में यह बताया गया है कि किस प्रकार अनेकों विघ्न-बाधाओं के आने पर भी ये साधक अपनी साधना में लीन रहे और सफलता प्राप्त की। सभी अध्ययनों मे प्रथम अध्ययन काफी महत्त्व-पूर्ण है क्योंकि इसमें श्रावक के व्रतों के वर्णन हैं। श्रावक के बारह व्रत होते हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४ स्वदारसंतोष, ५. परिग्रहपरिमाण, ६. दिशापरिमाण, ७. उपभोग-परिभोग-परिमाण, ८. अनर्थदण्डविरमण, ९. सामायिक, १०. देशावकाशिक, ११. पौषधोपवास तथा १२. अतिथिसंविभाग। ये व्रत 'आनन्द गाथापति' के द्वारा भगवान् महावीर के सामने एक-एक करके धारण किये गये हैं और इसी क्रम से इनके वर्णन हैं। इसके अष्टम अध्ययन में श्रावक महाशतक की पत्नी रेवती की मांस-मदिरा-लोलुपता तथा उसके परिणामस्वरूप उसके नरक में जाने और विभिन्न प्रकार की व्यथा भोगने का वर्णन है।[3] साथ ही यह भी

१. सूत्र १८.
२. सूत्र १६, २१, २६.
३. सूत्र २३६–२५३.

बताया गया है कि श्रावक को संलेखना व्रत धारण कर लेने के बाद उस सत्य या तथ्यपूर्ण बात को भी किसी से नहीं कहना चाहिए जो अनिष्ट को सूचित करती हो अथवा अप्रिय हो। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महाशतक के जीवन में मिलता है। अपनी पत्नी रेवती के द्वारा शृंगार भरी बातें करने पर वह क्रोधित होकर अपने अवधि-ज्ञान के आधार पर यह भविष्यवाणी करता है कि सात दिनों के बाद उसकी मृत्यु होगी और वह नरक में जायेगी तथा ८४ हजार वर्षों तक वहाँ दु:ख भोगेगी। जिस समय महाशतक ने ऐसी घोषणा की वह संलेखना की स्थिति में था। अतएव महावीर ने गौतम को भेजकर उसे अपने किये कर्म की आलोचना तथा प्रायश्चित्त करने को आदेश दिया, और महाशतक ने प्रायश्चित्त किया।[1] उपासकदशांग में श्रावकों के आचरण एवं व्रतों की पूर्ण विवेचना मिलती है जिसमें अहिंसा को सब तरह से प्रधानता मिली है।

प्रश्नव्याकरण :

प्रश्नव्याकरण का अर्थ है—स्वसमय-स्वसिद्धान्त और परसमय-अन्य सिद्धान्त संबंधी प्रश्नोत्तर के रूप में नाना विद्याओं, मन्त्र-तन्त्र एवं दार्शनिक बातों का निरूपण। पर इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस श्रुतांग में विषय-विवेचन का अभाव है।[2] स्थानांग तथा नंदीसूत्र में भी प्रश्नव्याकरण का परिचय मिलता है लेकिन वर्तमान में प्राप्त प्रश्नव्याकरण उससे बिल्कुल भिन्न है। अभी इसमें दस अध्ययन मिलते हैं जिनमें से प्रथम पांच में क्रमश: हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों या आस्रवद्वारों के वर्णन हैं तथा शेष पांच में क्रमश: अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच व्रतों या संवरों के वर्णन मिलते हैं।

इसके प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ में ही सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा है कि अब प्राणिवध का स्वरूप, नाम, फल तथा

---

१. सूत्र २३६–२६१.

२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ १७८.

किस प्रकार यह किया जाता है और ऐसे कौन-से लोग हैं, जो हिंसा करते हैं आदि बातें बतलाई जायेंगी।[1] अतएव वे कहते हैं कि ज्ञानविमुख लोग पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवों को विभिन्न प्रयोजनों के निमित्त मारते हैं और साथ ही वे उन जीवों के नाम भी प्रस्तुत करते हैं। शक, यवन, शबर-भील, बर्बर आदि अनार्य जातियाँ हैं जो म्लेच्छ देश में रहती हैं तथा हिंसादि क्रूरकर्मों के करने में प्रसन्न होती हैं और बाद में वे महादु:खदायी नरक का वर्णन करते हैं जिसमें हिंसा करने वाले लोग अनेक वर्षों तक कष्ट भोगते हैं और जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं।

इसके षष्ठ अध्ययन अथवा प्रथम संवरद्वार में निर्वाण, निवृत्ति, समाधि आदि अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम बताए गए हैं।[2] फिर यह भी निर्देशित किया गया है कि किस प्रकार उन व्यक्तियों को प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो अहिंसा-व्रत का पालन करना चाहते हैं। अत: अहिंसा की पाँच भावनाओं को प्रस्तुत किया गया है, जिनके अनुसार आचरण करने से अहिंसा व्रत का पूर्णरूपेण पालन होता है।[3]

निरयावलिका :

इस उपांग में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रेणिक राजा तथा उनकी रानी चेलना तथा पुत्रों—काल, सुकाल, महाकाल एवं कूणिक की कथा प्रस्तुत करके यह बताया गया है कि युद्ध में हिंसा करने वाले मारे जाने पर नरक में जाते हैं। इसके प्रथम अध्ययन में दिखाया गया है कि राजकुमार काल अपने ज्येष्ठ भ्राता कूणिक से युद्ध करता हुआ मारा जाता है और इसके परिणामस्वरूप वह चौथी पंकप्रभा पृथ्वी के हेमाभ नामक नरक में दस सागरोपम स्थिति में पैदा होता

---

१. जारिसओ जं णामा, जह य कओ जारिसं फलं देइ।
जे वि य करेंति पावा, पाणवहं तं णिसामेह ॥१॥

२. प्रश्नव्याकरण सूत्र—हि० अनुवाद पं० घेवरचन्द्र बांठिया, पृष्ठ १५७-१५८.

३. वही, १६६-१७७.

है।[1] यद्यपि वरुणनाग के पौत्र एवं उसके बालमित्र के युद्ध में भाग लेने के बाद स्वर्ग में जाने की चर्चा भी हुई है, लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि युद्ध से अलग होकर उन दोनों ने ही संथारा आदि करके समाधि ली, फिर स्वर्ग गए।[2] यहाँ पर स्पष्टतः नहीं किन्तु अस्पष्टढंग से इस सिद्धान्त का विरोध किया गया है कि युद्ध में मरने वाले स्वर्ग जाते हैं।

उत्तराध्ययन :

इस मूलसूत्र में ३६ प्रश्नों (अथवा विषयों) के उत्तर संकलित हैं जो महावीर के द्वारा उनके अन्तिम चातुर्मास के समय (किन्तु उनसे न पूछने पर ही) दिये गये थे, जो कि इसके ३६ अध्ययन के रूप में हैं, और इसी कारण से इसका नाम उत्तराध्ययन है। यह एक धार्मिक काव्य है। इसमें विनय, परीषह, अकाममरण, प्रव्रज्या, यज्ञ, समाचारी, मोक्षमार्ग, तपोमार्ग, कर्मप्रकृति, लेश्या आदि के वर्णन हैं जो उपमा, रूपक एवं संवादों की बहुलता के कारण अत्यन्त रोचक हैं। डा० विण्टरनित्ज ने इसकी तुलना महाभारत, धम्मपद एवं सुत्तनिपात आदि के साथ की है। भद्रबाहु तथा जिनदासगणि ने इस पर क्रमशः निर्युक्ति एवं चूर्णि लिखी है। शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, विनयहंस और हर्षकुल ने क्रमशः शिष्यहिता आदि विभिन्न टीकाएँ लिखी हैं। शार्पेण्टियर तथा जैकोबी ने क्रमशः इसका संशोधन एवं अंग्रेजी अनुवाद किया है।

इसके छठे अध्ययन में कहा गया है कि अज्ञानी जन दुःख भोगने वाले हैं, इसलिए पण्डित लोगों को चाहिए कि मोह-जाल से निकल कर सत्य की खोज करें तथा प्राणियों में मैत्री की भावना रखें। चूँकि सभी प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय मालूम होता है, सबको अपनी आत्मा से प्यार होता है, वे किसी भी प्राणी की हत्या नहीं करें।[3]

---

१. सूत्र १६,१०६.
२. निरयावलिका, प्रथम अध्ययन, पृष्ठ ६५.
३. समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥

अध्ययन सात में अज्ञानी, हिंसक, मृषावादी एवं मांसभक्षक आदि को नरकायु को प्राप्त करनेवाला बताया गया है।[1]

अध्ययन आठ में साधु के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि साधु को चाहिए कि सब प्रकार के परिग्रह एवं क्लेश का त्याग करे, सभी जीवों की रक्षा करे। अपने को साधु घोषित करने के बाद भी जीववध (यानी जीववध आदि के कुपरिणाम) से अनभिज्ञ न रहे अन्यथा नरकगामी होना पड़ेगा। तीर्थंकरों ने प्राणिवध के अनुमोदन को भी दुःखमय बन्धन का कारण बताया है, अतः हिंसा-विरत होना ही साधु के लिए श्रेयस्कर होता है। जो व्यक्ति प्राणियों का घात नहीं करता, वह छः काय और पाँच समिति को धारण करनेवाला होता है और उससे पाप वैसे अलग हो जाते हैं, जैसे ऊँची जगह से पानी। अतएव साधु मन, वचन और शरीर से संसार के त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा न करे।[2]

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥६॥

१. हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणम्मि विलोवए॥५॥
आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए॥७॥

२. सव्वं गंथं कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई॥४॥
समणा मु एगे वयमाणा पाणवहं मिया अयाणंता।
मंदा निरयं गच्छंति बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं॥७॥
न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाणं।
एवारिएहिं अक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो॥८॥
पाणे य णाइवाएज्जा से समीए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ॥९॥
जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥१०॥

अध्ययन नव, ग्यारह तथा बारह में क्रोध, मान एवं प्रमाद आदि को नरक का कारण एवं शिक्षा प्राप्त करने में बाधास्वरूप बताया गया है तथा हिंसा को पापसंचय का मूल स्रोत। अतएव इन्द्रिय-दमन करनेवाले लोग षड्काय जीव की हिंसा से वंचित रहते हैं।[1]

अध्ययन अठारह में कंपिलपुर के राजा तथा अनगार की कहानी प्रस्तुत की गई है, जिसमें अनेक मृगों की हत्या करने वाला राजा अनगार के सामने नतमस्तक होकर खड़ा होता है और क्षमा याचना करता है। तब अनगार निम्नलिखित शब्दों में राजा को उपदेश देता है :

> "हे पार्थिव ! तुझे अभय है। अब तू भी अभयदाता बन। इस नाशवान् संसार में, जीवों की हत्या में क्या आसक्त हो रहा है।"[2]

अर्थात् जीवहिंसा न करने वाला अभय-दाता हो जाता है।

अध्ययन उन्नीस में माता-पिता एव पुत्र-सवाद में माता-पिता के द्वारा कहा गया है कि मित्र या शत्रु जो भी हो जीवन पर्यन्त उनके साथ समता का भाव रखना तथा हिंसा से विरत रहना बहुत ही कठिन व्यापार है। आगे के सूत्रों में यह भी मिलता है कि समता का निभाना तभी संभव है जब व्यक्ति ममत्व, अहंकार, सर्वसंग आदि का त्याग कर दे यानी सुख-दुःख, जीवन-मरण सबको बराबर देखे।[3]

---

१. अध्ययन ९, सूत्र ५४; अध्ययन ११. सूत्र ३,७; अध्ययन १२, सूत्र १४, ३९,४१.

२. सूत्र ११.

३. समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करं ॥२६॥
णिम्ममो णिरहंकारो णिस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥९०॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिंदापसंसासु तहा माणावमाणओ ॥९१॥

अध्ययन बीस यह बताता है कि अनगार वही होता है, जो क्षमावान, दमितेन्द्रिय तथा निरारंभी होता है और जो इस अनगार प्रवज्या को धारण कर लेता है वह अपने और पराये सभी पर समान भाव रखता है।[1]

अध्ययन इक्कीस में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पांच महाव्रत हैं। अतः सभी प्राणियों पर दया करने वाले, कठोरतापूर्ण बातों को सहनेवाले, क्षमावान, संयमी, ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले, समाधिस्थ होनेवाले एवं इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखनेवाले मुनि को सब प्रकार के सावद्य योगों को त्यागकर विचरना चाहिए।[2]

अध्ययन बाईस में राजा अरिष्टनेमि की प्रसिद्ध कथा है, जिनके मन में, अपनी शादी में काटेजाने के लिए बँधे हुए अनेक पशुओं की चित्कार सुनकर विराग पैदा हो गया। उन्होंने ऐसा सोचकर कि मेरी वजह से इतने पशुओं का काटा जाना मेरे लिए परलोक में बहुत ही अहितकर होगा, पशुओं को बन्धन से मुक्त करवा दिया और स्वय मुनिव्रत को धारण किया। उनके मुनि बनने की खबर पाकर उनकी होनेवाली भार्या कुमारी राजीमती भी मुनिव्रत को धारण करके साध्वी बन गई।[3]

अध्ययन पचीस में जयघोष नामक एक अनगार और विजयघोष नामक एक वैदिक याज्ञिक में हुए वार्तालाप को प्रस्तुत किया गया

---

१. सूत्र ११, १२, १५.

२. अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदु ॥१२॥
सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी खंतिक्खमे संजय बंभयारी।
सावज्ज जोगं परिवज्जयंतो चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए ॥१३॥

३. सोऊण तस्स वयणं बहुपाणिविणासणं।
चिंतेइ से महापण्णे साणुक्कोसे जिएहि उ ॥१८॥
जइ मज्झ कारणा एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई ॥१९॥

है, इसमें विजयघोष ने 'यज्ञ' और 'ब्राह्मण' पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप या विस्तार से जानकर त्रिकरण-त्रियोग से हिंसा नहीं करता, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२३॥"

"सभी वेद पशुओं के वध के लिए हैं और यज्ञ पापकर्म का हेतु है। ये वेद और यज्ञ, यज्ञकर्ता दुराचारी का रक्षण नहीं कर सकते क्योंकि कर्म अपना फल देने में बलवान है ॥३०॥"[1]

अध्ययन छब्बीस में 'प्रतिलेखना' की विवेचना करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रतिलेखना के समय प्रमाद करता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसूकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रस-काय जीवों की विराधना करता है और ठीक इसके विपरीत जो बिना प्रमाद के प्रतिलेखना करता है, वह इन षट्कायों की रक्षा करनेवाला होता है।[2] जहाँ तक भोजन-ग्रहण करने या त्यागने की बात है, एक धैर्यवान साधु या साध्वी के लिए १. रोग होने पर, २. उपसर्ग आने पर, ३. ब्रह्मचर्य रक्षार्थ, ४. प्राणियों की दया के लिए, ५. तप करने के लिए तथा ६. शरीर से संबंध छोड़ने के लिए भोजन त्याग देना संयम-उल्लंघन नहीं समझा जा सकता।[3]

अध्ययन उनतीस में अपरिग्रह को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि 'क्षमा' करके जीव परीषहों पर अधिकार पा जाता है।[4]

---

१. सूत्र २३, ३०; सम्पूर्ण अध्ययन भी देखें।

२. पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं पि विराहओ होइ ॥३०॥
पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं।
पडिलेहणा आउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ ॥३१॥

३. सूत्र ३५.

४. खंतीए णं भंते जीवे किं जणयइ? खंतीए णं परीसहे जिणेइ ॥४६॥

आगे चलकर क्षमा के आदि स्रोत तथा इससे (क्षमा से) मिलने-वाले फल को फिर निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया गया है—

> "क्रोध पर विजय प्राप्त करने का क्या फल है ? क्रोध से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है, क्रोधजन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं।"[1]

अध्ययन बत्तीस में राग और द्वेष को हिंसा का कारण बताते हुए यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार अलग-अलग इन्द्रियों का हिंसा-अहिंसा से अलग-अलग सम्बन्ध है।

आँखों का सम्बन्ध रूप से होता है, इसलिए जो रूप सुन्दर होता है, वह राग पैदा करता है और जो रूप सुन्दर नहीं है, वह द्वेष पैदा करता है। अतः जो सुरूप या कुरूप में समभाव रखते हैं वे वीतरागी होते हैं। किन्तु जो रूप (सुरूप) की आशा में पड़ जाता है वह जीव त्रस और स्थावर जीवों को कष्ट पहुँचाता है, उनकी हिंसा करता है।[2]

कानों का संबंध शब्द से है अतएव प्रिय शब्द राग और अप्रिय शब्द द्वेष के कारण बन जाते हैं। शब्द (प्रिय शब्द) की आशा करनेवाला अनेक जीवों को परिताप देता है; उनकी हिंसा करता है।[3]

घ्राण का विषय गन्ध है इसलिए सुगन्ध से राग और दुर्गन्ध से द्वेष पैदा होता है। वीतरागी दोनों में समता का भाव रखते हैं।

---

१. सूत्र ६७.

२. चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥२२॥
रूवाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥२७॥

३. सद्दस्स सोयं गहणं वयंति सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥३६॥
सद्दाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥४०॥

जो सुगन्ध के वश में आ जाता है वह अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता है।[1]

जीभ का विषय रस है, अतः प्रिय रस राग और अप्रिय रस द्वेष के कारण हैं; जो वीतरागी है वह दोनों प्रकार के रसों में समता का भाव रखता है। किन्तु रस के वशीभूत व्यक्ति त्रस एवं स्थावर जीवों को पीड़ा पहुँचाता है तथा उनकी हिंसा करता है।[2]

शरीर का ग्राह्य विषय स्पर्श है, इसलिए सुखदायक स्पर्श राग और दुःखदायक स्पर्श द्वेष पैदा करता है। जो वीतरागी हैं, वे दोनों प्रकार के स्पर्शों को बराबर समझते हैं। लेकिन जो सुखद स्पर्श की आशा में रहता है वह अनेक चराचर जीवों की हिंसा करता है।[3]

अध्ययन चौंतीस में लेश्या के प्रकारों तथा कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

> "पांचों आस्रवों में प्रवृत्त, तीन गुप्तियों में अगुप्त, छः काय की हिंसा में रत, तीव्र आरम्भ वर्तनेवाला, क्षुद्र, साहसी, निर्दय, नृशंस, इन्द्रियों को खुली रखनेवाला, दुराचारी पुरुष कृष्ण लेश्या के परिणाम वाला होता है।"[4]

---

१. घाणस्स गंधं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥४८॥
गंधाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेई बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥५३॥
२. जिब्भाए रसं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥६१॥
रसाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥६६॥
३. फासस्स कायं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥७४॥
४. सूत्र २१, २२.

इसके विपरीत जो नम्र, चपलता रहित, निष्कपट, विनीत, प्रियधर्मी एवं हितैषी जीव है, वह तेजो लेश्या के परिणाम को पाता है।[1]

अध्ययन छत्तीस में कहा गया है कि मिथ्या दर्शन, हिंसा तथा निदान में अनुरक्त जीव इन्हीं भावनाओं के साथ मरकर दुर्लभबोधि होते हैं और जो सम्यग्-दर्शन, अतिशुक्ल लेश्या तथा निदान रहित कार्य करने वाला होता है, वह इन भावनाओं के साथ मर कर परलोक में सुलभ-बोधि होता है।[2]

आवश्यक :

जैन आगम के मूलसूत्रों में आवश्यक सूत्र का भी स्थान है। इसमें नित्य कर्मों का प्रतिपादन करने वाले छः आवश्यक क्रियानुष्ठानों के विवेचन हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। यही छः इसके अध्याय हैं। चूंकि ये छः क्रियानुष्ठान आवश्यक समझे गये हैं, इस ग्रन्थ का नाम भी आवश्यक सूत्र रखा गया है।

इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि किस प्रकार व्यक्ति दिन-भर के किए पापों को दिन के अन्त में और रात में किए हुए पापों को रात के अन्त में स्मरण कर दुःख प्रकट करता है और सभी जीवों से क्षमा माँगकर फिर आगे उन पापों को न दुहराने की प्रतिज्ञा करता है।

आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्याय सामायिक है। 'राग-द्वेष रहित समभाव को सामायिक कहते हैं।'[3]

---

१. सूत्र २७, २८.

२. मिच्छादंसणरत्ता सणियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२५८॥
सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा भवे बोही ॥२५९॥

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ १७४.
आवश्यकसूत्र—हि० अनु० अमोलक ऋषि, पृष्ठ ७-९.

इसका चौथा अध्याय 'प्रतिक्रमण' है। प्रतिक्रमण कहते हैं उस शुभ स्थिति या गति को जिसमें प्रमादवश च्युत होकर पायी हुई गति से ऊपर उठकर व्यक्ति आता है। अर्थात् अपने प्रमाद और अपनी गलती का उसे ज्ञान हो जाता है और उन्हें वह त्यागना चाहता है। इस अध्याय में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रतिक्रमण-विधि पर प्रकाश डालते हुए किया गया है।

इसके अन्त में कहा है—

खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।।

मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे भी क्षमा प्रदान करें।

दशवैकालिक :

दशवैकालिक जैन आगमों के मूलसूत्रों में है। इसमें दस अध्याय हैं—द्रुमपुष्पित, श्रामण्यपूर्विक, क्षुल्लिकाचार-कथा, षड्जीवनिकाय, पिण्डैषणा (जिसमें दो उद्देश हैं), महाचार-कथा, वाक्यशुद्धि, आचारप्रणिधि, विनयसमाधि (जिसमें चार उद्देश हैं) तथा सभिक्षु। इसका पाठ विकाल यानी सन्ध्या समय किया जाता है, इसलिए इसे दशवैकालिक कहते हैं। इसके कर्त्ता शय्यंभव हैं। अपने पुत्र को कम समय में ही शास्त्र का ज्ञान कराने के लिए शय्यंभव ने दशवैकालिक की रचना की थी। दशवैकालिक में दो चूलिकाएँ भी हैं—रतिवाक्य तथा विविक्तचर्या, जिनके रचयिता शय्यंभव नहीं माने जाते।

दशवैकालिक के द्रुमपुष्पित नामक अध्याय में धर्म को सभी मंगलों में श्रेष्ठ कहा गया है। इस धर्म के तीन रूप हैं—अहिंसा, संयम तथा तप। इस धर्म के पालन करने वाले साधु आहार आदि की गवेषणा वैसे ही करते हैं जैसे भ्रमर पुष्पों को बिना कोई कष्ट दिए हुए रस का पान करते हैं। अर्थात् गवेषणा के कारण उनके द्वारा गृहस्थों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचता।[1]

---

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो......।।१।।
जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं......।।२।।

श्रामण्य-पूर्विका में यह बताया गया है कि श्रामण्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यदि समदृष्टि से विचरने वाले साधु का मन पूर्वभुक्त विषय को याद करके विचलित हो तो उसे ऐसा सोचना चाहिए कि ये भोग्य वस्तुएं मेरी नहीं हैं और न मैं ही उनका हूं और ऐसा सोचकर उसे राग-द्वेष से अपने को अलग कर लेना चाहिए।[1]

क्षुल्लिकाचार नामक अध्याय में उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिण्ड, रात्रिभक्त, स्नान-हस्तपादादि ५२ अनाचीर्ण बताए गए हैं, अर्थात् वे ५२ कर्म साधुओं के लिए अनाचरणीय हैं। इसी सिलसिले में कहा है—

> "इन ५२ अनाचीर्णों का सेवन नहीं करने वाले, हिंसादि पांचों आश्रवों के त्यागी, मनादि तीनों गुप्तियों से गुप्त, पृथिव्यादि षट्काय के रक्षक, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करनेवाले, बाईस परीषह प्राप्त होने पर धैर्य धारण करनेवाले, माया कपटरूप ग्रन्थि रहित और संयम को देखनेवाले होते हैं।"[2]

षट्जीवनिकाय में बताया गया है कि कोई व्यक्ति षट्काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय का न स्वयं आरम्भ करे, न किसी से आरम्भ करवाये और न आरम्भ करनेवाले का अनुमोदन करे और इसे जीवन पर्यन्त निभाये।[3]

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥३॥

१. समाइ पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥४॥

२. पंचासव परिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥११॥

३. इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं-नेव सयं दंडं समारम्भेज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा, दंडं समारंभंतेवि अन्नेनसमणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१०॥

आगे इन षट्कायों की रक्षा के लिए (अहिंसादि) पंच महाव्रत का उपदेश दिया गया है।[1]

पिण्डैषणा नामक अध्याय में उन विधियों को बताया गया है, जिनका पालन एक साधु को उस समय करना चाहिए जब वह गोचरी के लिए जाता है।[2]

महाचारकथा में साधुओं के अठारह स्थानों को निरूपित किया गया है तथा इन स्थानों में प्रथम स्थान अहिंसा का माना गया है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अतएव घोर प्राणिवध हमेशा त्याज्य है। चूँकि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, किसी भी जीव का जाने-अनजाने घात नहीं करना चाहिए।[3]

भाषाशुद्धि नामक अध्याय में भाषा की शुद्धि का विवेचन किया गया है। शुद्धि से मतलब यहाँ पर व्याकरण की शुद्धि नहीं बल्कि भावशुद्धि से है। यानी उन शब्दों या वाक्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिनके सुनने से सुननेवालों को कष्ट हो। सत्य होने पर भी जो बात अन्य प्राणियों को दुःख देनेवाली हो उसे नहीं बोलना चाहिए।[4]

---

१. सूत्र ११-२२.

२. पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिंचरे।
वज्जंतो बीय हरियाइं, पाणेय दगमट्टियं ॥३॥
ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥ सूत्र ५-८ भी देखें।
सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीयज्जा, निसन्न वा पुणुट्ठए ॥४०॥
तं भवे भत्तपाणतु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥
थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहारे पाणभोयणं ॥४२॥

३. सूत्र ८-११ और सूत्र २७-४६.

४. सूत्र ११.

आचारप्रणिधि नामक आठवें अध्याय के प्रारम्भ में ही फिर से कहा गया है कि जितने भी काय हैं यानी षट्काय, सबमें जीव हैं। अतः मन, वचन और काय से कभी भी इनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।[1]

इस प्रकार दशवैकालिकसूत्र के विभिन्न अध्यायों में अहिंसा के विवेचन एवं विवरण, खासतौर से साधु के जीवन से संबंधित, मिलते हैं।

प्रवचनसार :

प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें तीन श्रुतस्कन्ध हैं—१. ज्ञानाधिकार जिसमें आत्मा और ज्ञान का एकत्व और अन्यत्व तथा सर्वज्ञत्व की सिद्धि, अशुभ, मोहक्षय आदि का विवेचन है, २. ज्ञेयाधिकार जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय आदि की व्याख्याएँ हैं और ३. चारित्राधिकार जिसमें श्रमण का स्वरूप तथा मुनि के लक्षण आदि बताए गए हैं। इसपर अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन ने संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। इसमें सब मिलकर २७५ गाथाएँ हैं।

प्रवचनसार के प्रथम अध्याय ज्ञानाधिकार में मुनि के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि मुनि जीवादि नव पदार्थों को जाननेवाला, अपने और पर के भेद को अच्छी प्रकार जाननेवाला, शुद्धोपयोगवाला, पाँच इन्द्रियों और मन की इच्छा को रोकनेवाला, छः काय जीवों की हिंसा न करनेवाला और अंतरंग तथा बाह्य बारह प्रकार के तप बल से दृढ़ होता है।[2]

---

१. पुढविदगअगणिमारुय, तणरुक्खसबीयगा।
तसा य पाणा जीवत्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥
तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय वक्केणं, एव भवइ संजए ॥३॥

२. सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

द्वितीय अध्याय ज्ञेयतत्त्वाधिकार में बताया गया है कि जीव यदि अपने या दूसरे के प्राणों का घात करता है तो उसे ज्ञाना-वरणादि आठ कर्मों का बन्ध प्राप्त होता है।[1] आगे चलकर अशुभोपयोग का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। जीव अशुद्ध चैतन्य हो, इन्द्रियविषय तथा क्रोधादि से ग्रस्त हो, मिथ्या शास्त्र का सुननेवाला हो, अशुभ ध्यान में रत मनवाला तथा दूसरों की शिकायत करनेवाला, साथ ही (उग्र) हिंसादि करने में लीन और वीतराग आदि के पथ के विपरीत (उन्मार्ग पर) चलनेवाला हो तो निश्चय ही उसे अशुभोपयोग की प्राप्ति होती है।[2]

तृतीय अध्याय चारित्राधिकार में द्रव्यलिंग और भावलिंग की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि परमाणु मात्र के परिग्रह से रहित, लोंच करनेवाले, हिंसा आदि पापों से विरत, शरीर की सजावट से विमुख मुनीश्वर को द्रव्यलिंग होता है। इसी अध्याय में श्रामण्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मुनि जो कुछ भी करे यत्नपूर्वक करे ताकि किसी प्रकार की हिंसा न हो।[3]

---

१. पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥५७॥

२. विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥६६॥

३. जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥५॥
अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥१३॥
अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥१६॥
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१७॥
अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥१८॥

आगे चलकर मुनि का आहार, सेवावृत्ति तथा षट्कायों की हिंसा पर प्रकाश डाला गया है।[1] इस तरह प्रवचनसार अपने विभिन्न सूत्रों में श्रमण के चारित्र में अहिंसा का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है यह प्रस्तुत करता है।

समयसार :

समयसार के बंधाधिकार में कहा है कि यदि कोई व्यक्ति तैलादि लगाकर धूलिवाली जगह में खड़ा होकर ताड़वृक्ष, केले का वृक्ष तथा बांस के पिंड को काटता है तो उसे रजबंध होता है, लेकिन यदि तैलादि के बिना वही आदमी अस्त्रशस्त्र से व्यायाम करता है या केले के वृक्ष या ताड़ के वृक्ष आदि को काटता है तो उसे रजबन्ध नहीं लगता क्योंकि रजबन्ध तो चिकनाहट में होता है जैसे तेल की चिकनाहट।[2]

---

१. एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२९॥
समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥
दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥४२॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥४९॥
सूत्र ५०-५१ भी देखें।

२. जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघादं ॥२३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जदु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

फिर कहा है कि जो यह मानता है या समझता है कि मैं दूसरे जीवों को मारता हूं अथवा दूसरे जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूं, तो यह उसका मोह है, अज्ञान है, ज्ञानी लोग ऐसा नहीं समझते। अपना आयुकर्म क्षीण होने पर ही कोई जीव मरता है और यह आयुकर्म एक जीव से दूसरे जीव का हरा नहीं जा सकता या नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव यह मानना कि एक जीव दूसरे को मार देता है, बिल्कुल ही अज्ञानता है।[1] जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को दुःखी अथवा सुखी करता हूं तो वह मोह और अज्ञान के वशीभूत है।[2]

इस प्रकार समयसार में कर्म की प्रधानता दिखाई गई है।

नियमसार :

नियमसार के चौथे अध्याय व्यवहार-चारित्र में शरीरधारी, बीज आदि किसी भी प्रकार के जीव का घात करने या कष्ट

अह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये सन्ते।
रेणु बहुलम्मि ठाणे करेइ सत्थेहि वायामं ॥२४२॥

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागाई ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

१. जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहि।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुह कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

२. जो अप्पणा दु मण्णदि दुहिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

पहुँचाने से विरत होना अर्थात् अहिंसा को प्रथम व्रत बताया गया है। इस अध्याय में समितियों तथा गुप्तियों के भी विवेचन मिलते हैं।[1]

अध्याय आठ प्रायश्चित्त में उपदेश दिया गया है कि साधु को चाहिए कि वह क्रोध को क्षमा से, मान को विनम्रता से, धोखे को सीधेपन से तथा लोभ को सन्तोष से जीते।[2]

अध्याय नौ परमसमाधि में परमसमाधित्व के लक्षण को बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति सभी प्रकार की हिंसा से—मनसा, वाचा, कर्मणा—विरत है और अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण

---

१. कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥
गाथा ५७ भी देखें।
पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥
पेसुण्णहासकक्क सपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥
कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥
पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥
पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठा समिदी हवे तस्स ॥६५॥
बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥६८॥
कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

२. कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥११५॥

रखता है, वह परमसमाधिस्थ है। जो सभी चर-अचर जीवों को समान देखता है, वही परमसमाधिस्थ है।[1]

इस प्रकार नियमसार में समिति, गुप्ति तथा परमसमाधि के संबंध में नियम निर्धारित करते समय सर्वदा हिंसा को त्याज्य तथा अहिंसा को मुक्तिदायक, परम सुखदायक तथा ग्राह्य बताया गया है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय :

इसे 'जिनप्रवचनरहस्य-कोश' एवं 'श्रावकाचार' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें प्राप्त पद्यों की संख्या २२६ है और इसके रचयिता अमृतचन्द्रसूरि हैं। इस पुस्तक में 'पुरुष' अर्थात् आत्मा के उद्देश्य की सिद्धि के साधनों पर प्रकाश डाला गया है। इसीलिए इसका नाम 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' रखा गया है।

इसके सम्यक्चारित्र व्याख्यान में हिंसा का विवेचन करते हुए कहा गया है कि हिंसा का सर्वथा त्याग सकलचारित्र और एक देश का त्याग देशचारित्र कहा जाता है।[2] सकलचारित्र का पालन करनेवाला मुनि और देशचारित्र का पालन करनेवाला श्रावक समझा जाता है।[3] हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—ये पाँच पाप हिंसा के गर्भ में ही पाए जाते हैं।[4] हिंसा के दो प्रकार हैं : आत्म-घात यानी स्व-हिंसा और पर-घात

---

१. विरदी सव्वसावज्जे तिगुत्तीपिहिदिंदिम्रो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।। १२५ ।।
जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ।। १२६ ।।

२. हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।। ४० ।।

३. निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।। ४१ ।।

४. आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।। ४२ ।।

यानी पर-हिंसा।[1] कषाय से हिंसा होती है। कषाय पहले मन में उत्पन्न होता है जिससे आत्मा का यानी अपना घात होता है यद्यपि बाद में पर-घात यानी पर-हिंसा होती है। राग, द्वेष सबसे पहले किसी के मन में आता है फिर उसके परिणामस्वरूप वह किसी दूसरे को कष्ट देता है। इससे ज्ञात होता है कि पर-हिंसा करने के पहले वह अपना घात कर लेता है। फिर व्यक्ति पर-हिंसा करता है। हिंसा का विचार मन में लाते ही उसके फल का भागी हो जाता है भले ही वह समय या परिस्थिति के कारण वैसा सोचे हुए के अनुसार कर सके या नहीं[2]। यदि कोई व्यक्ति किसी को कष्ट देना चाहता हो किन्तु उपक्रम करने के बाद कष्ट के बदले संयोगवश उसे सुख मिल जाता है तो भी कोशिश करनेवाला हिंसा के फल का ही भागी होगा।[3] हिंसा को त्यागनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि वह यत्नपूर्वक मद्य, मांस, शहद और ऊमर, कठूमर, पिपल, बड़, पाकर के फल का त्याग करे[4], क्योंकि इनसे हिंसा का भाव मन में जगता है।[5] इसी तरह हिंसा के फल आदि के विवेचन मिलते हैं।

मूलाचार :

मूलाचार के कर्ता वट्टकेराचार्य हैं। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं होती, फिर भी इसकी रचनाशैली के आधार पर इसे भगवती-आराधना के समकालीन माना जाता है।

---

१. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

२. अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

३. हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

४. मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥ ६२ ॥

५. श्लोक ६३-१०८

इसके मूलगुणाधिकार में हिंसा-त्याग, सत्य आदि पाँच महाव्रतों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि इन सभी में प्राणियों को जानते हुए कायोत्सर्ग आदि कर्मों में हिंसा को त्यागना ही अहिंसा महाव्रत है।[1] इसके अलावा समिति और आवश्यक कर्म भी इस अधिकार में वर्णित हैं।

बृहत्प्रत्याख्यान अधिकार में सामायिक के लिए प्रत्याख्यान-विधि बताते हुए प्रत्याख्यान करनेवाले के मुख से कहलाया गया है—

> जो कुछ मेरी पापक्रिया है, उस सबको मन, वचन, काय से मैं त्याग करता हूँ और समताभावरूप निर्विकल्प, निर्दोष सब सामायिक को मन, वचन, काय व कृतकारित-अनुमोदित से करता हूँ। जीवघातरूप हिंसा, झूठ वचन, अदत्तादान (चोरी)—इन सभी पापों को मैं छोड़ता हूँ। शत्रु-मित्र आदि सब प्राणियों में मेरी तरफ से समभाव है, किसी से वैर नहीं है। इसलिए सब तृष्णाओं को छोड़कर मैं समाधिभाव को अंगीकार करता हूँ, मैं क्रोधादि भाव छोड़ शुभ-अशुभ परिणामों के कारणरूप सब जीवों के ऊपर क्षमा-भाव करता हूँ और सभी जीव मेरे ऊपर क्षमाभाव करें। मेरा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव है, किसी से मेरा वैरभाव नहीं है।[2]

संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार में भी सामायिक करने वाले के प्रत्याख्यान-वचन प्रस्तुत किए गए हैं।[3]

समाचाराधिकार में 'समाचार' को परिभाषित किया गया है। रागद्वेष से रहित जो समता का भाव है, वही समाचार है, या अति-चाररहित जो मूलगुणों का अनुष्ठान है या समस्त मुनियों का

---

१. गा० ४, ५, १७.

२. मूलाचार—सं० पं० मनोहरलाल शास्त्री, पृष्ठ १८-२०, २७.

३. गा० ११०.

कल्याण तथा हिंसारहित जो आचरण है या सभी जीवों में हानि-भाव रहित कायोत्सर्गादि के परिणामरूप जो आचरण है, वही समाचार है।[1] आगे आर्यिकाओं के गणधरों की विशेषता दिखाते हुए कहा है कि उन्हें प्रियधर्म या समाधर्म को अपनानेवाला होना चाहिए।[2]

पंचाचाराधिकार में सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार के कृत, कारित एवं अनुमोदित अतिचारों पर प्रकाश डाला गया है।[3]

मूलाचार के पंचम अधिकार में वैदिकधर्म की आलोचना की गई है, क्योंकि इसमें यज्ञादि कर्मों में पशुओं की बलि देकर हिंसा की जाती है और इस हिंसा को भी धर्म का अंश माना जाता है। यह आलोचना चार विभागों में विभक्त है—१. लौकिक मूढ़ता—चाणक्यनीति, चार्वाक के उपदेश तथा यज्ञादि में हिंसा को धर्म मानना आदि, २. वैदिक मूढ़ता—ऋग्वेद, सामवेद, मनुस्मृति आदि को मानकर अग्नि-होम आदि करना, ३. सामायिक मूढ़ता—बौद्ध (यद्यपि यह वैदिक धर्म से भिन्न है), नैयायिक, वैशेषिक, जटाधारी, सांख्य, शैव, पाशुपत, कापालिक आदि को मानना तथा ४. देव मूढ़ता—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि में देवत्व मानना।[4] इसमें समिति, एषणा, गुप्ति, भावनाएँ, रात्रि-भोजन आदि के भी वर्णन हैं।[5] इतना ही नहीं, यह अधिकार अहिंसा को प्रधानता देते हुए कहता है कि हिंसा के दोष से रहित यदि कोई अयोग्य वचन भी है, तो वह भावसत्य समझा जायेगा।[6] और अन्त में फिर एक बार यह षट्कायों की रक्षा के लिए प्रेरित करता है।[7]

---

१. गा० १२३.

२. गा० १८३.

३. गा० २०६, २०७, २०८, २३८, २३९.

४. गा० २५७-२६०, २६२-६४.

५. गा० २८८, २८९, २९५, ३००, ३०४, ३०५, ३१८-३२६, ३३१, ३३८, ३५१, ३८१.

६. गा० ३१३.

७. गा० १६, १७.

पिण्डशुद्धि अधिकार में मुनियों के आहार-संबंधी ४६ दोष उल्लिखित हैं।[1]

षडावश्यकाधिकार में छः आवश्यकों के वर्णन हैं। इसके अनुसार जो साधु सभी समय मोक्ष प्राप्ति की कामना से मूलगुणों को धारण किये रहता है तथा सभी जीवों में समता का भाव रखता है वह सर्वसाधु है।[2] आगे सामायिक का विस्तार करते हुए कहा है—'सब कामों में राग-द्वेष छोड़कर समभाव व द्वादशांग सूत्रों में श्रद्धान होना उसे तुम उत्तम सामायिक जानो।'[3]

द्वादशानुप्रेक्षाधिकार में अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधि—इन अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप पर विचार किया गया है। राग और द्वेष की भर्त्सना करते हुए कहा गया है कि राग से अशुभ एवं मलिन, घिनावनी वस्तुओं में अनुराग होता है और मोह जीव को बाध्य करता है कि वह अपना असली रूप भूल जाये। राग, द्वेष, क्रोध आदि आस्रव हैं जिनसे कर्म आते हैं। ये कुमार्गों पर प्रेरित करनेवाली अति बलवान शक्तियाँ हैं।[4] इसके अलावा यह अधिकार कहता है कि सब जीवों के हितकारी तथा तीर्थंकर द्वारा उपदेशित धर्म को माननेवाला पुण्यवान होता है; क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप आदि मुनि के धर्म होते हैं; शांति, दया, क्षमा, वैराग्य आदि जैसे-जैसे बढ़ते हैं, जीव वैसे-वैसे मोक्ष के निकट बढ़ता जाता है।[5]

अनगारभावाधिकार में लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि और ध्यानशुद्धि को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि इन शुद्धियों

---

१. अधि० ६, गा० ४२४, ४४१, ४६६.

गाथाएं ४७०-४७१ भी देखें।

२. अधि० ७, गा० ५१२.

३. अधि० ७, गाथा ५२३ तथा ५१८ से ५३४ तक देखें।

४. अधि० ८, गा० ७२८, ७२६, ७३१ तथा ७५७.

५. अधि० ८, गा० ७५०; अ० ८, गाथाएं ७५२ तथा ७५३ भी देखें।

को धारण करनेवालों के सभी पाप मिट जाते हैं। जो सच्चे साधु या अनगार या मुनि होते हैं वे अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों को धारण करते हैं तथा हिंसा, असत्य आदि को छोड़ते हैं। वे स्वयं सब कुछ सहते हैं तथा अन्य सभी प्राणियों को सब तरह से बचाते हैं।[1]

समयसाराधिकार में शास्त्रों का सार प्रस्तुत किया गया है। मुनि के लिए कहा गया है कि यदि वह सम्यक् चारित्र पालना चाहता है तो वह भिक्षाटन करके भोजन करे, वन में रह दुःख को सहे, मैत्रीभाव का चिंतवन करे। साधु के लिए आवश्यक है कि मयूरपिच्छी रखे क्योंकि अत्यन्त छोटे द्वीन्द्रिय, जीव आदि चक्षु से दिखाई नहीं पड़ते, अतः अपनी उपयोगी जगहों को वह मयूरपिच्छी से साफ कर सकता है। साधु चारित्र को भंग नहीं करता, व्यवहारशुद्धि के निमित्त प्रायश्चित्त करता है, वह अहिंसादि व्रतों को कभी नहीं छोड़ता। साधु के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के कारण हुए परिग्रह से दूर रहने का विधान है। उसे पृथ्वीकाय आदि षट्कायों की रक्षा करनी चाहिए।[2]

इसके विपरीत जो साधु अहिंसादि मूलगुणों को छेदकर वृक्षमूलादि योगों को ग्रहण करता है उसके कर्मों का क्षय नहीं होता। त्रस-स्थावर जीवों को मारकर अपनी शक्ति बढ़ानेवाले साधु को नरक गति मिलती है। यदि एक या दो हरिणों को मारने से सिंह जीव-घाती समझा जा सकता है तो अनेक जीवों की अपने अधः कर्मों से नाश करनेवाला साधु तो महापतित ही समझा जाना चाहिए। जो साधु षट्कायों की हिंसा करके अधः

---

१. अधि० ६, गा० ७६९, ७७०, ७७६, ७८०, ८०१-८०४, ८५३, ८५६ तथा ८६७-८७१.

२. गा० ८९५, ९११; गाथाएं ९१२-९१४ और ९१६ तथा १००७-१०१२ भी देखें।

कर्म से भोजन करता है, वह जिह्वा के वश होनेवाला मुनि नहीं बल्कि श्रावक है।[1]

शीलगुणाधिकार में गुण के भेदरूप १८ हजार शील बताए गए हैं।[2] उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि मुनि के दशधर्म हैं और जो मुनि मन करण से रहित, शुद्ध भाषा सहित, पृथ्वीकाय-संयमसहित, क्षमा गुण युक्त तथा शुद्ध चारित्रवाले हैं उनका पहला शील मनोयोग स्थिर रहता है। हिंसादिअतिक्रम, कायविराधना, आलोचनाशुद्धि इनके क्रम से गुणा करने पर गुणों की संख्या चौरासी लाख होती है। तथा—

> "हिंसा से रहित, अतिक्रमणदोष करने से रहित, पृथिवी-काय तथा पृथिवीकायिक की पीड़ा-विराधना से रहित, स्त्री की संगति से रहित, आकंपित दोष के करने से रहित, आलोचन की शुद्धि से युक्त संयमी, धीर, वीर मुनि के पहिला गुण अहिंसा होता है।"[3]

पर्याप्ति अधिकार—अन्तिम अधिकार में संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्यापरिमाण, निर्वृति और स्थितिकाल—पर्याप्ति के इन छः भेदों के वर्णन हैं।

रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन :

इसके प्रथम अध्ययन में 'देवतामूढ़' को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति वर पाने की इच्छा से आशातृष्णा के वश तथा रागद्वेष से दूषित होकर देवताओं की पूजा-आराधना करता है वह 'देवतामूढ़' है। जो हिंसायुक्त सांसारिक व्यवहारों में लीन और आदर—सत्कारों के पीछे पड़े हुए हैं वे 'पाषण्डिमूढ़' हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे अव्रती होते

---

१. अधि० १०, गा० ९१८-९२१, ९२५, ९२७, ९५७.

२. अधि० ११, गा० १०१६, १०१७.

३. अधि० ११, गा० १०२०-१०२३ तथा १०३२, १०३३.

होते हुए यानी अहिंसाव्रत न करते हुए भी नरक-तिर्यञ्च आदि गति को प्राप्त नहीं करते।[1]

तृतीय अध्ययन में बताया गया है कि जब मोह रूपी अन्धकार दूर हो जाता है, तब सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में साधु राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए 'चरण' यानी अहिंसादि सम्यक्चारित्र को अपनाता है, क्योंकि रागद्वेष की निवृत्ति हिंसा आदि की निवर्तना से होती है, और हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह रूपी पापों को त्यागना ही सम्यक्चारित्र होता है।[2] आगे इस अध्ययन में अणुव्रत के लक्षणों को प्रस्तुत किया गया है।[3] इतना ही नहीं यह अध्ययन अहिंसा व्रत को पालनेवाले कुछ प्रसिद्ध लोगों के नाम भी प्रस्तुत करता है, जैसे—मातंग, धनदेव, वारिषेण, नीली, जय, धनश्री, सत्यघोष, तापस, आरक्षक, श्मश्रुनवनीत आदि।[4]

चतुर्थ अध्ययन भी अहिंसादि पाँच महाव्रतों के लक्षण बताता हुआ दिग्व्रत तथा उसके अतिचार पर प्रकाश डालता है।[5]

पंचम अध्ययन में देशावकाशिकव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवास आदि के विधानों की चर्चा हुई है। समय की मुक्तिपर्यन्त जो

---

१. वरोपलिप्सयाऽऽशावान् राग-द्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥
सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि-मोहनम् ॥ २४ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताऽल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

२. कारिका ४७-४९.

३. कारिका ५२-५४.

४. मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥ ६४ ॥
धनश्री-सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥ ६५ ॥

५. कारिका ७२, ७४-८१, ८४.

सभी जगहों पर हिंसा, असत्य आदि पाँच प्रकार के पापों का त्याग करता है, वह सामायिक व्रत का पालन करनेवाला होता है। वह सामायिकव्रत अहिंसादि व्रतों के परिपूरक हैं, अतः गृहस्थों को नित्य इसकी राह पर आगे बढ़ना चाहिए। सामायिक की अवस्था में गृहस्थ भी मुनि की तरह ही होता है।[1] प्रोषधोपवास व्रतवाले को उपवास के दिन हिंसादि पाँच पापों को, वस्त्रालंकरण आदि शरीर-सजावट को, कृष्यादि कर्मों को त्याग देना चाहिए।[2]

षष्ठ अध्ययन में सल्लेखना-विधि बताते हुए कहा गया है कि सल्लेखना व्रत को करनेवाला व्यक्ति स्नेह, वैर, संग तथा परिग्रह को त्यागकर निर्मल मन से स्वजनों तथा परिजनों को कोमल वाणी में उनसे की गई गलतियों के लिए क्षमा करे तथा अपने अपराधों के लिए भी उन लोगों से क्षमा याचना करे। साथ ही किए, करवाए तथा अनुमोदित पापों की आलोचना करते हुए जीवन पर्यन्त पाँच महाव्रतों को पालने की प्रतिज्ञा करे।[3]

सप्तम अध्ययन के अनुसार जो श्रावक मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द और बीज को कच्चे नहीं खाता है, वह सचित्त-विरत होता है। जो श्रावक रात में अन्न या अन्न से बनी हुई भोज्य वस्तुएँ, खाद्य (खाने योग्य-दूसरी वस्तुएँ), लेह्य, चटनी, शर्बत आदि ग्रहण नहीं करता, वह दयाभावयुक्त 'रात्रिभुक्तविरत' यानी छठे पद का धारक होता है। जो श्रावक प्राणपीड़ा के कारणरूप सेवा, कृषि, वाणिज्य तथा आरम्भादि से अलग है, वह "आरम्भ-त्यागी" श्रावक कहा जाता है।[4]

इस प्रकार रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार) में श्रावकों के लिए सभी धार्मिक विधि-विधानों के विवेचन मिलते हैं।

---

१. कारिका ९७, १०१, १०२.

२. कारिका १०७.

३. कारिका १२४, १२५.

४. कारिका १४१, १४२, १४४.

इस प्रकार जैन धर्म में अहिंसा-संबंधी सामग्री प्रायः इन्हीं ग्रन्थों में मिलती है, और इन्हीं ग्रन्थों को दार्शनिक या धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी समझा गया है। वैसे इन ग्रन्थों के अलावा भी अन्य ग्रन्थ हैं, जिनमें हिंसा-अहिंसा का विवेचन हुआ है। किन्तु सामान्यतौर से यह देखा जाता है कि अन्य ग्रन्थों ने इस अध्याय में प्रस्तुत ग्रन्थों में प्राप्त सिद्धान्तों को ही दुहराया है अथवा कुछ घटाया-बढ़ाया है।

★

तृतीय अध्याय

जैन दृष्टि से अहिंसा

जिस प्रकार सामान्य दृष्टि से अहिंसा को समझने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि पहले इसका ज्ञान किया जाए कि हिंसा क्या होती है, और जब हिंसा का ज्ञान हो जाता है तो स्वतः अहिंसा का स्वरूप भी सामने आ जाता है। उसी प्रकार जैन दृष्टिकोण से भी अहिंसा पर प्रकाश डालने के लिए यह आवश्यक-सा मालूम होता है कि पहले जैन दृष्टि से हिंसा को समझने का ही प्रयास किया जाए।

हिंसा की परिभाषा :

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"[1]

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वही हिंसा है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है ?

जीव जब प्राण धारण करता है तब प्राणी कहलाता है। भगवती सूत्र में कहा गया है कि जीव आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास तथा बाह्य श्वासोच्छ्वास लेने के कारण प्राण कहा जाता है। क्योंकि इसके अनुसार जीव के छः नाम हैं (प्राण, भूत, जीव, सत्त्व आदि) जो विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होते हैं। कालभेद की दृष्टि से प्राण को यों समझा जा सकता है—समय काल का वह छोटा अंश होता है जिससे आगे काल का कोई विभाजन नहीं हो सकता। असंख्य समय के मिलने से एक आवलिका बनती है। ३७७३ आवलिकाओं का एक श्वास होता है और इतनी ही आवलिकाओं का एक निःश्वास

---

१. तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अध्याय ७, सूत्र ८.

अथवा उच्छ्वास । एक श्वास तथा निःश्वास मिलकर यानी ७५४६ आवलिकाओं का एक प्राण होता है। इस प्रकार यह गणना घड़ी तक जाती है। इस तरह प्राण को विभिन्न रूपों में समझने का प्रयास किया गया है। सामान्यतौर से इतना कहा जा सकता है कि जिस शक्ति से हम जीव को किसी न किसी रूप में जीवित देखते हैं वह शक्ति प्राण है, जिसके अभाव में कोई भी शरीर शक्तिहीन हो जाता है। यह शरीरधारी जीव की भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में देखा जाता है। इसी वजह से प्राण के दस भेद किए गए हैं : १. स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, २. रसनेन्द्रिय बल प्राण, ३. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, ४. चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, ५. श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण, ६. काय बल प्राण, ७ वचन बल प्राण, ८. मन बल प्राण, ९. श्वासोच्छ्वास बल प्राण, १०. आयुष्य बल प्राण । परन्तु सभी जीवों में प्राण बराबर नहीं होते । एकेन्द्रिय जीव चार प्राणों का धारक होता है—स्पर्शनेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य; द्वीन्द्रिय में छः प्राण पाए जाते हैं—उपर्युक्त चार और दो—रसनेन्द्रिय तथा वचन; त्रीन्द्रिय में सात—पूर्वोक्त छः तथा घ्राणेन्द्रिय; चतुरिन्द्रिय में आठ—पूर्वोक्त सात एवं चक्षुरिन्द्रिय; असंज्ञी पंचेन्द्रिय में नौ—पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय का और संज्ञी पंचेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं—इनमें पूर्वोक्त नौ के अलावा मनोबल भी होता है। प्राण के दो रूप होते हैं—भावप्राण और द्रव्यप्राण, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का जो बाहरी रूप होता है वह द्रव्यप्राण है और सुनने की शक्ति है वह भावप्राण है।

जीव के उपर्युक्त किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। यदि कोई प्राण के द्रव्य रूप का घात करता है अथवा भाव रूप का घात, दोनों हिंसा के क्षेत्र में ही आयेंगे। इसलिए अहिंसा की परिभाषा उपर्युक्त तरीके से की गई है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है, फिर वचन और काय का। क्योंकि प्रमाद के वश में हुए व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जगती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो उस जीव का प्राणघात करता है, जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जाग्रत हुआ रहता है। इसी को अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥

इसे श्री नाथूराम प्रेमी निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट करते हैं :

"जिस पुरुष के मन में, वचन में व काय में क्रोधादिक कषाय प्रकट होते हैं, उसके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का घात तो पहिले होता है क्योंकि, कषाय के प्रादुर्भाव से भावप्राण का व्यपरोपण होता है, यह प्रथम हिंसा है, पश्चात् यदि कषाय की तीव्रता से, दीर्घ-श्वासोच्छ्वास से, हस्तपादादिक से वह अपने अंग को कष्ट पहुँचाता है अथवा आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणों का व्यपरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके कहे हुए मर्मभेदी कुवचनादिकों से व हास्यादि से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग में पीड़ा होकर उसके भावप्राणों का व्यपरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है। और अन्त में इसके तीव्रकषाय व प्रमाद से लक्ष्यपुरुष को शारीरिक अंगछेदन आदि पीड़ा पहुँचायी जाती है सो परद्रव्यप्राण-व्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। सारांश—कषाय से अपने-पर के भावप्राण व द्रव्यप्राण का घात करना यह हिंसा का लक्षण है।"[1]

हिंसा का स्वरूप :

इन परिभाषाओं से यह साफ जाहिर होता है कि हिंसा के दो रूप होते हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में कषाय का जाग्रत होना भावहिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्यहिंसा कहलाती है। इन दोनों के चार विकल्प माने गये हैं। दशवैकालिकचूर्णि में कहा गया है—

"सा य मणवयणकाएहिं जोएहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा, तत्थ भंगा चत्तारि-दव्वतोवि एगा हिंसा भावओवि, एगा हिंसा दव्वओ न भावओ, एगा भावओ न दव्वओ, अण्णा ण दव्वओ न भावओ,........."।[2]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—अनु० नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३१, सूत्र ४३.
२. दशवैकालिकचूर्णि—जिनदासगणि, प्रथम अध्ययन, पृ० २०.

अर्थात् मन, वचन, काय के दुष्प्रयोग से जो प्राणहनन होता है, वही हिंसा है। इसके चार भंग हैं—

१. भावरूप में और द्रव्यरूप में,

२. भावरूप में पर द्रव्यरूप में नहीं,

३. भावरूप में नहीं किन्तु द्रव्यरूप में और

४. न भावरूप में और न द्रव्यरूप में।

जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा लेता है और सर्प को मार डालता है, यह हिंसा के भावरूप और द्रव्यरूप हुए। क्योंकि यहाँ पर मारनेवाले के मन में सर्प को मारने का भाव आया और उसने उसे डंडे से मार भी डाला। यदि व्यक्ति ने सर्प को मारने के लिए डंडा उठाया और साँप भाग गया अर्थात् सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया, तो ऐसी स्थिति में भावहिंसा तो हुई किन्तु द्रव्यहिंसा नहीं हुई। संयोगवश यदि एक व्यक्ति पुआल से अन्न को अलग करने के लिए कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा हो और उस पीटने के सिलसिले में पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने चोट खाकर मर जाये तो यहाँ पर भावहिंसा नहीं किन्तु द्रव्यहिंसा हुई। धान पीटनेवाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भी भावना नहीं थी। लेकिन किसी सर्प को देखकर यदि एक व्यक्ति यह सोचकर कि यह भी एक जीव है, जो स्वच्छन्द विचर रहा है, न उसे मारने को सोचता है और न मारता ही है तो यहाँ न भावहिंसा हुई और न द्रव्यहिंसा ही। प्रवचनसार में हेमराज पांडेय ने इसके अध्याय ३ गाथा १६ की व्याख्या करते हुए हिंसा के दो रूप—अंतरंग और बहिरंग बताये हैं। ज्ञानप्राण का घात करनेवाली अशुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति अंतरंग हिंसा है और बाह्य जीव का घात करनेवाली बहिरंग हिंसा है।

सूत्रकृतांग, उपासकदशांग आदि में हिंसा की परिभाषा नहीं मिलती किन्तु अहिंसा-सम्बन्धी जो चर्चाएं हुई हैं, उनसे यह मालूम हो जाता है कि हिंसा के कौन-कौन से रूप होते हैं। सूत्र-कृतांग के प्रथम खण्ड में हिंसा का निषेध करते हुए "तिविहेण"

शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] "तिविहेण"—त्रिविधेन यानी तीन विधियों से हिंसा नहीं करनी चाहिए। सामान्य तौर से व्याख्याकारों ने इन तीन विधियों को मन, वचन और काय माना है। उपासकदशांग में—मनसा, वचसा, कायसा का स्पष्ट ही प्रयोग हुआ है।[२] मन, वचन और काय से हिंसा का निषेध करना यह साबित करता है कि मन, वचन और काय से हिंसा होती है, अर्थात् हिंसा के भाव रूप और द्रव्य रूप होते हैं। कुछ जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से भी विभाजित किया है तथा चार रूप दिखाये हैं—

१. संकल्पी—सोच-विचार कर पहले से मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना।

२. आरंभी—चौके-चूल्हे के काम में यानी भोजनादि तैयार करने में जो हिंसा होती है उसे आरंभी हिंसा कहते हैं।

३. उद्योगी—खेती-बारी, उद्योग आदि करने में जो प्राणातिपात होता है।

४. विरोधी—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।[३]

हिंसा की उत्पत्ति एवं भेद :

हिंसा की उत्पत्ति कषायों के कारण होती है। ये कषाय चार होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हीं कषायों के कारण संरंभ, समारंभ तथा आरंभ हिंसा होती है। हिंसा करने का जो विचार मन में आता है, उसे संरंभ कहते हैं; हिंसा करने के लिए जो उपक्रम होते हैं उन्हें समारंभ कहते हैं; और प्राणघात तक की क्रियाओं को आरम्भ कहा जाता है। इस प्रकार चार कषाय तथा संरंभ आदि तीन से हिंसा के बारह भेद हो जाते हैं। चूंकि हिंसा मन,

१. सूत्रकृतांग, प्रथम खण्ड, तृतीय अध्ययन, उद्देशक ३, गाथा १३, १४.

२. उपासकदशांग, द्वितीय खण्ड, प्रथम अध्याय, गाथा १३.

३. अहिंसा दर्शन—उपाध्याय अमरमुनि, सं० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, पृष्ठ १०१.

वचन और काय से होती है, जैसा कि हमलोगों ने पहले ही देखा है तो पहले के बारह भेद के भी तीन-तीन भेद हो जायेंगे। अर्थात् १२ × ३ = ३६ भेद हुए। किन्तु मन, वचन और काय जिन्हें तीन योग माना जाता है, के भी तीन-तीन भेद होते हैं—हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करना। ये तीन 'करण' कहलाते हैं। इस प्रकार पहले के ३६ और तीन करण के गुणा से हिंसा के १०८ भेद माने जाते हैं।[1]

हिंसा के विभिन्न नाम :

प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के निम्नलिखित ३० नाम बताये गये हैं—[2]

१. पाणवहं—प्राणवधः—जीवघातः अर्थात् जीवों का घात करना।
२. उम्मूलणा सरीरओ—उन्मूलना शरीरतः—शरीर से वृक्ष को उखाड़ने की तरह जीव की उन्मूलना।
३. अवीसंभो—अविश्रम्भः—अविश्वास, प्राणघात करने में जीव के प्रति विश्वास नहीं होता।
४. हिंसविहिंसा—हिंस्यविहिंसा—प्राणियों के प्राणों का विनाश।
५. अकिच्चं—अकृत्य—अकरणीयं।
६. घायणा—घातना—घात करना।
७. मारणा—मारण अर्थात् मृत्यु का हेतु।
८. वहणा—हननम्—वध, हनन।
९. उद्दवणा—उपद्रवणम्—उपद्रव।
१०. निवायणा—निपातना—त्रिपातना—त्रयाणां मनोवाक्कायानां अथवा देहयुक्तेन्द्रियाणां जीवस्य पातना—मन, वचन, काया इन तीनों से अथवा शरीर, आयु और इन्द्रिय इन तीनों से जीव को रहित करना।
११. आरंभसमारंभो—आरंभसमारंभ।

---

१. अहिंसा-दर्शन, पृष्ठ १३५-१३६.
२. प्रश्नव्याकरण, प्रथम श्रुतस्कन्ध (आस्रवद्वार), अध्ययन १, सूत्र २.

१२. आउयकम्मस्सुवद्दवो भेया णिट्ठण गालणा य संवट्टक संखेवो—आयुकर्म का उपद्रव, भेद, निष्ठापन, गालना, (गलाना), संप्रवर्तक, संक्षेप ।
१३. मच्चू—मृत्यु ।
१४. असंजमो—असंयम ।
१५. कडगमद्दणं—कटकमर्द्दनं—कटकेन सैन्येन कलिजेन आक्रम्य मर्द्दनं कटकमर्द्दनं ।
१६. वोरमणं—व्युपरमणं—प्राण को शरीर से अलग कर देना ।
१७. परभवसंकामकारओ—परभवसंकारमणकारकः—परभव यानी नरक-निगोदादि चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कराने वाली ।
१८. दुग्गतिप्पवाओ—दुर्गतिप्रपातः—नरकादि दुर्गतियों में गिराने वाली ।
१९. पावकोवो—पापकोपश्च—पापकोप अर्थात् पाप प्रकृतियों को पोषण करनेवाली अथवा पाप और कोपरूप ।
२०. पावलोभो—पापलोभश्च—पापागमनद्वारलक्षण—पाप को लाने वाली ।
२१. छविच्छेओ—छविच्छेद—प्राणियों के शरीर का छेदन करनेवाली ।
२२. जीवियंतकरणो—जीवितान्तकरणः—जीवन का अन्त करने वाली ।
२३. भयंकरो—भयदायकः—भयंकर ।
२४. अणकरो—ऋणकरः—पापरूपी ऋण को करनेवाली ।
२५. वज्जो—वर्ज्यः त्याज्यः, वज्रमिव वज्रं गुरुत्वात् महामोह-हेतुत्वात्—विवेकी पुरुषों द्वारा वर्जित अथवा वज्र-सा भारी, महामोह का कारण ।
२६. परितावणअण्हओ—परितापनाश्रवः—परितापनारूप आस्रव, प्राणियों को ताप देनेवाला आश्रय ।
२७. विणासो—विनाशः—विनाश ।
२८. निज्जवणो—निर्यापना—शरीर से प्राण को पृथक् करनेवाली ।
२९. लुंपणा—लोपना—प्राणी के प्राण का लोप करना ।
३०. गुणाणं विराहणा—गुणानां विराधना—ज्ञान, दर्शन, चारित्र-आदि जीव के गुणों की विराधना ।

हिंसा के विविध रूप :

प्रश्नव्याकरण सूत्र में ही हिंसा के विविध रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो निम्न प्रकार से हैं—[1]

१. पावो—पाप:—पाप प्रकृतियों के बन्ध का कारण होने से पापरूप।
२. चंडो—चण्ड:—क्रोध का प्रचण्ड रूप होने के कारण चण्ड कहलाती है।
३. रुद्दो—रौद्र:—रौद्ररूप से परिवर्तित होने की वजह से रौद्ररूप।
४. खुद्दो—क्षुद्र:—क्षुद्रजन द्वारा आचरित अथवा द्रोहकारी।
५. साहसिओ—साहसिक:—अविचारशील व्यक्तियों के द्वारा किये जाने के कारण अथवा सहसा किये जाने के कारण साहसिक रूप।
६. अणायरिओ—अनार्य:—अनार्य जनों के द्वारा विहित होने के कारण अनार्य रूप।
७. णिग्घिणो—निर्घृण:—करुणा पापजुगुप्सा इति—निर्दया अर्थात् दयारहित व्यक्तियों के द्वारा सेवित होने के कारण यह निर्दया रूप हुई।
८. णिस्संसो—नृशस—क्रूर।
९. महब्भओ—महाभय.—महाभय को देनेवाली।
१०. पइभओ—प्रतिभय:—प्रतिप्राणी को भय देनेवाली।
११. अतिभओ—अतिभय:—मरणान्त भयजनक होने के कारण अतिभय।
१२. बीहणओ—चित्त को उद्वेग पहुंचानेवाली या भयोत्पादक।
१३. तासणओ—त्रासनक:—त्रासजनक, अकस्मात् भय देनेवाली।
१४. अणज्जो—अन्याय्य:—अन्यायरूप अथवा अनार्यों द्वारा आचरित।
१५. उव्वेयणओ—उद्वेगजनक, चित्त में विप्लव पैदा करनेवाली।
१६. णिरवयक्खो—निरपेक्ष—दूसरे प्राणियों के प्राण की उपेक्षा करनेवाली।

---

१. प्रश्नव्याकरण, प्रथम श्रुतस्कन्ध (आस्रवद्वार), प्रथम अध्ययन, सूत्र १.

१७. णिद्धमो—निर्धर्म—श्रुतचारित्र रूप धर्म से वर्जित।
१८. णिप्पिवासो—निष्पिपासः—प्राणियों के प्रति स्नेहरहित।
१९. णिक्कलुणो—निष्करुण—दया भाव से रहित।
२०. निरयवासनिघणगमो – निरयवासनिधनगमः — निरयवास, नरकवास ही जिसका अन्तिम फल है।
२१. मोहमहब्भयपयट्टओ—मोहमहाभयप्रवर्तकः—मोह अज्ञानरूप महाभय को देनेवाली।
२२. मरणवेमणस्सो—मरणवैमनस्य—मृत्यु का कारण होने से प्राणियों में दीनता आती है अतः यह मरण वैमनस्य रूप है।

स्वहिंसा और परहिंसा :

हिंसा करने से प्रायः समझा जाता है दूसरों को पीड़ा पहुँचना। एक व्यक्ति क्रोधित होकर दूसरे को मारता है तो निश्चित ही उसे कष्ट पहुँचता है जिसे मार पड़ती है। मार खानेवाले व्यक्ति को शारीरिक क्षति पहुँचती है और इसका प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। इस प्रकार वह शारीरिक कष्ट पाने के साथ-साथ मानसिक पीड़ा भी पाता है। और उस पक्ष को जो दूसरे को मारने वाला होता है, सभी कष्टों से मुक्त समझा जाता है। यानी दूसरे को मारने में मारनेवाले को कोई कष्ट नहीं होता।

किन्तु ऐसा सोचना सर्वथा गलत है। जब व्यक्ति के मन में कषाय का जागरण होता है तब वह क्रोधित होता है और दूसरे को मारता-पीटता है, गालियाँ देता है। ऐसी स्थिति में उसके मन और तन दोनों में ही विकृति आ जाती है। उसके मन की शान्ति लुट जाती है, वह तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है और शरीर में तो तनाव आ ही जाता है। फिर वह दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। इन दोनों ही स्थितियों में से प्रथम तो मारने वाले का आत्मघात करती है और दूसरी परघात करती है। तात्पर्य यह कि क्रोधादि मानसिक विकार से पहले मारनेवाले की आत्मा का घात होता है और बाद में वह दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। इन दोनों स्थितियों के लिए ही स्वहिंसा तथा परहिंसा का प्रयोग होता है अर्थात्

क्रोधादि से सर्वप्रथम अपना आत्मघात होता है। फिर परघात या परहिंसा होती है।[1]

षट्कायों की हिंसा :

आचारांग सूत्र के 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन में षट्कायों की हिंसा का वर्णन मिलता है—

पृथ्वीकाय--विषय-कषायादि क्लेशों से पीड़ित, ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभबोधि प्राणी इन व्यथित, पीड़ित एवं दुःखित पृथ्वी-कायिक जीवों को खान खोदने आदि अनेक तरह के कार्यों के लिए परिताप देते हैं, उन्हें विशेष रूप से संतप्त करते हैं, दुःख एवं संक्लेश पहुँचाते हैं।·· · कुछ विचारक अपने आपको अनगार, त्यागी एव जीवों के संरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय का आरम्भ-समारम्भ करके जीवों की हिंसा करते हैं। आरम्भ-समारम्भ एवं पृथ्वी के शस्त्र से वे पृथ्वीकाय के जीवों का ही नहीं अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवों का भी घात करते हैं।······ कुछ लोग इस जीवन के लिए, प्रशंसा पाने के हेतु, मान-सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा की अभिलाषा से जन्म-मरण से छुटकारा पाने तथा दुःखों का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवों का घात करनेवाले शस्त्र का स्वयं प्रयोग करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और शस्त्र का प्रयोग करनेवाले का अनुमोदन—समर्थन करते हैं।[2]

---

१. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

२. अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए ।
अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति ॥१४॥
'' अणगारमो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥१५॥
जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ-मरणमोयणाए, दुक्ख-

अप्काय—जो व्यक्ति अज्ञानी तथा प्रमादग्रसित होता है वह प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाने के लिए तथा जीवन की अनेक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए अप्कायिक प्राणियों का स्वयं आरम्भ-समारम्भ करता है, दूसरों से कराता है तथा उन व्यक्तियों की प्रशंसा करता है या अनुमोदन करता है, जो अप्कायिक प्राणियों का आरम्भ-समारम्भ करते हैं। भगवान् महावीर ने माना है कि अप्काय में अप्काय जीवों के पिण्ड होते हैं। इन्होंने अप्काय—जल को सजीव मानते हुए यह भी कहा है कि उसमें द्वीन्द्रिय आदि जीव भी रहते हैं।[1]

अग्निकाय—'.........भगवान् ने परिज्ञा—विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए प्रशंसा, मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म-मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से, तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के विनाशार्थ स्वयं अग्नि का आरम्भ करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और करनेवाले को अच्छा समझते हैं।............यह अग्नि समारंभ अष्ट कर्मों की गाँठ है, यह मोह का कारण है। यह मृत्यु का कारण है और यह नरक का भी कारण है। फिर भी विषय-भोगों में मूर्छित—आसक्त व्यक्ति अग्निकाय के समारम्भ से निवृत्त नहीं होता। वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रों के द्वारा अग्निकायिक जीवों की

पडिघाय हेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभते समणुजाणइ ॥१६॥
आचारांग सूत्र—आत्मारामजी, प्र० श्रुतस्कंध, प्र० अध्ययन, उद्देशक २, पृष्ठ ७३-७४, ७७-७८, ८२-८३.

१. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए-जाइ-मरण मोयणाए दुक्ख पडिघाय हेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे उदय-सत्थं समारंभंते समणुजाणति।- ॥२४॥
इहं च खलु भो! अणगाराणं उदय जीवा वियाहिया ॥२५॥
सत्थं चेत्थं अणुवीइ पासा, पुढो सत्थं पवेइयं ॥२६॥
आचारांग—आत्मारामजी, प्र० श्रु०, प्र० अ०, उद्दे० ३.

हिंसा करता हुआ अन्य अनेक जीवों की भी हिंसा करता है। ....अग्निकाय के आरम्भ में विभिन्न जीवों की हिंसा होती है, ...। पृथ्वी के आश्रय में तथा तृण, काष्ठ, गोबर, कूड़ा-करकट के आश्रय में निवसित विभिन्न तरह के अनेक जीव और इसके अतिरिक्त आकाश में उड़नेवाले जीव-जन्तु, कीट-पतंग एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग में आ गिरते हैं और उसके (आग के) संस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मूर्छित होकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं।[1]

सूत्रकृतांग में कहा है कि आग जलानेवाला पुरुष जीवों की हिंसा करता है और जो आग बुझाता है वह अग्निकाय जीवों की हिंसा करता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष अग्निकाय जीव का घात करने से बचें।[2]

वायुकाय—इस निःसार जीवन की सुख-सुविधा, प्रशंसा, तथा जन्म-मरण के कष्ट से निवारण के लिये प्रमाद के वशीभूत हुआ व्यक्ति वायुकाय जीवों का नाश करता है। जो जीव उड़ते हैं वे वायु के चक्र में आ जाने से मूर्छित होकर नीचे आ जाते हैं, उनके शरीर में संकोच आ जाता है और उनके प्राणान्त हो जाते हैं। इस प्रकार वायुकाय जीवों का आरम्भ होता है। जो इस आरम्भ से निवृत्त न हो पाते हैं वे अपरिज्ञात कहे जाते हैं और जो निवृत्त हो जाते है वे परिज्ञात।[3]

वनस्पतिकाय—मनुष्य शरीर जिस तरह जन्म धारण करता है, बढ़ता है, चेतना धारण करता है, छेदन-भेदन से मुर्झा जाता है,

---

१. आचारांग सूत्र—आत्मारामजी, प्र०श्रु०, प्र०अ०, उद्दे० ४, सूत्र ३७-३८.
२. सूत्रकृतांग, अध्ययन ७, सूत्र ५-७.
३. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं ॥५६॥ आचारांग, प्र०अ०, उद्दे० ७, सूत्र ५६ तथा ५७.

आहार ग्रहण करता है, परिवर्तनशील, चय-उपचय वाला, तथा अनित्य एवं अशाश्वत है ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी होता है यानी वनस्पतिकाय भी इन सभी गुणों को धारण करनेवाला होता है। किन्तु प्रमादवश व्यक्ति अपने मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, अन्य सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए इसकी हिंसा विभिन्न रूपों में करता है, कराता है तथा करनेवाले का अनुमोदन करता है।[1]

त्रसकाय—*विषयकषायादि के वशीभूत आतुर एवं अस्वस्थ* चित्तवाले व्यक्ति अपने अनेक प्रकार के स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त विभिन्न त्रसकाय जीवों को कष्ट पहुँचाते हैं। त्रसजीव पृथ्वी, पानी, वायु के आश्रित सभी स्थानों पर पाये जाते हैं। प्रमादी जीव पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, विभिन्न दुःखों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से त्रसकाय जीवों की हिंसा करते हैं, दूसरे से कराते हैं और करनेवालों का अनुमोदन भी करते हैं।[2]

'इस संसार में अनेक जीव देवी-देवताओं की पूजा के लिए, कई चर्म के लिए या मांस, खून, हृदय, पित्त, चरबी, पंख, पूँछ, केश, शृंग-सींग, विषाण, दन्त, दाढ़, नाखुन, स्नायु, अस्थि, मज्जा, आदि पदार्थों के लिए, प्रयोजन या निष्प्रयोजन से अनेक प्राणियों का वध करते हैं, कुछ व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिंह, सर्प आदि जन्तुओं का वध करते हैं कि उन्होंने मेरे स्वजन स्नेहियों को मारा है, यह मुझे मारता है तथा भविष्य में मारेगा।[3]

---

१. आचारांग सूत्र—आत्मारामजी, प्र०श्रु०, प्र०अ०, उ० ५, सूत्र ४६; तथा "से बेमि इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिधम्मयं, एयंपि वुड्ढिधम्मयं, इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं-मिलाइ, एयंपि छिण्णं मिलाइ, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं एयंपि असासयं, इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ॥४७॥ वही, सू० ४७.

२. आचारांग सूत्र, प्र०श्रु०, प्र०अ०, उद्दे० ६, सूत्र ५१-५३.

३. वही, सूत्र ५४.

आचारांग के अलावा सूत्रकृतांग,[1] प्रश्नव्याकरण सूत्र,[2] दशवैकालिक सूत्र[3], प्रवचनसार[4] मूलाचार[5] आदि में षट्कायों की हिंसा की चर्चाएँ मिलती हैं।

हिंसा के विभिन्न कारण :

प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के निम्नलिखित कारणों के उल्लेख हैं—[6]

पृथ्वीकाय—करिसण—कृषि, पृथ्वी को जोतना; पोक्खरणी—पुष्करणी यानी तालाब; वात्रि—वापी, बावड़ी, वप्पिणि—क्यारी, नाली; कूव—कूप; सर—सरोवर; तलाग—तालाब या तड़ाग; चिइ—दीवाल के निमित्त; वेइय—वेदी; खाइय—खाई; आराम—आराम के निमित्त या बगीचा; विहार—मठ; थूभ—स्तूप; पागार—प्राकार, कोट के निमित्त; द्वार—द्वार के निमित्त; गोउर—गोपुर; अट्टालग—अटारी; चरिया—चरिका नगर और कोट के बीच का मार्ग; सेतु—पुल; संकम—ऊँची-नीची भूमि को पार करने का मार्ग; पासाय—प्रासाद, राजमहल; विकप्प—विकल्प, एक प्रकार का राजमहल; भवण—भवन; घर—गृह; सरण—सामान्य, तृण आदि का मकान; लेण—पर्वतवर्ती पाषाणगृह, पर्वत काटकर बनाये जानेवाले मकान; आवण—दुकान; चेइय—चैत्य के निमित्त; देवकुल—देवालय; चित्तसभा—चित्रसभा; पवा—प्याऊ; आयतन—यज्ञशाला, देवस्थान; आवसह—अवसथ—तापसों के आश्रम, मठ; भूमिघर—भूमिगृह; मंडवाण—मण्डप; तथा भायण—भंडोवगरणस्स अट्ठाय—मिट्टी के विभिन्न प्रकार के बर्तनों के लिए अज्ञानी जीव पृथ्वीकाय जीव का घात करते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग, द्वितीय खण्ड, अध्ययन ७, सूत्र १, २, ७, ८, १०, १६, १९.
२. प्रश्नव्याकरण सूत्र, प्र०श्रु०, आश्रवद्वार, अध्ययन १.
३. दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन, षड्जीवनिकाय।
४. प्रवचनसार, अध्याय ३, गाथा ४९.
५. मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गाथा २०५-२२५.
६. प्रश्नव्याकरण सूत्र, प्र०श्रु०, आश्रवद्वार, अध्याय १.

अप्काय—मज्जण—स्नान; पाण--पान; भोयण—भोजन बनाना; वत्थधोवण--कपड़े धोना तथा सोयमइएहिं—शौच आदि कार्यों में अप्काय की हिंसा होती है।

अग्निकाय—पयण---भोजन पकाना; पयावण—पकवाना, जलावण—जलाना और विदंसणेहिं--प्रकाश के लिए।

वायुकाय—सुप्प---सूप से अन्नादि साफ करना; वियण—हवा करना पखे से; तालपट—ताल के पंखे से; पेहुण--मोर के पंख से; मुह--मुख; करयल--हाथ; सागपत्त---शाकवृक्ष के पत्ते से और वत्थमाइएहिं---वस्त्रादि से वायु के जीवों की हिंसा होती है।

वनस्पतिकाय—अगार—घर बनाना; पटियार—खेती या बगीचे की रक्षा के लिए बाड़ बनाना, या परिचार—जीविका; भक्खभोयण—खाने के लिए भोजन आदि बनाना; सयण—शयन; आसण—आसन; फलग—फलक—काष्ठनिर्मितवस्तु; मूसल—धान कूटने का मूसल; उक्खल—ऊखल; तत—वीणा; वितत—वितत—नगारा आदि; आतोज्ज—आतोद्य, ढोल आदि; वहण—वहन—पोत, नौका आदि यान पात्र; मंडव—मण्डप; विविह भवण—विविध भवन; तोरण—तोरण; विटंग—विटंक—कबूतर रखना; देवकुल—देवस्थान; जालय—झरोखा; अद्धचंद—अर्द्धचन्द्रकार की बारी, सोपान विशेष; णिज्जूहग—निर्य्यूहक—द्वार के उर्ध्वभाग में बाहर की ओर लगे हुए घोड़ा आदि के आकार का काष्ठ विशेष; चंदसालिय—चन्द्रशाला—प्रासाद के ऊपर की शाला; वेतिय (वेइय)—वेदिका; णिस्सेणि—निःश्रेणी—निसेनी—सीढ़ी; दोणि—छोटी नौका; चंगेरी—तृणादि से बना हुआ पात्र; खील—कील—खूटी; मेढक—खम्भा; सभा—सभा; पवा—प्रपा—प्याऊ; आवसह—आवसथ—मठ—तापसाश्रम; गंध—गंध; मल्ल—मालादि; अनुलेवणं—अनुलेपन चंदनआदि; अबर—अम्बर—वस्त्र; वरयुग, युग—जूसरा—जुवारी; णगल—लांगल—हल या हल की कील; मेइय—मेतिक—मेड़ा, वरवर—जोते गये खेत की मिट्टी को बराबर करने के निमित्त बनी हुई पटिया; कुलिय—कूलिक—हल विशेष—बीज बोने के लिए हल में बँधी हुई नली। संदण-स्यंदन—एक प्रकार का रथ; सीया—शिबिका—पालकी; रह—रथ; सगड—शकट—गाड़ी; यान—वाहन; जोग्ग—

गुम्म—छोटी झाड़ी, अमपाम विशेष; अट्टालय—अट्टालक—अट्टालिका; चरिका—नगर और कोट के मध्य का मार्ग; दार—द्वार; गोउर—गोपुर—नगर का बड़ा दरवाजा; फलिहा—परिघा; आलम—अर्गला बेड़ा; जंत—यंत्र—यानी पानी आदि निकालने के लिए बना हुआ अरघट्ट आदि; सूलिया—शूलिका—शूलारोपण काष्ठ; लउड—लगुड—लकुट, लाठी; मुसंढि—मुसंढी—शस्त्र विशेष (बन्दूक); सयग्घी—शतघ्नी—शस्त्र विशेष जिससे एक ही बार में सौ व्यक्ति मारे जा सकते हैं (तोप आदि); बहुपहरणा—अनेक प्रहरण—बहुत प्रकार के शस्त्रादि—खंग, तोमर, तीर आदि; वरभूवक्खणकए—विभिन्न प्रकार के गृह-उपकरण आदि। इस प्रकार के अनेक कारणों से प्रमादी तथा अज्ञानी लोग वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा करते हैं।

त्रसकाय—जो महामूर्ख हैं तथा दयाहीन भी हैं, वे ऊपर कथित तथा अन्य प्रकारों से जीव को मारते हैं। वे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, वैदिक क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए, जीवन, काम, अर्थ, धर्म आदि के लिए स्वतन्त्र, परतंत्र, प्रयोजनवश, निष्प्रयोजन विभिन्न अवस्थाओं में एवं विभिन्न प्रकारों से त्रस तथा स्थावर प्राणियों का घात करते हैं।

हिंसा के स्तर :

हिंसा होती है, इसमें तीन चीजें प्रधान समझी जाती हैं — १. हिंस्य यानी जिसकी हिंसा होती है, २. हिंसक जो हिंसा करता है और ३. हिंसा होने के कारण। अतः इन तीनों पर विचार करने से यह सही-सही जाना जा सकता है कि हिंसा के स्तर भी होते हैं अथवा नहीं।

हिंसा किसी जीव की होती है। जैन दृष्टिकोण से जीव छः प्रकार के होते हैं : पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, वायुकाय और त्रसकाय। चूँकि जीव सभी में है, अतः किसी की भी हिंसा हो, चाहे वह पृथ्वीकाय या वनस्पतिकाय या त्रसकाय हो हिंसा बराबर ही होगी, ऐसा मत तेरहपंथी श्वेताम्बर मतानुयायियों का है। किन्तु जीव सभी बराबर हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव होते हैं।

इसका मतलब यह कि एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव अधिक चेतना तथा अधिक विकसित होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी जीवों को बराबर-बराबर इन्द्रियाँ ही प्राप्त होतीं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवों में अन्तर है और जब जीवों में अन्तर है तो उनकी हिंसा में भी अन्तर होगा ही।

सूत्रकृताग में हस्तितापसों की चर्चा है। जब आर्द्रकुमार महावीर से मिलने को प्रस्थान करते हैं तो राह में अनेक मत वाले मिलते हैं और अपने-अपने मतों की प्रधानता दिखाते हैं; उसी सिलसिले में हस्तितापस भी आते हैं और कहते हैं—

> "……बुद्धिमान् मनुष्यो को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिये। जो कन्दमूल, फल आदि को खाकर अपना निर्वाह करनेवाले तापस है, वे बहुत से स्थावर प्राणियों को तथा उनके आश्रित अनेक जंगम प्राणियों का नाश करते हैं। गुलर आदि फलो मे बहुत से जगम आदि प्राणी निवास करते हैं। इसलिये गुलर आदि फलों को खानेवाले तापस उन अनेक जंगम जीवो का विनाश करते हें। तथा जो लोग भिक्षा से अपनी जीविका चलाते है वे भी भिक्षा के लिए इधर-उधर जाते-आते समय अनेक कीड़ी आदि प्राणियों का मर्दन करते हें तथा भिक्षा की कामना से उनका चित भी दूषित हो जाता है। अतः हम लोग वर्षभर में एक महान् हाथी को मारकर उसके मांस से वर्ष भर अपना निर्वाह करते हैं और शेष जीवों की रक्षा करते हें। अतः हमारा धर्म आचरण करने से अनेक प्राणियों की रक्षा और एक प्राणी का विनाश होता है इसलिए यह धर्म सबसे श्रेष्ठ है ……।"[1]

यदि हिंसा का स्तर हिंसित जीवों की संख्या पर निर्भर होता तो एक व्यक्ति जो दो-चार ईख तोड़कर चूस डालता है वह और

१. संवच्छरेणावि य एगमगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥ ५२ ॥
सूत्रकृतांग (सं० अम्बिकादत्तजी ओझा), द्वितीय श्रुतस्कन्ध, षष्ठ अध्ययन, पृ० ३७२–३७३.

दूसरा व्यक्ति जो एक आदमी की हत्या कर देता है, बराबर समझा जाता, बल्कि ईख तोड़नेवाला ही अधिक अपराधी समझा जाता क्योंकि वह चार ईख तोड़ता है और आदमी की हत्या करनेवाला सिर्फ एक ही व्यक्ति यानी एक ही जीव की हिंसा करता है। लेकिन ऐसा कभी नहीं देखा गया है कि ईख उखाड़नेवाले के बजाय आदमी की हत्या करनेवाला कम दोषी ठहराया गया हो।

हिंसा भावप्रधान है, यद्यपि हिंसा के प्रधानतौर से दो रूप माने गये हैं—भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा। अर्थात् हिंसक की भावना के आधार पर यह जाना जाता है कि हिंसक कहाँ तक दोषी है अथवा निर्दोष। और यह भी सर्वविदित है कि हिंसा की मूलभित्ति कषाय है—क्रोध, लोभ, मान, माया। कषाय के होने से ही हिंसा होती है और न होने से हिंसा नहीं होती है। कषाय की मात्रा जितना ही अधिक होगी हिंसा का स्तर उतना ही ऊँचा होगा और कषाय की मात्रा जितनी ही कम होगी हिंसा का स्तर उतना ही नीचा होगा।

इस प्रकार हिंसा के स्तर को निर्धारित करने के दो साधन हुए—जीव का आपसी अन्तर तथा कषाय की मात्रा। किसी एकेन्द्रिय जीव की हत्या होती है तो हत्या के समय उस जीव की ओर से न किसी प्रकार की दु:खद भावना व्यक्त होती है और न कोई प्रतिकार ही होता है। अत: उसकी हत्या में हत्यारे या हिंसक के मन में कोई विशेष प्रमाद नहीं आता। किन्तु जैसे-जैसे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे हिंसक के मन में पैदा होनेवाले कषायों की मात्रा बढ़ती जाती है। यदि किसी पंचेन्द्रिय की हत्या करना कोई चाहता है तो वह जीव बचने का प्रयास करता है, हत्या करनेवाले को भी मारना चाहता है, छटपटाता है, चिल्लाता है, चिंघाड़ता है, अतएव मारनेवाले को उस जीव की हत्या करने के लिए अपने दिल को अधिक कठोर बनाना पड़ता है, अधिक उपकरणों का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसी बात एकेन्द्रिय जीव की हत्या में नहीं होती। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें नेमिनाथ (बाईसवें तीर्थङ्कर) के जीवनचरित्र में मिलता है। जब नेमिनाथ की शादी ठीक हुई, बारात प्रस्थान के पहले उन्हें सभी औषधियों से मिले

हुए जल से स्नान कराया गया[1] और काफी सजधज के साथ बारात में प्रस्थान किया। किन्तु प्रस्थान के समय ही उन्होंने बाड़ों और पिंजरों में बन्द भयाकुल तथा दु:खित पशु-पक्षियों का आर्तनाद सुना और पूछने पर सारथि से उन्हें ज्ञात हुआ कि वे पशु-पक्षी इसलिये बाड़ों में बन्द थे कि उनकी शादी की खुशी में उन सबों को मारकर उनके कुटुम्बियों तथा मित्रों को मांस भक्षण कराया जाएगा। यह बात नेमिनाथ के हृदय को छू गयी और उन्होंने सभी पशु-पक्षियों को बाड़ों से निकलवा कर स्वतंत्र कर दिया और अपनी शादी रोक दी तथा घरबार त्याग कर सीधे जंगल की ओर चल पड़े।[2] जिस समय नेमिनाथ को विभिन्न औषधियों से मिश्रित जल से स्नान कराया गया, उस समय निश्चित ही असंख्य अप्काय जीवों तथा अन्य छोटे-छोटे जीवों की हिंसा हुई होगी किन्तु उन्होंने स्नान कर्म को रोका नहीं और न करुणाजनक कोई बात ही कही। लेकिन बाड़ों में बन्द पशुओं को देखकर उनके मन में करुणा की एक धारा-सी बह चली और आर्तनाद करते हुए सभी पशु-पक्षियों को बाड़ों एवं पिंजरों से मुक्त करवा दिया और स्वयं मुनि धर्म अपना लिया। इसका कारण और कुछ नहीं कहा जा सकता सिर्फ इसके कि पंचेन्द्रिय पशुओं की छटपटाहट, करुणक्रन्दन आदि से ये प्रभावित हुए और एकेन्द्रिय अप्काय जीवों का विनाश उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल

---

१. सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कयकोउयमंगलो।
 दिव्वजुयलपरिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ॥ ९ ॥
 —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २२.

२. अह सो तत्थ निज्जंतो दिस्स पाणे भयद्दुए।
 वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥ १४ ॥
 अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
 तुज्झं विवाहकज्जम्मि, भोयावेउं बहुं जणं ॥ १७ ॥
 सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं।
 चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहिउ ॥ १८ ॥
 जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।
 न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥ १९ ॥
 —उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२.

सका। इससे साफ जाहिर होता है कि पंचेन्द्रिय की हिंसा सबसे बड़ी हिंसा और चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय एवं एकेन्द्रिय की हिंसा क्रम से छोटी हिंसाएँ हैं। इसीलिये त्रसकाय की हिंसा का सर्वप्रथम निषेध किया जाता है।

सूत्रकृतांग में उदक पेढालपुत्र तथा गौतम (महावीर के शिष्य) के बीच प्रत्याख्यान-संबंधी वार्तालाप हुई है। प्रत्याख्यान करने वाला कहता है—"राजा आदि के अभियोग को छोड़कर (गाथापति चोर ग्रहणविमोक्षण न्याय से) त्रस प्राणी को दण्ड देने का त्याग है।[1] इस प्रत्याख्यान में, जैसा कि उदक पेढालपुत्र का कथन है "त्रस" शब्द के साथ "भूत" भी रहना चाहिये, क्योंकि सिर्फ त्रस कहने से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि भूत जीव का त्रस या वर्तमान या भविष्य का। क्योंकि जो अभी त्रस है, वह हो सकता अगले *जन्म में स्थावर हो जाये या जो पूर्वजन्म में स्थावर था वह इस* जन्म त्रस है। अतः "भूत" शब्द को "त्रस" के साथ जोड़ देने पर यानी त्रसभूत कहने से यह बोध हो जाता है कि वर्तमान समय का ही त्रस, भूत और भविष्य का नहीं। और इससे प्रत्याख्यान का सही-सही पालन हो जाता है। किन्तु गौतम के मत में "त्रस" के साथ "भूत" का जोड़ना आवश्यक नहीं होता क्योंकि "त्रस" मात्र कहने से ही वर्तमान के त्रसजीव का बोध हो जाता है। इनके अनुसार प्रत्याख्यान करनेवाला सिर्फ वर्तमान के त्रसकाय की हिंसा का

---

१. आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणनिग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति-णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं, कस्स णं तं हेउ ? संसारिया खलु पाणा थावरावि, पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि।

सूत्रकृतांग (सं० अम्बिकादत्त ओझा), दूसरा श्रुतस्कन्ध, सप्तम अध्ययन, पृष्ठ १८१.

त्याग करता है, भूत और भविष्य के त्रसकाय प्राणियों की हिंसा का नहीं।

प्रत्याख्यान करनेवाला अभियोग यानी राजा की आज्ञा, गण की आज्ञा, गणतन्त्रात्मक राज्य की आज्ञा, बलवान की आज्ञा, माता-पिता आदि की आज्ञा तथा आजीविका के भय को ध्यान में रखते हुए हिंसा करता है, यानी इन आज्ञाओं की वजह से यदि उसे हिंसा करनी पड़ती है तो उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। इस संबंध में दूसरी बात है "गाथापतिचोर-ग्रहणविमोक्षण न्याय" जो इस प्रकार है—किसी गृहस्थ के छः बेटे थे और किसी जुर्म के कारण छहों को राजा की ओर से मृत्यु दण्ड मिला। तब वह गृहस्थ राजा के पास जाकर प्रार्थना करने लगा। उसने अपने वंश की रक्षा के लिए सिर्फ एक पुत्र को मारने के लिए तथा अन्य पाँच को छोड़ देने के लिए निवेदन किया। किन्तु राजा ने उसकी बात न मानी। तब उसने क्रम से चार, तीन, दो और एक को छोड़ देने के लिए कहा। अन्त में राजा ने उसके पाँच पुत्रों को तो फाँसी की सजा दे ही दी लेकिन सिर्फ एक को छोड़ दिया। यद्यपि सजा के भागी सभी थे और फाँसी सभी को पड़नी चाहिये थी। किन्तु गृहस्थ की वंशवृद्धि के लिए कम से कम एक पुत्र का जीवित रहना अत्यन्त आवश्यक था। ठीक उसी प्रकार षट्काय की हिंसा से बचना उचित है, किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम स्थूल प्राणातिपात से या त्रसकाय की हिंसा से तो बचना ही चाहिये।

उपासकदशांग में आनन्द गाथापति के द्वारा अहिंसाव्रत धारण करने की चर्चा मिलती है। वे भगवान् महावीर के समक्ष कहते हैं कि व्रतों में श्रेष्ठ अहिंसाव्रत के रूप में स्थूल-प्राणातिपात को दो करण तथा तीन योग से करने का त्याग करता हूँ।[1] यहाँ भी पहले स्थूलकाय यानी त्रसकाय की हिंसा का त्याग किया गया है।

---

१. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१३॥

—उपासकदशांग सूत्र, प्र० अध्ययन।

इस प्रकार सूत्रकृतांग तथा उपासकदशांग को देखने से पता लगता है कि स्थूल प्राणातिपात का हिंसा की दृष्टि से अधिक महत्त्व है बजाय सूक्ष्म प्राणातिपात के। इसका मतलब है कि हिंसा में स्तर होता है। अतः ऐसा कहा जाता है कि स्थूलकाय की हिंसा सबसे बड़ी हिंसा है क्योंकि उसमें कषाय की मात्रा बढ़ जाती है, अर्थात् हिंसक को अपने दिल-दिमाग को अधिक कठोर और क्रूर बनाना पड़ता है। किन्तु यहाँ पर ऐसी भी आशंका उपस्थित की जा सकती है कि मछुए को मछली मारने में या कसाई को अनेकों पशुओं को मारने में किसी विशेष प्रमाद की आवश्यकता नहीं होती। वे सब स्वाभाविक ढंग से नित्य अनेक प्राणियों का बध करते हैं। लेकिन यह एक विशेष जाति की बात है। मछुए का लड़का बचपन से ही अपने घर में अपने परिवार के लोगों के द्वारा अनेक मछलियों का प्राणघात देखता है, वैसे ही एक कसाई का लड़का अपने पिता, चाचा, काका, भाई-बन्धु के द्वारा रोज बहुत से पशुओं का प्राणान्त देखता है। अतः मछुए और कसाई के बच्चों का यह एक स्वभाव सा बन जाता है और हिंसा करने में उन्हें प्रमाद-विशेष की जरूरत नहीं होती है। किन्तु किसी भी बात को सही-सही जानने के लिए एक सामान्य स्थिति की जरूरत होती है, अर्थात् जो एक सामान्य व्यक्ति है वह बिना किसी प्रमाद के हिंसा कर ही नहीं सकता। प्रमाद या कषाय ही हिंसा की जननी है और इसकी मात्रा ही हिंसा के स्तर को निर्धारित करती है।[1]

हिंसा करने वाले कुछ विशेष लोग तथा जातियाँ

प्रश्नव्याकरण सूत्र में निम्नलिखित व्यक्तियों तथा जातियों के वर्णन मिलते हैं जिन्हें हिंसा करने में आनन्द मिलता है और हिंसा करना जिनका स्वभाव-सा बन गया है :—

---

१. अहिंसा-दर्शन, पृ० १११–१२५.

सोअरिअ—शौकरिक—सूअर का शिकार करनेवाला; मच्छबंध—मत्स्यबंध—मछलियों को मारनेवाला; साउणि—शाकुनिक—पक्षियों को मारनेवाला; वाहु—व्याध—मृगादि का शिकार करनेवाला; कूरकम्मा—कूरकर्मा—कूरकर्म करनेवाला; सर-दह-दीहिय-सलिला-सयसोसग—सरोवर, झील, पोखर, तालाब और तलैया के पानी को बाहर निकालकर उनके जीवों को मर्दन करनेवाला; विसगर-स्सदायग—अन्नादि में विष मिलाकर देनेवाला; जिसमें तृण उगे हुए हों ऐसे खेत में निर्दयता के साथ आग लगानेवाला आदि लोग हिंसक होते हैं।

इनके अलावा कुछ म्लेच्छ जातियाँ भी होती हैं, जो हिंसा-प्रिय होती हैं—सक-शक-शकदेशवासी; जवण-यवन; सबर—शबर-देशोत्पन्न भील; बब्बर—बर्बर; काय—काय—इस नाम के देश विशेष में जन्मे हुए लोग; मुरुंड—मुरण्ड—मुरण्डदेश में पैदा हुए लोग; उद—उद—अनार्यों की एक जाति; भगड—भटक; तित्तिय—तित्तिक देश के लोग; पक्कणिय—पक्कणिक; कुलक्ख—कुलक्षनाम के अनार्य देश के लोग; गोड़—गौड़; सिहल—सिंहलद्वीप में उत्पन्न लोग; पारस—पारस; कोचंध—क्रौंच; दविल—द्राविड़; बिल्लल—बिल्वल; पुलिंद; असेस-अशेष; डोंब—डोंब; पोक्कण; गंधहारग-गन्धहारक; बहलीय-बहलीक; जल्ल; रोम; मास; बउस—बकुश; मलय-मलय; चुञ्चुक; चूलिय—चूलिक; कोंकणग—कोंकणक; मेय—भेद; पराहव—पह्लव; मालव; महुर; आभासिय—आभाषिक; अणक्क; चीण—चीन; ल्हासिक—लूहासिक; खस; खासिक; नेहुर—निष्ठुर; महाराष्ट्र; मौष्टिक; आरब; डोविलक; कुहण; केकय; हूण; रोमक; रूरू; मरुक; चिलात देशवासी, जलचर, स्थलचर, पैरों में नख धारण करनेवाला, साँप, खेचर पक्षी, संडासी के समान चोंच वाला पक्षी, ये सभी जीवों की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ये संज्ञी तथा असंज्ञी सभी जीवों की हिंसा करते हैं और ऐसा पाप-जनक कार्य करके प्रसन्न होते हैं।[1]

---

१. कयरे ते ? जे ते सोयरिया मच्छबंधा साउणिय वाहा कुरकम्मा वाउरिया दीविय-बंधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसदब्भ-वग्गुरा—कूड—छलिया-

जैन दृष्टिकोण से ये सब जातियाँ हिंसा में प्रवृत्ति तथा प्रेम रखनेवाली हैं। यद्यपि वर्तमान काल में इनमें से अधिकतर के नाम तथा स्थान पाना मुश्किल है, हो सकता है इनके नामादि बदल गये हों और समयानुसार इनके आचार-विचार में अन्तर आ गये हों। हो सकता है प्रश्नव्याकरण सूत्र की रचना के समय ये सभी जातियाँ विद्यमान रही हों। अभी भी बहुत-सी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जिनका जीवन निर्वाह पशु-पक्षियों की हिंसा पर ही होता है, कारण, वे मांसादि खुद ही खाते हैं और चर्म आदि बेचकर अन्य आर्थिक समस्याओं का समाधान कर लेते हैं।

हिंसा के फल :

किसी भी कर्म का फल अवश्य ही होता है, चाहे वह सुफल हो या कुफल। वैसे ही हिंसा के भी फल होते हैं जिन्हें निम्नलिखित शब्दों में आचारांग में प्रस्तुत किया गया है—

हत्था हरिएसा उरणिया वविदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा-महुघाया पोयघाया एणीयारा पएणीयारा सरदह दीहिय-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण सोत्तबंधण सलिलासय सोसगा विसगरस्स य दायगा उत्तणवल्लरदवग्गिणिद्दयपलीवका कूरकम्मकारी ॥२१॥

इमेयवा, बहवे मिलक्खुजाई-के ते ? सक-जवण-सबर-बब्बर-काय-मुरुंडो-द-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सिंहल-पारस-कोंचंध-दविल-चिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोंब-गंधहारग-बहलिय-जल्ल-रोम-मास-बउस-मलया-चुंचुया-य चूलियण-कोंकणगा-कणगा-सेय-मेया-पण्हव-मालव-महुर-आभासिय-अणक्ख-चीण-ल्हासिय-खस-खासिया-नेठ्ठुर-मरहट्ठ-मुट्ठिय-आरब-डोंबिलग कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया-चिलायविसयवासी य पावमइणो ॥२२॥ जलयर थलयर-सणप्फय-उरग-खहचर-संडासतोंड-जीवोवघायजीवी सण्णी य असण्णिणो पज्जत्ते अपज्जत्ते य-असुभलेस्स परिणामे एए अण्णे य एवमाई करेंति पाणाइवायकरणं। पावा पावाभि-गमा: पावमई पावरुई पाणवहकयरई पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमन्ता तुट्ठा पावं करेत्तु होंति बहुप्पयारं ॥२३॥

प्रश्नव्याकरण सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, आस्रवद्वार, अध्ययन १.

"पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में लगे हुए व्यक्ति को यह सावद्य प्रवृत्ति अनागत काल में अहितकर तथा बोध की अवरोधक होती है। परन्तु जो भव्य जीव—पृथ्वीकाय का आरंभ करना पाप है, ऐसा भगवान् या अनगारों से सुनकर, सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा भली-भाँति जान लेता है, उसको यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वीकाय का आरंभ भविष्य में अहित और अबोधि के लाभ का कारण है। अतः ऐसे किन्हीं ज्ञानी पुरुषों को यह परिज्ञात हो जाता है कि पृथ्वीकाय का समारंभ ग्रन्थि है अर्थात् अष्ट कर्मों की गाँठ है, मोहरूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है"।[1]

इसी तरह अप्काय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय तथा वायुकाय की हिंसा के फल होते हैं।[2]

सूत्रकृतांग में भी कहा है कि जो व्यक्ति विभिन्न आरंभों में रत रहता है, जीवों को दंड देता है, हिंसा करता है वह अनेक वर्षों के लिए नरक आदि पापलोकों में स्थान पाता है, यदि बचपन की तपस्या से वह देवता का स्थान पा जाता है तो वहाँ भी वह नीच तथा असुरसंज्ञक देवता ही होता है।[3]

---

१. तं से अहियाए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणियं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसि णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए.........॥१७॥

आचारांग सूत्र—आत्मारामजी, प्र० श्रुतस्कंध, प्रथम अ०, उद्देशक २.

२. आचारांगसूत्र, प्र० श्रु०, प्र० अ०, उ० ३, सूत्र २४; उ० ४, सूत्र ३७; उ० ५, सूत्र ४६; उ० ६, सूत्र ५३ तथा उ० ७, सूत्र ५९.

३. जे इह आरंभनिस्सिया आतदंडा एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

प्र० श्रु०, अ० २, उ० ३; तथा अ० ५, उ० १, सूत्र ३-५; अध्ययन ७, सूत्र ३, १० भी देखें।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के फल के विषय में कहा गया है कि हिंसा के फल को न जाननेवाले व्यक्ति हिंसा करके महा-भयवाली, दीर्घकाल तक कष्टों से परिपूर्ण, विश्रामरहित, विभिन्न पीड़ाओं से भरी हुई नरक और तिर्यञ्च योनि को बढ़ाते हैं, यानी पाप कर्म (हिंसा) के फलस्वरूप वे नरक और तिर्यञ्च गति को प्राप्त करते हैं तथा अनेक प्रकार की यातनाएं सहते हैं।[1]

उपासकदशांग सूत्र के आठवें अध्ययन में महाशतक गाथापति तथा उनकी पत्नी रेवती की कथा में रेवती का चरित्र बहुत क्रूर और कामोत्तेजक दिखाया गया है। वह अपने सुख के निमित्त गाथापति की अन्य बारह पत्नियों की हत्या शस्त्र तथा विष का प्रयोग करके करती है। जब नगर में हिंसा बन्द करने का आदेश घोषित होता है तब वह अपने मायके से प्रतिदिन दो बछड़े मँगवाने और उन्हें मारकर खाने लगती है। अपने पति को बहुत प्रकार के कामोत्तेजक व्यवहारों से तंग करती है। इन सब कारणों के फलस्वरूप उसे नरक जाना पड़ता है। उसके पति उससे क्रुद्ध होकर कहते हैं—

तू सात दिन के अन्दर अलस रोग से पीड़ित होकर कष्ट *भोगती हुई मर जायेगी और लोलुपाच्युत नरक में उत्पन्न होगी;* वहाँ ८४ हजार वर्ष की आयु प्राप्त करेगी।[2]

निरयावलिका में गौतम के पूछने पर कालकुमार के विषय में कहते हैं—'कालकुमार ऐसे आरंभकर (युद्ध करते हुए मरकर) यावत् ऐसे अशुभ दुष्कृत्य कर्म के भार से भारी हुआ मृत्यु के समय

---

१. तस्सय पावस्स फलविवागं अयाणमाणावड्ढंति महब्भयं अविस्सा-मवेयणं दीहकालबहुदुक्खसंकडं णरयतिरिक्खजोणिं ॥२४॥
प्रश्नव्याकरण सूत्र, प्र० श्रु०, आश्रवद्वार, प्रथम अध्ययन; तथा अंतिम सूत्र भी देखें।

२. तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना ॥२५३॥

मरकर चौथी पंकप्रभा पृथ्वी के हेमाभ नरकावास में यावत् नैरयिक रूप में उत्पन्न हुआ'[1] अर्थात् युद्ध में दूसरों को मारते हुए मरने के कारण कालकुमार नरक का भागी हुआ।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि अज्ञानी, हिंसक, मृषावादी, लुटेरे, महारम्भी, मांसभक्षक आदि उसी प्रकार नरकायु का इन्तजार करते हैं, जिस प्रकार बकरा पालनेवाला मेहमान का इन्तजार करता है। क्रोध करने से जीव नरक में जाता है तथा मान, क्रोध, प्रमाद आदि से शिक्षा प्राप्त नहीं होती। वे ब्राह्मण जिनमें क्रोध, मान, हिंसा, मृषा आदि हैं जाति और विद्या से हीन होते हैं। कुश, यूप, तृण, काष्ठ और अग्नि तथा प्रातःकाल, सायंकाल जल का स्पर्श करके प्राणियों का घात करना पाप का संचय करता है। हिंसा करनेवाला लेश्या का परिणामी होता है।[2]

प्रवचनसार में हिंसा के फल पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो राग, द्वेष भावों के वशीभूत हो स्वजीव तथा परजीव का

---

१. त एय खलु गोयमा ! काले कुमारे एरिसएहिं आरंभेहिं जाव एरिसएणं असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालकिच्चा चउत्थीए पंकपभाए पुढवीए हेमाभे नरए जाव नेरइयत्ताए उववन्नो ॥१०६॥ अध्ययन १.

२. हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणम्मि विलोवए ॥५॥
मुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे ॥६॥

अयकक्करभोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं णरए कंखे जहाएसं व एलए ॥७॥ अध्ययन ७

तथा अध्ययन ६, सूत्र ५४; अध्ययन ११, सूत्र ३.

कोहो य माणो य वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥ अ. १२.

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं सायं च पायं उदगं फुसंता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयंता भुज्जो वि मंदा पगरेह पावं ॥३९॥ अ. १२.

तथा अध्ययन ३४, सूत्र २१, २२, २८.

घात करता है, वह निश्चय ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति-स्थित्यादि बन्धन में पड़ता है। जिस जीव का अशुद्ध चैतन्य विकार-परिणाम, इन्द्रियविषय तथा क्रोधादि कषाय इनसे अत्यंत गाढ़ हो मिथ्या शास्त्रों का सुनना, आर्त-रौद्र अशुभ ध्यानरूप मन, पराई निंदा आदि चर्चा, इनमें उपयोग सहित हो, हिंसादि आचरण करने में महाउद्यमी हो और वीतराग सर्वज्ञकथित मार्ग से उलटा जो मिथ्यामार्ग उसमें सावधान हो, वह परिणाम अशुभोपयोग है[1] इसी प्रकार मूलाचार आदि में भी कहा है कि हिंसा पाप है, दोष-आस्रवद्वार है। हिंसा, असत्य आदि आस्रवों से पापकर्म आता है तथा जीवों का नाश होता है। जिस प्रकार छिद्रवाली नाव जल में डूब जाती है, उसी प्रकार हिंसादि आस्रवों से जीव संसारसागर में डूब जाता है।[2]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के कार्य में हिंसारूपता यानी कषाय—प्रमाद, क्रोधादि नहीं आये तो वह हिंसा का फल नहीं देगा यद्यपि उसके कार्य से किसी जीव का घात ही क्यों न हो गया हो और ठीक इसके विपरीत यदि किसी के परिणाम में हिंसारूपता आ जाती है यानी कर्ता कषायवश हो जाता है तो उसे हिंसा का फल भोगना पड़ता है, भले ही उसके द्वारा किसी का घात नहीं हुआ हो। ठीक इसी तरह जो व्यक्ति बाह्य हिंसा कम करता है, किन्तु परिणाम यानी हिंसाभाव में अधिक लिप्त रहता है तो उसे तीव्र कर्मबंध का भागी होना पड़ता है और जो व्यक्ति बाह्य हिंसा तो अचानक अधिक कर जाता है लेकिन हिंसाभाव में कम लिप्त रहता है तो उसे मंद कर्मबंध का भागी होना पड़ता है। यदि दो व्यक्ति मिलकर हिंसा करते हैं तो दोनों में जिसका कषायभाव तीव्र होगा वह हिंसा के अधिक फल का

---

१. प्रवचनसार, अ. २, गाथा ५७, ६६.

२. मूलाचार, बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार, गाथा ४१;
पंचाचाराधिकार, गाथा २३८, २३९;
द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, गाथा ७१६.

भागी होगा।'[1] इसी में आगे कहा गया है—'किसी ने हिंसा करने का विचार किया परन्तु अवसर न मिलने से उस हिंसा के करने के पहिले ही उन कषाय-परिणामों के द्वारा (जिनसे हिंसा का संकल्प किया गया था) बंधे हुए कर्मों का फल उदय में आ गया, पश्चात् इच्छित हिंसा करने को समर्थ हो सका ऐसी अवस्था में हिंसा करने से पहिले ही उस हिंसा का फल भोग लिया जाता है। इसी प्रकार किसी ने हिंसा करने का विचार किया और इस विचार द्वारा बांधे हुए कर्मों के फल के उदय में आने की अवधि तक वह उक्त हिंसा करने को समर्थ हो सका तो ऐसी दशा में हिंसा करते ही उसका फल भोगना सिद्ध होता है। किसी ने सामान्यतः हिंसा करके पश्चात् उसका उदय काल में फल पाया अर्थात् कर चुकने पर फल पाया। किसी ने हिंसा करने का आरम्भ किया था, परन्तु किसी कारण हिंसा करने मे शक्तिवान् नही हो सका, तथापि आरंभजनित बंध का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा; अर्थात् न करने पर भी हिंसा का फल भोगा जाता है। प्रयोजन केवल इतना ही है कि कषायभावों के अनुसार फल मिलता है।'[2]

ऐसा भी होता है कि हिंसा एक व्यक्ति करता है परन्तु फल भोगनेवाले अधिक होते हैं, यह तब होता है जब किसी के द्वारा की गई हिंसा को देखकर अन्य बहुत से लोग उसका अनुमोदन करते हैं और प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी हिंसा बहुत से लोग करते हैं किन्तु उसके फल का भागी एक ही व्यक्ति होता है, जैसे युद्ध में

---

१. अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥
एकस्याल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥
एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२. प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥ वही

लड़नेवाले बहुत से सैनिक हिंसा करते हैं लेकिन उस हिंसा के फल का भागी सिर्फ आदेश देनेवाला सेनानायक या राजा होता है।[1]

हिंसा के पोषक तत्त्व :

हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह—ये पाँच आस्रवद्वार माने गये हैं। यद्यपि इन पाँचों की गणना अलग-अलग होती है, इनमें हिंसा पाप संचय का बहुत बड़ा साधन है और अन्य चार अन्ततोगत्वा इसी की पुष्टि करते हैं। किस प्रकार अन्य चार हिंसा का पोषण करते हैं, इसका एक अच्छा विश्लेषण "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" में मिलता है। इसमें साफ-साफ कहा गया है—

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥
निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥ ४१ ॥
आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, कुशीलता (अब्रह्मचर्य) तथा परिग्रह को सब तरह से सब स्थान पर त्यागने को सकलचारित्र तथा एक देशविशेष पर त्याग करने को देशचारित्र कहते हैं। यद्यपि शिष्यों को समझाने के लिए इन्हें भेद करके कहा जाता है, वास्तव में आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों का घात होने के कारण ये सभी हिंसा ही हैं।[2] आगे विश्लेषण करके यह बताया जाता है कि किस प्रकार ये हिंसा की पुष्टि करते हैं—

असत्य—असत्य के चार भेद होते हैं--१. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप को नास्ति कहना, २. नास्ति को अस्ति कहना ३. जो वस्तु विद्यमान हो उसकी जगह पर कोई

---

१. एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४०-४२.

अन्यवस्तु बताना, ४. इस असत्य के अन्दर तीन भेद होते हैं–
१. गर्हित, २. सावद्य अर्थात् पापसहित और ३. अप्रिय।[1]

गर्हित : दुष्टता अथवा चुगलीरूप, हास्ययुक्त, कठोर, मिथ्याश्रद्धानपूर्ण, प्रलापरूप तथा अन्य जो शास्त्र विरुद्ध हैं।

सावद्य : छेदने, भेदने, मारणे, शोषणे अथवा व्यापार, चोरी आदि के वचन हैं वे सब पापजनक हैं क्योंकि इनसे हिंसादि पाप प्रवृत्तियों का सृजन होता है।

अप्रिय : जो शब्द किसी जीव की अप्रीति, भय, खेद, वैर, शोक, कलह आदि पैदा करनेवाला है वह सब अप्रिय है।

चूँकि ये सभी वचन कषाययुक्त होते हैं यानी ये प्रमादसहित होते हैं और प्रमाद ही हिंसा का कारण है, अतः ये सब वचन भी हिंसा ही हुए। कभी पाप की निन्दा करते हुए मुनिजन उपदेश देते हैं और ये वचन पापियों के लिए अत्यन्त कष्टदायक होते हैं, किन्तु उनके वचनों में प्रमाद नहीं होता। अतः वे अनृत या असत्य भाषण के दोष से बच जाते हैं।

स्तेय—चोरी भी हिंसा ही है[2] क्योंकि इसमें भी प्राणवध होता है और यह भी कषाय के कारण ही होती है। अन्य जीव

---

१. वही, श्लोक ९२-९५.

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥
छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥
अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥
हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥—पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

२. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

का प्राणघात करने के निमित्त चोरी करनेवाले के मन में प्रमाद का प्रादुर्भाव होता है। प्रमाद के कारण सर्वप्रथम उसका स्वतः भाव-प्राण हिंसित होता है और चोरी प्रकट होने पर उसके द्रव्यप्राण का घात होता है। फिर जिसके इष्ट वस्तु की चोरी होती है, उसके भावप्राण का घात होता है और कभी-कभी उसका द्रव्यप्राण भी हिंसित हो जाता है, क्योंकि चोरी की गई वस्तु उसके द्रव्य-प्राण का पोषक होती है। जिस प्रकार इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वासादि जीवन के अन्त:प्राण हैं, उसी प्रकार धन, सम्पदादि बाह्यप्राण हैं यानी बाह्यप्राण के पोषक हैं। अत: चोरी से बाह्यप्राण की हिंसा तो होती ही है, अन्त:प्राण की हिंसा की भी संभावना रहती है और कभी-कभी तो हो भी जाती है। ऐसा कहना कि जहाँ-जहाँ चोरी होती है वहाँ-वहाँ हिंसा होती है, सही नहीं है। प्रमादवश चोरी ही हिंसा की श्रेणी में आती है। इसीलिए वीतराग सर्वज्ञ को चोरी का दोष नही लगता, यद्यपि वे द्रव्यनोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं, जोकि सामान्य ढंग से अदत्तादान यानी चोरी है, क्योंकि मोहनीय कर्म के अभाव में उनमें प्रमत्तयोगरूप कारण का भी अभाव होता है।

अब्रह्मचर्य—पुरुष, स्त्री और नपुंसक—ये तीन वेद हैं यानी तीन जातियाँ हैं, और इनके रागभावरूप उत्तेजना से जोड़े का सहवास और मैथुन यानी संभोग होता है, जो अब्रह्म कहा जाता है। इस अब्रह्म के सब स्थानों में हिंसा की संभावना रहती है और होती है; जैसे—स्त्री की योनी, नाभि, कुच, कांख आदि। इन स्थानों में सर्वदा सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव पैदा होते रहते हैं। अत: मैथुन में द्रव्य प्राणों का विनाश तो होता ही है। काम भाव

अर्थानाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥
हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥
नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

के कारण स्त्री-पुरुष के भाव प्राणों का घात और मैथुन के कारण शारीरिक शिथिलता होने से द्रव्य प्राणों का घात होता है। मैथुन के कारण योनि में अनेकों जीव उस प्रकार मरते हैं, जिस प्रकार तिलों की बनी हुई नली में तपा हुआ लोहा डालने से तिल जलकर विनष्ट हो जाते हैं। रागादि की तीव्रता या अधिकता के कारण हिंसा होती है और काम-तीव्रता के बिना काम-क्रीड़ा होती नहीं, अतः काम-क्रीड़ा हिंसा है।[1]

कुछ विरोधी मतवालों का कथन है कि चूँकि मात्र पीड़ा देना ही हिंसा है, मैथुन को हिंसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह क्रिया अन्य जीव को बिना कष्ट पहुँचाये भी की जाती है। जैसे—

> "पिंग नामक पक्षिणी बिना हिलाये जलपान करती है इसीलिये किसी जीव को उसके जलपान से दुःख नहीं होता और उसकी तृप्ति भी हो जाती है, इसी तरह समागम की प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने से किसी जीव को दुःख नहीं होता है और अपनी तृप्ति भी हो जाती है, इसलिये इस कार्य में दोष कहाँ से हो सकता है?"[2]

ऐसे विचार वालों को जैनमतानुसार पार्श्वस्थ, मिथ्या-दृष्टि एवं अनार्य कहा गया है, क्योंकि मात्र पीड़ा देना ही दोष नहीं होता बल्कि बहुत से नैतिक दोष हैं जिनमें हिंसा एक है।

परिग्रह—"मोह के उदय से भावों का ममत्वरूप परिणमन होना मूर्च्छा है और मूर्च्छा ही परिग्रह है।"[3]

---

१. यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात् ॥१०९॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० ३, उद्देश्य ४, सूत्र १२.

३. या मूर्च्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

चूँकि परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा है, यदि कोई व्यक्ति मूर्च्छा का सद्भाव रखता है तो वह परिग्रही होगा ही, भले ही वह नग्न ही क्यों न रहता हो। जहाँ-जहाँ मूर्च्छा होगी वहाँ-वहाँ परिग्रह होगा ही। यदि कोई ऐसा कहता है कि मूर्च्छा का संबंध केवल अन्तरंग परिग्रह से है, क्योंकि मूर्च्छा अन्तरंग परिणामों में से है तो उसका ऐसा कहना सही नहीं होगा, क्योंकि मूर्च्छा की उत्पत्ति में बाह्य पदार्थ कारण होते हैं। अतः बाह्य पदार्थों में परिग्रहत्व पाया जाता है। किन्तु वीतराग पुरुष के द्वारा बाह्य पदार्थ ग्रहण करने में परिग्रहत्व नहीं पाया जाता, क्योंकि उनमें मूर्च्छा नहीं पायी जाती। इस प्रकार परिग्रह प्रधानतौर से दो हैं- १. अंतरंग और २. बहिरंग। अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद होते हैं—मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ। बहिरंग के दो भेद होते हैं—१. अचित्त और २. सचित्त। ये सभी परिग्रह कभी भी हिंसारहित नहीं होते।[1]

---

१. मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अतिसंक्षेपाद्द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः क्वापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसां ॥११७॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अहिंसा :

अहिंसा का सही-सही अवलोकन निम्नप्रकारेण हो सकता है—

अहिंसा के विभिन्न नाम—प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा के साठ नाम मिलते हैं।[1] इन नामों का सम्बन्ध भाषागत व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं बल्कि इनके अर्थ एवं कार्य के आधार पर है। इस ग्रन्थ के मूल में तो मात्र इन नामों की चर्चा या गिनती मिलती है, किन्तु ज्ञानविमलसूरिजी, घासीलालजी आदि इसके व्याख्याकारों ने इन नामों की सार्थकता पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार है—

१. निव्वाण--निर्वाण—मोक्ष : अहिंसा को निर्वाण की संज्ञा दी जाती है क्योंकि यह निर्वाण यानी मोक्ष का कारण होती है या यों कहें कि यह मोक्षदायिनी होती है।

२. निव्वुई—निर्वृ ति—स्वास्थ्य : निर्वृ ति यानी स्वास्थ्य की प्राप्ति तब होती है जब कर्मों का आत्यंतिक अभाव हो जाता है और यह स्वस्थता की स्थिति मन की प्रसन्नता, निश्चिन्तता तथा दुःखों की पूर्ण निर्वृ ति की स्थिति होती है जोकि पूर्णरूपेण अहिंसा पर ही आधारित होती है। अतः अहिंसा को निर्वृ ति कहा जाता है।

३ समाही—समाधि—समता : चूंकि अहिंसा समता का कारण होती है अत· इसे समाधिरूप कहा जाता है, क्योंकि कारण में कार्य निहित होता है।

४. सती—शान्ति : शान्ति वहीं होती है जहाँ पर द्रोह का अभाव होता है और अहिंसा के साथ द्रोह बिल्कुल नहीं होता, अत: इसे शान्ति कहते हैं यानी यह शान्तिप्रदायिनी होती है।

---

१. १. निर्वाणं मोक्षस्तद्धेतुत्वात्, २. निर्वृतिः स्वास्थ्यं दुर्ध्यानरहितत्वात्, ३. समाधिः समताप्तिकारणात्, ४. शान्तिः परद्रोहविरतिः,

५. कित्ती—कीर्ति—यश : अहिंसा के पथ पर चलनेवाले लोग सन्त, महात्मा, महापुरुष आदि नामों से सम्बोधित होते हैं, वे सर्वप्रिय एवं पूज्य होते हैं, उनकी कीर्तिध्वजा आकाश को छूती है, अर्थात् अहिंसा से यश की प्राप्ति होती है। अतः अहिंसा का एक नाम कीर्ति भी है।

६. कंती—कान्ति—प्रसन्नता : अहिंसा को कान्ति कहते हैं क्योंकि यह कान्ति, तेज, प्रताप, सौन्दर्य एवं शोभा प्रदान करती है।

७. रइय (रई)—रति : आनन्ददायिनी होने के कारण अहिंसा रति कहलाती है।

८. विरइय (विरई)—विरति—विराग : यह सावद्यकर्मों से विराग पैदा करती है, अतः इसे विरति कहते हैं।

९. सुयंग—श्रुतांग : यह श्रुतांग कहलाती है, कारण श्रुत ही इसके अंग हैं यानी श्रुतज्ञान ही इसका आधार है।

१०. तित्ती—तृप्ति—संतोष : इससे सभी प्राणियों को सन्तोष की उपलब्धि होती है यानी यह सन्तोष का कारण है। अतः इसे तृप्ति नाम से भी सम्बोधित करते हैं।

११. दया—प्राणिरक्षा : इसके कारण सभी जीवों की प्राणरक्षा होती है, इसलिए इसे दया भी कहते हैं।

१२. विमुत्ती—विमुक्ति—मुक्ति : अहिंसा संसार के सभी बंध एवं बन्धनों से मुक्ति दिलानेवाली होती है, अतः इसे विमुक्ति कहते हैं।

१३. खंती—क्षान्ति : यह क्रोधादि समस्त कषायों का निग्रह करने वाली है, इस वजह से इसे क्षान्ति कहते हैं।

---

५. कीर्तिर्यशः ख्यातिः, ६. कान्तिः शोभाकारणत्वात्, ७. रतिःसर्वेषां रम्यहेतुत्वात्, ८. विरतिर्निवृत्तिः, ९–१०. श्रुतं श्रुतज्ञानं तदेव अंग कारणं यस्याः सा 'पढमं नाणं तओ दया' इति वचनात्, तृप्तिः सन्तोष-स्तस्य हेतुत्वात् तृप्तिः, ११. दया देहिरक्षा, १२. विमुच्यन्ते प्राणी सकल-बन्धनेभ्यो यया सा विमुक्तिः, १३. क्रोधनिग्रहः तन्निष्पन्नत्वादहिंसाऽपि,

१४. सम्मत्ताराहणा—सम्यक्त्वाराधना : सम्यक्त्व की आराधना अहिंसा पर ही आधारित होती है, अतः इसे सम्यक्त्वाराधना नाम से पुकारते हैं।

१५. महंती—महती : धर्म के क्षेत्र मे इसकी सर्वश्रेष्ठता ही इसका नामकरण महती कराती है।

१६ बोही—बोधि—सर्वज्ञी : यह सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति करानेवाली है अतः इसे बोधि कहा जाता है।

१७. बुद्धि—बुद्धि : यह सफलता देनेवाली है।

१८. धिती—धृति : अहिंसा चित्त को धृति यानी धैर्य देनेवाली है, इसलिए इसे धृति कहते हैं।

१९. समिद्धी—समृद्धि : यह समृद्धि यानी आनन्द की जननी है, इसी कारण इसे समृद्धि नाम मिला है।

२०. रिद्धी—ऋद्धि : ऋद्धि यानी लक्ष्मी अर्थात् धन देनेवाली होने के कारण अहिंसा ऋद्धि कहलाती है।

२१. विद्धी—वृद्धि : इसके कारण पुण्य प्रकृति की वृद्धि होती है यानी पुण्यवृद्धि होती है, अतः इसे वृद्धि कहते हैं।

२२. ठिई (ठिती)—स्थिति : शाश्वत स्थिति यानी मोक्ष प्रदान करनेवाली है, इसलिए इसे ठिती या स्थिति कहते हैं।

२३. पुट्ठी—पुष्टि : अहिंसा पुण्य का उपचय या संचय करती है यानी पुण्य की पुष्टि करती है, अतः इसे पुष्टि कहते हैं।

२४. नंदा—नन्दा : यह स्व या पर सभी जीवो को आनन्दित करती है, इसलिए यह नन्दा कहलाती है।

२५. भद्दा—भद्रा : यह अपने और पराये का भी कल्याण करती है, इसलिए इसे भद्रा नाम से सम्बोधित करते हैं।

---

१४. सम्यक्प्रतीतिरूपं स्याद्वादे सम्यग्बोधो वातस्य आराधना—सेवना, १५. महन्ती सर्वधर्मानुष्ठानानां मध्ये बृहती यदुक्तं, १६. सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः अहिंसा, १७. साफल्यकारणत्वात्, १८. धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं, १९. आनन्दहेतुत्वात्, २०. लक्ष्मीहेतुत्वात्, २१. पुण्यप्रकृतिसम्पादनात्, २२. साद्यपर्यवसितमोक्षस्थितिहेतुत्वात्, २३. पुण्योपचयकारणत्वात्, २४. नन्दयति स्वं परं वा इति नन्दा, २५. कल्याणं स्वस्य परेषां वा करोतीति भद्रा,

२६. विसुद्धी—विशुद्धि : पाप का क्षय करके जीव को विशुद्ध या निर्मल (बिना किसी मल के) बना देती है। इस कार्यदक्षता के कारण यह विशुद्धि नाम से पुकारी जाती है।

२७. लद्धी—लब्धि : इसके प्रभाव से ही केवलज्ञान एवं केवलदर्शन आदि लब्धियाँ होती हैं, इसलिए इसे लब्धि कहते हैं।

२८. विसिट्ठदिट्ठी—विशिष्टदृष्टि : अहिंसा प्रधान दर्शन है, इस कारण इसे विशिष्ट दृष्टि कहा जाता है।

२९. कल्लाण—कल्याण : यह कल्याण यानी आरोग्यता तथा मोक्ष प्रदान करने के कारण कल्याण कही जाती है।

३०. मंगल—यह पापों का उपशमन करती है, इसलिए मंगल के नाम से भी सम्बोधित होती है।

३१. पमोअ—प्रमोद—हर्ष : हर्षोत्पादक होने के कारण अहिंसा प्रमोद कहलाती है।

३२. विभूई—विभूति : सभी प्रकार की ऋद्धियाँ देने के कारण यह विभूति कही जाती है।

३३. रक्खा—रक्षा : इससे जीवों की रक्षा होती है, अतः यह रक्षा कही जाती है।

३४. सिद्धवास—सिद्धावास : इसके अभ्यास से जीव सिद्धों के आवास या निवास में सिद्धगति नामक स्थान पा जाता है (घासी-

---

२६. पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात्, २७. लब्धिः केवलज्ञानादिलब्धिनिमित्तत्वात्, २८. प्रधानदर्शनं स्याद्वादमित्यर्थः अन्यदर्शनस्याऽप्राधान्यमेव यदुक्त, २९. आरोग्यं तत्प्रापकत्वात्कल्याणं, ३०. दुरितोपशमकत्वात्, ३१. हर्षोत्पादकत्वात्, ३२. सर्वर्द्धिसंपन्निमित्तत्वात्, ३३. जीवरक्षणस्वभावत्वात्, ३४. साद्यपर्यवसितमोक्षगतिनिवासहेतुत्वात् (प्रश्नव्याकरण सूत्र— अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति द्वारा प्रकाशित, राजकोट, १९६२, पृष्ठ ५६२-६६; प्रश्नव्याकरण सूत्र—अनु० घेवरचन्द्र बाँठिया, पृ० १५८; मोक्षनिबन्धनत्वात् — प्रश्नव्याकरणसूत्र—ज्ञानविमलसूरि,

लालजी)। मोक्ष के अक्षय निवास को देनेवाली है (भंवरचन्द बाँठिया)।

३५. अणासव—अनाश्रव : अहिंसा कर्म-बन्धन को रोकने वाली है अतः यह अनाश्रव कही जाती है।

३६. केवली-ठाण—केवलि-स्थान : केवलज्ञानी वही होता है जो अहिंसक होता है, केवलज्ञानी इसका आश्रय लेते हैं। अतः यह केवली-स्थान कही जाती है।

३७. सिव—शिव : जो अहिंसक होता है उसे किसी भी उपद्रव का भय नहीं होता है। अर्थात् अहिंसा निरुपद्रव होने का कारण बनती है। इस वजह से इसे शिव कहते हैं।

३८. समिई—समिति—सम्यक् प्रवृत्ति : चूँकि यह सम्यक् प्रवृत्तिरूप होती है, अतः इसे समिति कहते हैं।

३९. सील—शील- समाधि : अहिंसा समाधान या समाधि का कारण बनती है अतः यह शील कहलाती है।

४०. संजम—संयम : हिंसा—निवृत्तिरूप है अर्थात् हिंसा—निवारण, जो संयम है, उसका यह साधन है इसलिये इसे संयम नाम से संबोधित करते हैं।

४१. सीलघर—शीलगृह : सदाचार या ब्रह्मचर्य आदि का यह स्थान है यानी चारित्र का यह गृह है, इसलिये इसे शीलगृह कहते हैं।

४२. संवर—आश्रव अर्थात् कर्मों के बन्ध को रोकनेवाली है, अतएव यह संवर नाम से संबोधित होती है।

४३. गुत्ती—गुप्ति : अहिंसाव्रत के पालन से जीवों की अशुभ प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं, अतः इसे गुप्ति कहा जाता है।

संवरद्वारे अहिंसाया नामानि)। ३५. कर्मबन्धननिरोधोपायत्वात्, ३६. केवलीनामहिंसैव तत्रव्यवस्थितत्वात्, ३७. निरुपद्रवहेतुत्वात्, ३८. सम्यक्प्रवृत्तिरूपत्वात्, ३९. समाधानरूपत्वात्, ४०. हिंसोपरतत्वात्, ४१. शीलं सदाचारो ब्रह्म वा तस्य गृहं चारित्रस्थानं, ४२. संवरस्य प्रतीतानाश्रवत्वेन, ४३. अशुभानां मनःप्रवृत्तीनां रोधः.

४४. ववसाअ—व्यवसाय : यह जीव का एक विशिष्ट व्यवसाय या व्यापार है, इसलिये इसे व्यवसाय कहते हैं।

४५. उस्सअ–उच्छ्रय : शुभ भावों को उन्नति देने के कारण इसे उच्छ्रय कहा जाता है।

४६. जन्न—यज्ञ : अहिंसा भाव पूजा रूप है, अत: यह यज्ञ नाम से संबोधित होती है। यह व्याख्या ज्ञानविमलसूरि तथा घेवरचन्द्र बाँठिया द्वारा की गई है किन्तु घासीलालजी के अनुसार अहिंसा यज्ञ कहलाती है क्योंकि इससे स्वर्गादि सद्गति प्राप्त होती है। लेकिन भावपूजा का संबंध यज्ञ से तथा अहिंसा से होना सही दिखता है। क्योंकि पूजा यज्ञ का अंग है और भावपूजा भावप्रधान है, जैसा कि अहिंसा भी भावप्रधान है।

४७. आयतण—आयतन—आश्रय : यह गुणों का आश्रय या स्थान है अत: आयतन कहलाती है।

४८. यजण—यतन यह अभयदान देनेवाली होती है, अत: यजना कहलाती है, अथवा प्राणियों की प्राणरक्षा का प्रयत्न करती है, अत: यतना या यत्न कहलाती है।

४९. अप्पमाय—अप्रमाद : इससे प्रमाद का परित्याग हो जाता है इसलिये इसे अप्रमाद कहते हैं।

५०. अस्सास—आश्वास : यह पर प्राणियों की तृप्ति का कारण है अथवा कष्ट में इसके द्वारा दूसरों को धैर्य बंधाया जाता है, अत: इसे आश्वास कहते हैं।

५१. वीसास - विश्वास : अहिंसा अपने को तथा दूसरों को विश्वास दिलानेवाली है, अत: इसे विश्वास की संज्ञा दी जाती है।

---

४४. विशिष्ट : शोभनः व्यवसायः अविकलभावसंपन्नत्वात् विशिष्टव्यापारः, ४५. उच्छ्रयो—भावोन्नतित्वं, ४६. यज्ञो भावदेवपूजा (ज्ञानविमलसूरि तथा घेवरचन्द बाँठिया), स्वर्गादिसद्गतिदायकत्वात्, ४७. आयतनं—गुणानां आश्रय, ४८. यजन (घासीलालजी) अभयस्य दानं यतनं वा—प्राणरक्षणप्रयत्नः, ४९. अप्रमादः प्रमादवर्जनं, ५०. आश्वासः परमतृप्तिहेतुत्वात्, ५१. विश्वासो—विश्रंभः प्राणिनां,

५२. अभअ—अभय : यह संसार के सभी प्राणियों को अभय प्रदान करती है, इसके कारण इसे अभय भी कहते हैं।

५३. अमाधाअ—अमाघात : किसी भी प्राणी का घातरूप न होने से यह अमाघात या अमारि कहलाती है।

५४. चोक्ख—चोक्षा : अहिंसा पवित्र वस्तुओं में भी पवित्र समझी जाती है, अतः इसका नामकरण चोक्षा भी होता है।

५५. पवित्ता—पवित्रा : पवित्र भावना का संचार करती है इसलिए इसे पवित्रा कहते हैं।

५६. सुई—शुचि : अहिंसा भावशुचि यानी भावशुद्धता का कारण है अतः यह शुचि कहलाती है।

५७. पूया—पूजा अथवा पूता - पवित्रा : यह पवित्र है तथा भाव-पूजा है अतः इसे पूजा या पूता कहा जाता है।

५८. विमल—अहिंसा मिथ्यात्व तथा अविरति आदि मलों से रहित है, इसलिये इसे विमल कहते हैं (घासीलालजी)

५९. पभासा—प्रभासा—प्रकाश : यह केवलज्ञानरूप ज्योतिस्वरूप होने से प्रकाशरूप है। इसलिये इसे प्रभास कहते हैं।

---

५२. अभय—सर्वप्राणिगणस्य निर्भयत्वं, ५३. अमाघातः अमारिः (ज्ञान-वि०सूरि), सव्वस्सवि अमाघाओ सर्वस्यापि सकलप्राणिगणस्य अमाघातः-मा-लक्ष्मीः, सा च द्वेधा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च, तस्या घातो हननं माघातो. नमाघातो अमाघातः- अमारिः स्वपदद्वारा प्राणिनां प्राणत्राण-करणात् (घा०), ५४ चोक्षा—पवित्रा पवित्रादपि पवित्रा एकार्थशब्दद्वयोपादानात् अत्यर्थं पवित्रा अथवा ५५. पवित्रत् वज्रवत् त्रायते इति पवित्रा(ज्ञा०वि० सू०), आत्मनैर्मल्यहेतुत्वात्(घा०) ५६. शुचिः—भाव-शौचरूपा आह च...., ५७. पूता पवित्रा पूजा वा भावतो देवतायाः अर्चनं ५८-५९. विमलः प्रभासा च तन्निबन्धनत्वात्, (ज्ञा०वि०) मिथ्यात्वाविरत्यादिमलवर्जितत्वात्(५८, घा०सा०); प्रकाशरूपा केवल-ज्ञानज्योतीरूपत्वात्, सर्वप्राणिनां सुखप्रकाशकत्वाच्च ५९, घा०सा०),

६०. निम्मलतर—निर्मलतर : अहिंसा के प्रादुर्भूत होते ही सभी कर्म-रज छूट जाते हैं और जीव निर्मल हो जाता है, अतः इसे निर्मलतर कहते हैं।

अहिंसा की परिभाषा :

सामान्यतौर से किसी भी वस्तु को दो तरह से परिभाषित किया जाता है—व्यावहारिक ढंग से एवं वैज्ञानिक ढंग से। व्यावहारिक परिभाषा के शब्द वस्तु-संबंधी सभी बातों पर प्रकाश नहीं डालते, अतः उन्हें पूर्णतः समझने के लिए उनमें कुछ बातें मिलानी पड़ती हैं, तथा विषय के आधार पर कुछ अनुमान भी करना पड़ता है। किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा, जिसे परिभाषा का सही रूप समझा जाता है, वस्तु-संबंधी सभी बातों को अपने शब्दों द्वारा स्पष्ट कर देती है, वस्तु की एक सीमा निर्धारित कर देती है; इसमें न तो परिभाषित वस्तु का कोई अंश छूट पाताहै और न कोई अनावश्यक बात मिला ही ली जाती है। अहिंसा के साथ भी ऐसी ही बात पाई जाती है अर्थात् इसकी भी व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक परिभाषायें हैं।

आचारांग में कहा है—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे।

अर्थात्—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्वों को न मारना चाहिये, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिये, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिये, न उन पर प्राणापहार-उपद्रव करना चाहिये, यह अहिंसारूप धर्म ही शुद्ध है।[1]

---

६०. कर्मरजोरहितं....(ज्ञान वि०सू०), सकलकर्ममलवर्जितत्वात् (चा० ला०)।

१. आचारांगसूत्र—आत्मारामजी, प्रथम श्रुतस्कंध, चतुर्थ अध्ययन, उद्देशक १, पृष्ठ ३७०.

यद्यपि इस कथन के मूल में 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, व्याख्याकार ने वस्तु एवं विषय की स्पष्टता के लिए इसमें 'अहिंसा' शब्द बढ़ा दिया है, क्योंकि इस कथन में जो भी बातें कही गई हैं, वे अहिंसा पर ही लागू होती हैं तथा इसमें जिस शुद्ध धर्म का प्रतिपादन हुआ है, उसे अहिंसा ही माना गया है।

सूत्रकृतांग में पाया जाता है—

> सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
> सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया॥ ९ ॥
> एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
> अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया॥ १० ॥

अर्थात्—बुद्धिमान सब युक्तियों के द्वारा इन जीवों का जीवपना सिद्ध करके ये सभी दुःख के द्वेषी हैं (यानी दुःख अप्रिय है) यह जाने तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा न करे। ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते हैं, अहिंसा का सिद्धान्त भी इतना ही जानना चाहिये।[1]

इस परिभाषा में तीन बातें बताई गई हैं—

१. बुद्धिमान को सभी युक्तियों के द्वारा जीवों के जीवपने को जानना चाहिए,

२. फिर यह भी जानना चाहिये कि सभी जीवों को कष्ट अप्रिय होता है तथा

३. इन दोनों बातों को जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अर्थात् हिंसा करने से बचने का प्रयास आदमी तभी कर सकता है जबकि वह प्रथम दो बातों को जानता हो। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में कहा है—

---

१. सूत्रकृतांग सं०—पं० अ० ओझा, प्र० श्रु०, तृतीय खण्ड, अध्ययन ११, पृ० ५०, ५१; प्रथम खण्ड, पृ० १८४, १८६, गाथा ९,१० भी देखें।

तिविहेणवि पाण मा हणे, आयहिते अणियाणसंवुडे।

"(तिविहेणवि) मन, वचन और काय इन तीनों से (पाण मा हणे) प्राणियों को न मारना चाहिये।"[1] इस परिभाषा में मन, वचन और कर्म अर्थात् तीन योग की प्रधानता दिखाई गई है।

> **तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा॥ १३ ॥**

इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास अखिल व्रतों में श्रेष्ठ प्रथम व्रत के रूप में स्थूल प्राणातिपात अर्थात् स्थूल हिंसा का दो करण तीन योग से परित्याग किया। उसने निश्चय किया कि यावज्जीवन मन, वचन और शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा।[2]

यहाँ पर अहिंसा को तीन योग तथा दो करण के बीच रखा गया है।

किन्तु आवश्यकसूत्र में अहिंसा की पूर्ण परिभाषा मिलती है। इसमें कहा है—

> **करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि,**
> **जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं,**
> **न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि।**

अहो भगवन्! मैं समभाव में आत्मस्थापन करने के लिए सामायिक व्रत करता हूँ, इसमें सर्वथा प्रकार से सावद्य योग प्रवृत्ति का यावत् जीवन तक प्रत्याख्यान करता हूँ। तीन करण और तीन जोग कर। इसमें

---

१ सूत्रकृतांग, प्र० श्रु०, अध्ययन २, उद्दे० १, गाथा २१, पृ० २१८.

२ उपासकदशांगसूत्र-अनु० आत्मारामजी प्रा० अध्ययन, सूत्र १३, पृष्ठ २१–२४.

तीन जोग सो मन कर, वचन कर और काया कर, तीन करण सो स्वयं करूं नहीं, अन्य के पास कराऊँ नहीं, अन्य करते को अच्छा मानूं नहीं।[1]

इसके अनुसार किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना ही अहिंसा है। यह जैनदृष्टि से अहिंसा की वास्तविक परिभाषा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से नव प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

तीन योग (मन, वचन, कर्म), तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना)=९ योग करण।

अर्थात्—

१. मन से हिंसा न करना
२. मन से हिंसा न करवाना
३. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना

१. वचन से हिंसा न करना
२. वचन से हिंसा न करवाना
३. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना

१. काय से हिंसा न करना
२. काय से हिंसा न करवाना
३. काय से हिंसा का अनुमोदन नही करना।

इन नव प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना ही अहिंसा है। यही जैनदृष्टि से अहिंसा का वास्तविक सिद्धान्त है।

नियमसार में प्रथम व्रत अहिंसा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :

कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारं भणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ ५४ ॥

---

१. आवश्यकसूत्र—अमोलकऋषि, प्रथम आवश्यक, सूत्र ३, पृष्ठ ७.
२. नियमसार—कुन्दकुन्दाचार्य, सं॰ उग्रसेन, अध्ययन ४, नियम ५६.

जीव के कुल, योनि, मार्ग, स्थान आदि की जानकारी करके उसके आरम्भ से बचना ही प्रथम व्रत है या अहिंसा है।

इस परिभाषा का ही एक बृहद्रूप मूलाचार में मिलता है—

> कार्येंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं ।
> णाऊण य ठाणादिसु हिंसादि विवज्जणमहिंसा ॥

काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग अहिंसा महाव्रत कहलाता है।[1]

योगशास्त्र में कहा गया है—

> न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
> त्रसानां स्थावराणाञ्च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥

प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के) प्राणियों का हनन न करना अहिंसा व्रत है।[2]

ध्यानपूर्वक देखने पर इन सभी परिभाषाओं में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य मिलता है। किसी मे अहिंसा के कारण पर तो किसी में जीव के विभिन्न प्रकारों पर तो किसी में हिंसा के विभिन्न प्रकारों को दिखाते हुए उनके अपेक्षित बचाव पर प्रकाश डाला गया है। यह अन्तर इस-लिये नहीं है कि ग्रन्थकारों के विचारों में अन्तर है, बल्कि शायद इस-लिये है कि आचार्यों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास ही नहीं किया है। एक उपदेश के रूप में जिसने जिस अंश को अधिक महत्वपूर्ण समझा है उसी पर बल दिया है। ऐसा इसलिये कहा जा सकता है कि आगमों में महावीर के ही वचन हैं और यदि आचार्यों ने कुछ बातें कही भी हैं तो महावीर द्वारा उपदेशित सिद्धान्त के आधार पर ही कही हैं।

---

१. मूलाचार, मूलगुणाधिकार १, गाथा ५, पृष्ठ १.

२. योगशास्त्र—सं० मुनि समदर्शी, प्र० प्रकाश, श्लोक २०, पृष्ठ १०.

अहिंसा के रूप :

अभी हमलोगों ने हिंसा के दो रूप देखे - भाव और द्रव्य, और उन दोनों से बने हुए चार विकल्प भी। ठीक उसी तरह अहिंसा के भी दो रूप होते हैं, भाव अहिंसा यानी मनमें हिंसा न करने की भावना का जाग्रत होना। जैसे कोई व्यक्ति यह संकल्प करता है कि मैं किसी भी जीव का घात नहीं करूंगा। द्रव्य अहिंसा-यानी मन में आये हुए अहिंसा के भाव को क्रियारूप देना अर्थात् उसका वचन और काय से पालन करना, जैसे हिंसा न करने का संकल्प करनेवाला वास्तव में जिस दिन से संकल्प करता है, उस दिन से किसी भी प्राणी की हिंसा न करता है, न कराता है और न करनेवाले का अनुमोदन ही करता है।

भाव और द्रव्य के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं —

१. भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह स्थूल प्राणी की हिंसा नहीं करेगा और सचमुच वह ऐसा ही करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप तथा द्रव्यरूप दोनों ही हुई।

२. भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं—एक मुनि किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प करके यत्नपूर्वक अपनी राह पर चार हाथ भूमि देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने घात हो जाता है। अतः यहाँ पर भाव अहिंसा तो हुई किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं हुई।

३. भाव अहिंसा नहीं परन्तु द्रव्य अहिंसा—मछुआ मछली मारने के उद्देश्य से नदी किनारे जाल फैलाये हुए बैठा रहता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। अतः यहाँ पर भाव अहिंसा तो नहीं है किन्तु द्रव्य अहिंसा है।

४. न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा—मांसादि के लोभ में पड़ा हुआ आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही।

अहिंसा के प्रकार :

प्रधानतौर से अहिंसा के दो प्रकार होते हैं - १. निषेधात्मक और २. विधेयात्मक। निषेध का अर्थ होता है किसी चीज को रोकना, न होने देना। अतः निषेधात्मक अहिंसा का मतलब होता है किसी भी प्राणी के प्राणघात का न होना या किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना। अहिंसा का निषेधात्मक रूप ही अधिक लोगों के ध्यान में आता है। किन्तु अहिंसा सिर्फ कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं को न करने में ही नहीं होती बल्कि कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं के करने में भी होती है, जैसे दया करना, सहायता करना, दान करना आदि। यही सब क्रियायें विधेयात्मक अहिंसा कहलाती हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि में जो षट्कायों को तीन करण तीन योग से घात न पहुँचाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, जिसे हमलोगों ने समझने का प्रयास भी किया है, वही अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। अतः अब हमलोग अहिंसा के विधेयात्मक रूप को समझने की कोशिश करेंगे।

दया :

प्रश्नव्याकरण सूत्र में जहाँ पर अहिंसा के साठ नाम बताये गये हैं, वहाँ पर 'दया' को अहिंसा के ग्यारहवें नाम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अहिंसा से प्राणियों की रक्षा होती है, अर्थात् यह जीवों के प्राणों के उपमर्दनकृत्य से रहित होने के कारण दयारूप है।[1] दया के लिए 'अनुकम्पा' 'करुणा' आदि शब्द भी व्यवहृत होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने करुणा भावना को परिभाषित करते हुए कहा है—

> **दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।**
> **प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥ १२० ॥**[2]

अर्थात् जो गरीब हैं, या दुःखदर्द से संतप्त हैं, या भयभीत हैं, या प्राणों की भीख मांगते हैं, ऐसे प्राणियों के कष्ट निवारण की भावना का होना ही करुणा भावना है।

---

१. प्रश्नव्याकरण—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अहिंसा अध्ययन, प्रथम संवरद्वार।

२. योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकाश।

करुणा या दया के चार विभाग किये जा सकते हैं —

१. द्रव्यदया—जीव मानसिक या वाचिक या कायिक किसी भी प्रकार के कष्ट की इच्छा नहीं करता जैसा कि हमलोगों ने आगमों (आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि) में अहिंसा संबंधी विवेचन को प्रस्तुत करते हुए देखा है। जो व्यक्ति ज्ञानी हैं, वे अपनी आत्मा की तरह ही दूसरे जीवों की आत्माओं को समझकर किसी अन्य प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाते, और जहाँ तक दूसरों के कष्ट निवारण में वे अपने को सफल बना पाते हैं, वहाँ तक वे द्रव्य-दया के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने, अपने परिवार या समाज, राष्ट्रादि के लिए किसी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट देता है तो वह दया के पथ का पथभ्रष्ट पथिक समझा जाता है।

२. भावदया पौद्गलिक सुख जिसे सामान्यतौर से सुख के रूप में लिया जाता है, अनित्य होता है अतः इसकी अनित्यता को ध्यान में रखते हुए जो विकसित प्राणी हैं, वे आत्मिक सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं। क्योंकि आत्मिक सुख नित्य अथवा शाश्वत समझा जाता है। जब आत्मगुणों का विकास होता है तो आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है। अतः आत्मिक सुख प्राप्ति हेतु निष्कंटक पथ प्रशस्त करना या आत्मिक सुख के लिए पथ प्रदर्शित करना ही भाव दया है। दूसरे शब्दों मे आत्म-गुणों का विकास करना भावदया है। कहा गया है-'आत्मगुण अविरा-धना भावदया भण्डार।'

३. स्वदया—स्वदया का अर्थ होता है अपने आप पर दया करना। जीव जड़तत्त्व में आसक्त होकर नाना प्रकार के सांसारिक कष्टों से ग्रस्त रहता है। किन्तु जब वह इस मोह को जड़ से मिटाने का प्रयास करता है और मिटा पाता है तो जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाकर वह परम सुख-शान्ति को प्राप्त करता है। अतः सांसारिक ममता को दूर करने का प्रयास ही स्वदया है। इस प्रकार स्वदया का सही-सही पालन करके प्राणी मुक्ति को प्राप्त करता है।

४. परदया—सामान्यरूप से परदया को ही लोग दया समझते हैं। परदया यानी दूसरों की सुख-प्राप्ति तथा दुःख दूर करने में सहायक होना। अर्थात् परदया का पालन करनेवाला व्यक्ति दूसरों के सुख

की वृद्धि चाहता है और करता है। साथ ही दूसरों के कष्ट को कम करने या मिटाने का प्रयास भी करता है।

दान :

तत्त्वार्थसूत्र में दान को परिभाषित करते हुए कहा है—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।[1]

अर्थात् अनुग्रह के निमित्त अपनी वस्तु का त्याग कर देना ही दान है। पं० सुखलालजी ने इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

> दान का मतलब है न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण करना। यह अर्पण करनेवाले कर्ता और स्वीकार करनेवाले दोनों का उपकारक होना चाहिये। अर्पण करनेवाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाय, और इस तरह उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकार करनेवाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवन-यात्रा में मदद मिले, और परिणाम-स्वरूप उसके सद्गुणों का विकास हो।[2]

यद्यपि सभी दान सामान्यतौर से एक जैसे ही लगते हैं, लेकिन उनमें अपनी-अपनी विशेषतायें भी होती हैं और ये विशेषतायें उनके चार अंगों पर आधारित हैं। यानी, उन चार अंगों की विशेषतायें ही दान की विशेषता होती है। दान के चार अंग ये हैं—[3]

१. विधि विशेष- देश, काल तथा श्रद्धा के औचित्य को ध्यान में रखते हुए जब उस कल्पनीय वस्तु का त्याग किया जाता है, जिसके लेने से लेनेवाले के सिद्धान्त पर आंच न आये, तब ऐसे दान में विधि-विशेषता समझी जाती है।

२. द्रव्य विशेष —देयवस्तु में उन गुणों का समावेश हो जो लेनेवाले का पोषण करे तथा उसका विकास करे।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७, ३३.

२. तत्त्वार्थसूत्र—विवेचनकर्ता पं० सुखलालजी, ७. ३३, पृष्ठ २७७.

३. विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७,

३. दाता की विशेषता—दाता के दिल में देनेवाले के प्रति श्रद्धा हो तथा वस्तु त्याग देने के बाद उसके प्रति दाता के मन में किसी प्रकार असूयाभाव न जगे, कोई विषाद न हो। साथ ही दान करने के बाद दाता किसी फल की आकांक्षा न करे।

४. पात्र की विशेषता—दान लेनेवाला व्यक्ति सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि को धारण करनेवाला तथा सदा सत्पुरुषार्थ के लिए जागरूक रहनेवाला हो।

दान के प्रकार :

दान दस प्रकार के होते हैं[1]—

१. अनुकम्पादान—किसी दीन-दुःखी तथा अनाथ को दया करके जो कुछ भी दानस्वरूप दिया जाता है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं।

२. संग्रहदान—आपत्ति के समय अपनी सहायता के उद्देश्य से दूसरे को जो कुछ दिया जाता है, वह संग्रहदान कहलाता है। इसमें दाता का स्वार्थ निहित होता है। ऐसे दान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

३. भयदान—राजा, मंत्री, पुरोहित, राक्षस, पिशाच आदि के डर से दान करना भयदान कहलाता है।

४ कारुण्यदान—पुत्र, पिता आदि प्रियजनों की मृत्यु से शोक पैदा होता है, करुणा होती है, वैसी स्थिति में पुत्र आदि के नाम से कुछ दान कर देना ही कारुण्यदान कहलाता है।

५. लज्जादान—लज्जावश जो दान दिया जाय वह लज्जादान होता है। किसी छोटी या बड़ी सभा में बैठे हुए व्यक्ति से कोई याचक याचना कर देता है तब वास्तव में देने की इच्छा न होने पर भी व्यक्ति

---

१. दसविहे दाणे प० तं०

अणुकंपा १ संगहे २ चेव भये ३ कालुणितेति य
४ लज्जाते ५ गारवेणं च ६ अहम्मे उण सत्तमे ७
धम्मे त अट्ठमे वुत्ते ८ काहीति त ९ कतंति त १० ॥

—स्थानांग सूत्र, अ० १०, उद्दे० ३, सूत्र ७४५.

कुछ दे देता है ताकि समाज के लोग उसे कंजूस न कहें या कठोर विश्वासघाती न कहें।

६. गौरवदान — यश प्राप्ति के लिए गर्वपूर्वक धन का त्याग करना गौरवदान कहलाता है।

७. अधर्मदान — जिस दान से धर्म की पुष्टि न होकर अधर्म की पुष्टि होती है, उसे अधर्मदान कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि में रत रहनेवालों को कुछ देना अधर्मदान है।

८. धर्मदान — धर्म के लिए दिया गया दान धर्मदान कहलाता है। समभावी मुनियों को, जिनके लिये सोना और राख में कोई अन्तर नहीं होता, दान देना धर्मदान की श्रेणी में आता है।

९ करिष्यतिदान — भविष्य में प्रत्युपकार पाने के उद्देश्य से किया गया दान करिष्यतिदान कहलाता है।

१०. कृतदान — पहले के किए गये उपकार से उऋण होने के लिए जो दान दिया जाता है, वह कृतदान के नाम से संबोधित होता है।[1]

---

१. कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद्दानम् ॥
अभ्युदये व्यसने वा यत् किंचिद्दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥
राजारक्षपुरोहितमधुमुखमाविल्लदण्डपाशिषु च।
यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्।
अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥
नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्यः।
यद्दीयते यशोऽर्थं गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥
हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः।
यद्दीयते हि तेषां तज्जानीयादधर्माय ॥

किसी-किसी ने दान के चार प्रकार ही माने हैं—ज्ञानदान, अभय-दान, धर्मोपकरणदान तथा अनुकम्पादान। पढ़ाना, तथा पढ़ने पढ़ाने वालों की सहायता करना ज्ञानदान है। भयभीत प्राणी को दु:ख से मुक्त करना अभयदान है। छः काय के आरंभ से रहित पंचमहाव्रतों का पालन करनेवाले साधुओं को दान देना धर्मोपकरणदान कहा जाता है। अनुकम्पा के विषय में तो हमलोगों ने पहले वाले वर्गीकरण में जानकारी की ही है।[1] इन सब में अभयदान श्रेष्ठ है।[2]

दान, धर्म के चार प्रकारों में से एक है। धर्म के चार प्रकार हैं—१.दान, २. शील, ३. तप तथा ४. भावना। स्व और पर के हित के लिए उस व्यक्ति को जिसे आवश्यकता है, जो दिया जाता है वह दान कहलाता है।

दान के कई प्रकार होते हैं जैसा कि हमलोगों ने अभी-अभी देखा है—अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि, और इनको पालना ही दान-धर्म होता है। इसकी विशेषता निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—

> दान के प्रभाव से धन्नाजी और शालिभद्रजी ने अखूट लक्ष्मी पाई और भोग भोगे। शालिभद्रजी सर्वार्थसिद्धि से आकर सिद्धि (मोक्ष) पावेंगे और धन्नाजी तो सिद्ध हो चुके। यह जानकर प्रत्येक व्यक्ति को सुपात्रदान आदि दानधर्म का सेवन करना चाहिए।[3]

समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय॥
शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममानेन।
अहमपि ददामि किंचित्प्रत्युपकाराय तद्दानम्॥

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह—सं॰ भैरोंदान सेठिया, भाग ३, पृष्ठ ४५०.

१. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, बोल १९७, पृष्ठ १५६-१५७.

२. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, अ॰ ६, गाथा २३.

३. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, बोल १९६, पृष्ठ १५४-१५५.

दान की गिनती नौ पुण्यों में भी होती है—

१. अन्नपुण्य—अन्नादि देने से शुभ प्रकृतियों का बंधना।

२. पानपुण्य—दूध आदि पेय वस्तुओं के देने के फलस्वरूप शुभ बन्ध।

३. वस्त्रपुण्य—कपड़े देने के कारण होने वाले शुभबन्ध।

४. लयनपुण्य-निवास के लिये जगह देने के कारण शुभकर्म-बन्ध।

५. शयनपुण्य—बिछावन आदि देने से होनेवाला पुण्य।

६. मनःपुण्य—गुणियों, सज्जनों को देखकर खुश होने से जो शुभकर्म-बन्ध होता है, उसे मनःपुण्य कहा जाता है।

७. वचनपुण्य—वचन के द्वारा दूसरों की प्रशंसा करने के फलस्वरूप जो शुभ बन्ध होता है, उसे वचन-पुण्य कहते हैं।

८. कायपुण्य—शरीर से दूसरे व्यक्तियों की सेवा, भक्ति आदि से होनेवाला शुभबन्ध।

९. नमस्कारपुण्य—नमस्कार से जो शुभबन्ध होता है, उसे नमस्कारपुण्य कहते हैं।

पुण्य के इन नौ प्रकारों में प्रथम पांच की गिनती दान के प्रकारों में भी होती है यानी दान पुण्य है या पुण्य-संग्रह का साधन है।[1]

दान के फल :

सामान्यतौर से ऐसा समझा जाता है कि दान से पुण्य की प्राप्ति होती है, किन्तु जैन धर्म में इस संबंध में कई विकल्प पाये जाते हैं। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर तथा उनके शिष्य गौतम स्वामी के बीच हुए दान-विवेचन में निम्नलिखित विकल्पों को प्रस्तुत किया गया है :

---

१. स्थानांगसूत्र, भाग ५, स्थान ९, सूत्र १७.

(गौतमस्वामी पूछते हैं) हे भदन्त! तथारूपवाले श्रमण या माहन के लिये प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम आहार देनेवाले श्रमणोपासक को क्या फल प्राप्त होता है?

(भगवान महावीर के द्वारा दिया गया उत्तर) हे गौतम! श्रमणोपासक श्रावक को एकान्त निर्जरा होने रूप फल प्राप्त होता है। पाप कर्म उसे नहीं लगता।

प्र०—हे भदन्त! तथारूपवाले श्रमण वा माहन के लिये अप्रासुक अनेषणीय अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम आहार देनेवाले श्रमणोपासक को क्या फल प्राप्त होता है?

उ०—हे गौतम! ऐसे श्रमणोपासक श्रावक के कर्मों की निर्जरा अधिक होती है तथा बहुत कम पापकर्म का बंध होता है।

प्र०—हे भदन्त! तथा प्रकार के विरतिरहित अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाले असंयमी के लिये प्रासुक अथवा अप्रासुक, एषणीय तथा अनेषणीय अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम आहार देनेवाले श्रावकों को क्या फल प्राप्त होता है?

उ०—हे गौतम! ऐसे श्रावक के एकान्ततः पापकर्म का बंध होता है—निर्जरा थोड़ी-सी भी नहीं होती है।[1]

किन्तु इन तीन विकल्पों के अलावा भी एक विकल्प अनुकम्पा दान के संबंध में है यानी अनुकम्पादान से क्या फल मिलता है? यह

---

१. समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ। समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ, समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं असंजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएणवा अफासुएणवा एसणिज्जेणवा, अणेसणिज्जेणवा, असणपाण जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ॥ सू० १॥ भगवती सूत्र—अनु० घासीलालजी—शतक ८, उद्देश० ६, पृ० ६६१-६६४,

बहुत ही जटिल विकल्प है। इसके संबंध में बहुत अच्छे-अच्छे व्याख्यान तथा सूक्ष्म वाद-विवाद मिलते हैं। भगवती सूत्र के टीकाकार ने ऐसा लिखा है कि यद्यपि इस विकल्प के संबंध में गौतम स्वामी ने प्रश्न नहीं किया है और भगवान् महावीर ने भी यहां पर कुछ कहा नहीं है, लेकिन व्याख्याप्रज्ञप्ति में ऐसा उल्लेख है कि—

> मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही समक्खाओ।
> अणुकंपा दाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं[1]॥

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति हेतु जो दान किया जाता है, उसके संबंध में भगवतीसूत्र में तीन विकल्प बताये गये हैं, अनुकम्पादान के संबंध में ऐसी बात नहीं है। महावीर ने अनुकम्पादान का कभी भी निषेध नहीं किया। अतः अनुकम्पादान देना चाहिये।

अनुकम्पादान के विषय में तेरापंथ का अपना एक विशेष मत है। इन लोगों के अनुसार अनुकम्पादान से एकान्त पाप होता है, क्योंकि अनुकम्पादान असंयति-दान की श्रेणी में आता है और असंयतिदान से एकान्त पाप होता है। इस मत की पुष्टि पूर्णरूपेण जयाचार्य ने 'भ्रम-विध्वंसनम्' के दानाधिकार में की है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने आगमों को उद्धृत किया है, जिनके विवेचन एवं विश्लेषण अपने मतानुकूल प्रस्तुत किये हैं। परन्तु उन्हीं उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए जवाहिरलालजी ने सद्धर्ममण्डनम् में जयाचार्यजी यानी तेरापन्थ के दान संबंधी मत का पूरा खण्डन किया है तथा यह बताया है कि अनुकम्पादान एकान्त पाप का साधन नहीं, बल्कि पुण्य का साधन है और श्रावक के लिये अनुकम्पादान करना उचित है, धर्मानुकूल है। इस खण्डन-मण्डन को हम निम्नलिखित ढंग से समझ-बूझ सकते हैं :

प्रथम उदाहरण उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन से लिया गया है जिसमें गाथापति आनन्द महावीर के पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षा व्रत यानी बारह प्रकार के श्रावकधर्म को पालने का वचन व्यक्त करके कहते हैं कि हे भगवन्! आज से निर्ग्रन्थ संघ के अलावा दूसरे संघवालों को, अन्य यूथिक देवों को तथा दूसरे यूथिकों द्वारा स्वीकृत चैत्यों की वन्दना करना या नमस्कार करना, उनके बिना बोले ही बोलना, उनको

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति : अभयदेवीया वृत्ति, शतक ८, [illegible]

अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य आग्रहपूर्वक देना नहीं कल्पता। किन्तु राजाभियोग, गणाभियोग, सेनाभियोग, देवताभियोग, माता-पिता आदि गुरुजनों के आग्रह, तथा अरण्यादि में वृत्ति के लिये लाचार होने की स्थितियों को अपवादस्वरूप समझें यानी इन अवस्थाओं में पूर्वकथित शपथ का पालन नहीं हो सकेगा। आज से मुझे श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक ऐषणिक अशन, पान, खाद्य, वस्त्र परिग्रह, पाद-प्रोञ्छन, पीठ, फलक, शय्या संथारा, और औषध भेषज आदि प्रदान करते हुए विचरना कल्पता है अर्थात् ऐसा करना मेरे लिये उचित है और मैं करूंगा।[1]

गाथापति आनन्द के इस व्रतधारण में भ्रमविध्वंसनकार की दृष्टि जाती है कि आनन्द ने निर्ग्रन्थों को छोड़कर अन्य तीर्थियों को दान आदि न देने का अभिग्रह धारण इसलिये किया कि हीन, दीन, दुःखी जीवों पर दया करने से पुण्य नहीं होता, बल्कि एकान्त पाप होता है।[2] क्योंकि दीन - दुःखियों पर दया करने से यदि पुण्य होता तो वह अपने व्रत में निर्ग्रन्थों के साथ-साथ अन्य लोगों को भी दान देने का व्रत लेता।

---

१. तएण से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइत्ता समणं भगव महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी नो खलु मे कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिय वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि चइयाइ वा वंदित्तए वा, नमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेण आलवित्तए वा, संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइम वा साइम वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेण देवयाभियोगेणं, गुरुनिग्गहेणं वित्तिकन्तारेण। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपरिग्गहपायपुञ्छणेणं पीठफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं पडिगिण्हिइ अभिगिण्हइत्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ। उपा०, अ० १, सूत्र ५५.

२. भ्रमविध्वंसनम्—अनुकम्पा—दानाधिकार, बोल १, पृष्ठ ५२-५३.

जयाचार्य के इस विचार का खण्डन करते हुए जवाहिरलालजी सद्धर्ममण्डन में कहते हैं कि गरीब, दुःखी प्राणियों को दयावश दान देना श्रावकों के धर्मानुकूल है, इसलिये आनन्द ने अनुकम्पादान का त्याग नहीं किया था। उसके शब्दों में सर्वज्ञभाषितधर्म से भिन्न धर्म की प्रतिष्ठा करनेवाले, अज्ञानी चरक परिव्राजक आदि को आहारादि न देने की घोषणा मिलती है, अनुकम्पा या करुणा के कारण गरीब, दुःखी, असहाय प्राणियों को दान न देने की नहीं। अन्य यूथिक को गुरुबुद्धि से दान न देने का उसने व्रत लिया था, करुणावश दान न देने का नहीं।[1]

दूसरे बोल में जयाचार्यजी का कहना है कि यदि कोई कहता है कि आनन्द ने अन्यतीर्थी को दान न देने का व्रत लिया, असंयति को दान न देने का नहीं अर्थात् अन्यतीर्थियों को दान देना पाप है, असंयतियों को दान देने में पाप नहीं है। और यदि असंयतियों को दान देने में पाप है तो उसके लिये शास्त्रीय प्रमाण क्या हो सकता है? इस संबंध में प्रमाणस्वरूप वे भगवतीसूत्र में उल्लिखित महावीर-गौतम वाद को प्रस्तुत करते हैं, जहां महावीर ने कहा है कि असंयति को दान देने से एकान्त पाप होता है, निर्जरा बिल्कुल ही नहीं होती।[2] इसका खण्डन करते हुए जवाहिरलालजी कहते हैं कि अन्य तीर्थियों या असंयतियो को गुरुबुद्धि से दान देने का शास्त्र अवश्य निषेध करता है, किन्तु करुणावश दान देने का विरोध कभी भी नहीं करता। इसके सबूत में वे कहते हैं कि राजा प्रदेशी जिसका वर्णन राजप्रश्नीय में किया गया है, आनन्द श्रावक के समान ही अभिग्रह-धारी समकित सहित बारह व्रतधारी था। लेकिन व्रतधारण करने के बाद भी वह दयावश दानशाला खोलकर हीन-दीन प्राणियों को दान देता था। व्रतधारण करते समय राजा प्रदेशी ने मुनि केशीकुमार से कहा था कि मैं सात हजार गांवों को चार हिस्सों में बांटकर एक बल-वाहन, दूसरा कोष्ठागार, और तीसरा अन्तःपुर के लिये रखूंगा। शेष चौथे भाग से दानशाला का निर्माणकर, उसमें नौकरादि रखकर तथा

---

१. सद्धर्ममण्डन—जवाहिरलालजी—बोल १, पृ० ९४.

२. भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्दे० ६.

चतुर्विध आहार तैयार करवाकर श्रमण, माहन, भिक्षु एवं राहगीरों को भोजन करता हुआ तथा शील, प्रत्याख्यान, पोषध, उपवास आदि करता हुआ विचरूंगा[1]। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि दान में पाप नहीं होता।

किन्तु राजा प्रदेशी के व्रतधारण के वचन सुनकर मुनि केशीकुमार का चुप रह जाना शंका पैदा कर देता है। जयाचार्यजी यहां कहते हैं कि यदि अनुकम्पादान में पुण्य होता है तो राजा प्रदेशी के शब्दों को सुनकर केशीकुमार ने मौन धारण क्यों कर लिया? उन्होंने ऐसा क्यों नहीं कहा कि राज्य के चार भागों के द्वारा विभिन्न चार कार्यों को करने से तुम्हें प्रथम तीन में पाप की प्राप्ति होगी और चौथे यानी दानशाला की प्रतिष्ठा करने से पुण्य होगा[2]। इसका खण्डन करते हुए जवाहिरलाल जी कहते हैं कि मुनि केशीकुमार का चुप रहना यह इंगित नहीं करता कि अनुकम्पादान में एकान्तपाप होता है। क्योंकि यदि अनुकम्पादान में पाप होता तो केशीकुमार वहाँ चुप नहीं रहते बल्कि धर्मोपदेश देकर वे राजा प्रदेशी को पापजनक कार्य करने से रोकते यानी दानशाला की प्रतिष्ठा करने से रोकते। क्योंकि यह साधु का कर्तव्य होता है कि उनके सामने कोई हिंसाजनक कार्य करने का विचार करे तो वे उसे रोकें, समझावें। किन्तु केशीकुमार राजा के शब्दों को सुनकर चुप रह गये। इससे मालूम होता है कि अनुकम्पा दान हिंसादि पाप-जनक कार्यों की श्रेणी में नहीं है।[3]

---

१. अहं णं सेयंवियापामोक्खाइं सत्तगामसहस्साइं चत्तारिभागे करिस्सामि। एगे भागे बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महइ महालियं कूडागारसालं करिस्सामि, तत्थणं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्तिभत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता बहूणं समणमाहणभिक्खुयाणं पंथियपहियाणय परिभाएमाणे बहुहिं सीलव्वए पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि। त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

—अमोलक ऋषि संपा॰ —राजप्रश्नीय, पृ॰ २८३-८५,

२. भ्रमविध्वंसनम्, दानाधिकार, बोल १४, पृष्ठ ७४-७५.

३. सद्धर्ममंडन, दानाधिकार, बोल ३, पृष्ठ २००.

सूत्रकृतांग में एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण से मुनि आर्द्रकुमार की भेंट तथा वार्तालाप की चर्चा मिलती है।[1] ब्राह्मण, वैदिक कर्मकाण्ड की बड़ाई तथा बौद्धादि धर्मों की निन्दा करता हुआ आर्द्रकुमार को यह सलाह देता है कि वे ब्राह्मण धर्म को ही स्वीकार कर लें। वह कहता है कि वेदानुसार यजन - याजन, अध्ययन-अध्यापन आदि छः प्रकार के कर्मों को करनेवाले दो हजार ब्राह्मणों को रोज भोजन देने से पुण्य की वृद्धि होती है और स्वर्गलोक में देवत्व प्राप्त होता है। किन्तु ब्राह्मण को उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि मांस की खोज में बिड़ाल की तरह घूमने वाले, उदर पूर्ति के लिये क्षत्रियादि के यहाँ अधमचाकरी करने वाले दो हजार क्या एक ब्राह्मण को भी नित्य भोजन कराने से, उसी मांसहारी ब्राह्मण के साथ भोजन करानेवाला वेदनायुक्त नरक में जाता है। जो दया प्रधान धर्म की निन्दा या विरोध करता है तथा हिंसामय धर्म की प्रशंसा करता है, ऐसे एक ब्राह्मण को भोजन कराना ही नरक का बहुत बड़ा साधन बन जाता है।

यहा पर भ्रमविध्वंसनकार ने कहा है कि यदि असंयति को भोजन आदि दान देने से पुण्य होता तो मुनि आर्द्रकुमार कर्मकाण्डी ब्राह्मण को क्यों कहते कि ब्राह्मण को भोजन कराने से नरक होता है[2]। लेकिन इसके विरोध में जवाहिरलाल जी कहते हैं कि आर्द्रकुमार ने दयाधर्म की निन्दा करनेवाले तथा हिंसामय धर्म की प्रशंसा करने वाले नीचवृत्ति ब्राह्मणों को पूज्यबुद्धि से भोजन कराने का निषेध किया, क्योंकि

---

१. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुन्नखन्धे सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ।
सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छति लोलुवसंपगाढे तिव्वाभितावि णरगाभिसेवी।
दयावरं धम्म दुगुंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एगंपि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं।

—सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २, अ० ६, गाथा ४३-४५.

२. भ्रमविध्वंसनम्, दानाधिकार, बोल ९, पृ० ६६-६७.

ऐसा करने से नरक की प्राप्ति होती है, दीन-दुःखी प्राणियों को अनु-कम्पादान देने का निषेध नहीं किया[1]। इसके अलावा भी आर्द्रकुमार के शब्दों में दयाधर्म के विरोधी के लिये एक हेयभावना का रूप मिलता ही है।

इस प्रकार ज्ञातासूत्र में वर्णित नन्दन मणिहार का नरक जाना, ठाणांग में तपस्वी, क्षपक, रोग आदि से ग्रस्त प्राणी एवं नवदीक्षित शिष्य पर अनुकम्पा करने का विधान, उपासकदशांग (अध्ययन—७) में सकडाल पुत्र श्रावक का गोशालक मंखलिपुत्र को शय्या संथारा आदि देना, विपाकसूत्र (अ० १), उत्तराध्ययन (अ० १२ गाथा २४) आदि उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए यह खण्डन-मण्डन किया गया है कि अनुकम्पादान से पुण्य होता है या पाप[2]।

सामान्य दृष्टि से अनुकम्पा को पुण्यजनक ही कहा जा सकता है।

अहिंसा क्यों ?

'सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया'[3]।

सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय मालूम होता है या

'अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
ण हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए'[4] ॥ ७ ॥

सभी प्राणियों को सुख प्रिय तथा दुःख अप्रिय लगता है, सबको अपनी आत्मा प्यारी होती है, ऐसा जानते हुए भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी जीव की हिंसा न करनी चाहिये।

हिंसा को त्यागने और अहिंसा को अपनाने का यह सर्वविदित कारण है और सामान्यतौर से लोग यही समझते भी हैं कि हिंसा करने से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचता है, अतः किसी को कष्ट पहुंचाना

---

१. सद्धर्ममण्डन, दानाधिकार, बोल ५, पृष्ठ १०६-१०७.

२. वही दानाधिकार, बोल ८, ९, १७, १८, १९.
भ्रमविध्वंसनम् तथा सद्धर्ममण्डन के दानाधिकार पूर्णरूपेण देखें।

३. सूत्रकृतांग, प्र० श्रु० लोकवादनिराशाधिकार, गाथा ९.

४. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ६.

उचित नहीं। क्योंकि जिस व्यवहार से एक व्यक्ति दूसरे को कष्ट पहुंचाता है यदि वही व्यवहार उसके साथ भी किया जाये तो उसे भी आनन्द नहीं बल्कि कष्ट ही मालूम होगा। इसीलिये कहा गया है कि श्रुत एवं चारित्र धर्म को सही रीति से कहनेवाला और तीर्थंकरों की वाणी में विश्वास करनेवाला प्रासुक आहार से जीवन निर्वाह करने वाला उत्तम साधु सभी प्राणियों को अपने ही समान समझता हुआ संयम का पालन करे[1]। परन्तु अहिंसा पालन करने का यह प्रधान कारण नहीं है, यद्यपि सामान्य जानकारी में इसी को प्रधानता मिलती है। अहिंसा के मार्ग पर चलने का मुख्य उद्देश्य है आत्म-कल्याण। हिंसा करनेवाला व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट करने के पहले अपना अनिष्ट करता है, हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, दूसरों से वैर बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इस प्रकार वह पहले अपनी भाव तथा द्रव्यहिंसायें करता है। इसके विपरीत यदि कोई अहिंसा को अपनाता है, सबको समान दृष्टि से या आत्मवत देखता है तो उसका कोई भी शत्रु नहीं होता। अतः उसकी द्रव्य हिंसा नहीं होती और चूंकि वह सब को समान समझता है, उसके मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं पैदा होता, इसलिए उसका मन दूषित नहीं होता, उसकी आत्मा शुद्धि होती है, पवित्र होती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है और आगे चलकर जन्म—मरण के बंधन से छूटकर मुक्त हो जाता है। अर्थात् अहिंसा पालन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी वजह से प्रश्न-व्याकरणसूत्र में अहिंसा का प्रथम नाम 'निर्वाण' दिया गया है[2]। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण या दो फल हुए— १. आत्मकल्याण या मोक्षप्राप्ति और २ अन्य प्राणियों के प्रति उपकार।

अहिंसा के पोषक तत्त्व :

हिंसा का विवेचन करते हुए हमलोगों ने देखा है कि असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह इसके पोषक तत्त्व हैं। ठीक इसके

---

१. सूत्रकृतांग, प्र० श्रु० अध्ययन १०, सूत्र ३.

२. प्रश्नव्याकरण सूत्र, द्वितीय श्रुत स्कन्ध, प्रथम संवरद्वार।

विपरीत सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्त्व हैं। यानी इनमें से किसी एक को छोड़ देने से अहिंसाव्रत का पूर्णरूपेण पालन नहीं हो सकता। झूठ बोलने वाले को एक झूठ को छिपाने के लिये अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं, जिससे स्वयं तो उसकी आत्मा कष्ट पाती है और अपवित्र होती है, दूसरे प्राणियों को भी वह दुःखद स्थिति में डालता है। चोरी न करनेवाला अन्य व्यक्ति को उस प्रकार का कष्ट नहीं देता जो प्रियवस्तु के हरण से होता है। ब्रह्मचर्य पालन से आदमी उन सभी प्रकार की हिंसाओं से बच पाता है, जो मैथुन आदि सम्मति या बलात्कार दोनों ही करने से होती है। इसी प्रकार अपरिग्रही आदमी को किसी के प्रति राग या द्वेष का शिकार नहीं बनना पड़ता। वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता। अतएव सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, अहिंसा के पोषक या सहायक तत्त्व है, इसमें कोई शक नहीं। तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन-कर्ता ने लिखा भी है—

> अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान होने से उसका प्रथम स्थान है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है, वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये हैं; इसी से अहिंसा की प्रधानता मानी गई है[1]।

अहिंसा का तात्त्विक विवेचन :

> व्यक्ति की मुक्ति के लिये या चित्तशुद्धि और वीतरागता प्राप्त करने के लिये अहिंसा की ऐकान्तिक चारित्रगत साधना उपयुक्त हो सकती है; किन्तु संघरचना और समाज में उस अहिंसा की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उसके तत्त्वज्ञान की खोज न केवल उपयोगी ही है, किन्तु आवश्यक भी है[2]।

महावीर के समय में आत्मनित्यवाद (आत्मा को नित्य मानने-वाला), उच्छेदवाद तथा उपनिषदों आदि की विभिन्न दार्शनिक (तात्त्विक) धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। इसके अलावा महावीर

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र—विवेचनकर्ता पं० सुखलालजी संघवी, पृ० २०४.

२ जैनदर्शन, पं० —महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ० ५९.

के शिष्यों के विचारों में भी एकता नहीं थी। अतः उन सब में भी कहीं संघभेद न हो जाये, इसकी आशंका थी। अतएव महावीर के सामने वस्तु के वास्तविक स्वरूप को दिखाते हुए सभी वादों में एकता या मैत्रीभावना लाने की समस्या थी। उन्होंने यह साबित किया कि वस्तु यदि मौलिक रूप से नित्य है तो परिवर्तमान पर्यायों की दृष्टि से अनित्य भी है। द्रव्य के दृष्टिकोण से यदि सत् से ही सत् उत्पन्न होता है तो पर्याय की दृष्टि से असत् से भी सत् उत्पन्न होता है। इस प्रकार उन्होंने सत्य को या जगत के यावत् को पदार्थों का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-रूप परिणामी और अनन्त धर्मात्मक बताया। इस प्रकार वस्तु के वास्तविक रूप को दिखाकर उन्होंने दर्शन के क्षेत्र के बहुत बड़े झमेले को हटाने की कोशिश की। जब तक दृष्टि एकान्तवादी होती है, उसके साथ विभिन्न मतमतान्तर की संभावना रहती है किन्तु अनेकान्त की दृष्टि वस्तु के सभी रूपों को सही मानती है। अतः कोई विवाद नहीं उठता। अहिंसा ही तत्त्व के क्षेत्र में अनेकान्त रूप धारण करती है— यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्य स्तम्भ है। इसी से 'जैनदर्शन' की प्राण प्रतिष्ठा है[1]।

आगे चलकर अनेकान्त दृष्टि को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में 'स्याद्वाद' का रूप मिला जिससे अहिंसा का वाचनिक विकास हुआ। वस्तु अनेक-धर्मा होती है—जैसे किताब में लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि बहुत से गुण होते हैं और कोई कहे कि पुस्तक मोटी है तो ऐसा कहने से उसके अन्यगुणों का प्रकाशन नहीं होता क्योंकि 'पुस्तक मोटी है' ऐसा अपेक्षा दृष्टि से कहा गया है। यदि एक दृष्टि से पुस्तक मोटी है तो दूसरी दृष्टि से लम्बी है यानी मोटी नहीं है। अतः एक दृष्टि से वस्तु के गुण को व्यक्त करते समय, दूसरी दृष्टि में पाये जाने वाले उसके गुणों के अस्तित्व को व्यक्त करने के लिए, महावीर ने एक शब्द की खोज की जो है— 'स्यात्'। 'स्यात्' कहने से एक दृष्टि की सीमा बन जाती है, किन्तु वस्तु के सम्बन्ध में अन्य दृष्टियों (अनेकान्त) पर उसका अधिकार या अन्य दृष्टियों का निषेध जाहिर नहीं होता।

---

१. जैनदर्शन—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ० ६१.

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'स्यात्' पुस्तक मोटी है तो ऐसा कहने से यह नहीं जाहिर होता कि पुस्तक लम्बी नहीं है या चौड़ी नहीं है। बल्कि कहने वाला अपनी बात तक ही सीमित रह जाता है। ऐसा करने से अन्य व्यक्तियों के विचारों का विरोध नहीं होता और जहाँ विरोध नहीं है वहाँ द्वेष नहीं है तथा जहाँ द्वेष नहीं है, वहाँ हिंसा नहीं है[1]। अतः अहिंसा के सिद्धान्त का तात्त्विक विवेचन अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद के रूप में होता है।

महावीरकालीन अहिंसा-सिद्धान्त :

समय के प्रवाह में हर वस्तु का कुछ न कुछ विकास और ह्रास होता है। अहिंसा का सिद्धान्त भी इससे अछूता नहीं है।

महावीर ने कहा —

> तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
> अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥
> सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं[2] ॥

अहिंसा सुखदायिका है, अतः सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिए। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मृत्यु को कोई भी पसन्द नहीं करता। इसलिये प्राणि-वध का संयमी या निर्ग्रन्थ पुरुष त्याग करते हैं। इसके आधार पर हिंसा को पूर्णतः त्याग देने की बात सभी लोगों के मन में जग पड़ी और चूँकि सभी प्रकार की हिंसाओं में परिग्रह ही मूल बनता है, अतः परिग्रह भी सर्वथा त्याज्य समझा जाने लगा। हिंसा से बचने के लिये वस्त्रादि का भी त्याग होने लगा, जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि जो देवता और मनुष्य-सम्बन्धी

---

१ जैनदर्शन — पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ० ५६-६४.
तथा जैनधर्म — पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० ६०-६६.

२ दशवैकालिकसूत्र, छठा अध्ययन।

भोगों को निर्वेदेगा, वह आभ्यन्तर कषाय, बाह्य कुटुम्बादिक के संयोग का त्याग करेगा और जो आभ्यन्तर तथा बाह्य संयोगों का त्याग करेगा, वही द्रव्य एवं भाव से मुण्डित होकर अनगार बन पायेगा[1]। किन्तु साधना में शरीर की भी आवश्यकता होती है[2]। ऐसा समझकर शरीर की रक्षा उस हद तक सही समझी जाने लगी, जिस हद तक शरीर साधना का साधन बन पाता है, यदि वह बाधास्वरूप बन जाता है तो ऐसे शरीर की रक्षा नहीं होनी चाहिए। अतएव संयमी या साधक को आहार का प्रबन्ध करने की छूट दी गयी, किन्तु एक गृहस्थ की रीति से नहीं, बल्कि मधुकरी वृत्ति से[3]। इसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि साधु अपने लिये किसी भी प्रकार का भोजन तैयार न करे और दूसरों के द्वारा भी दी गई उन वस्तुओं को ग्रहण न करे, जो उसके निमित्त ही बनी हों। आहार में वे वस्तुएँ वर्जित की गईं, जो सजीव हों या सजीव से सम्बन्धित हों यानी सजीव से लगी हों। इतना ही नहीं, भिक्षा मांगने के समय दाता या याचक किसी से भी किसी प्राणी की हिंसा हो तो वैसी हालत में भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। इसके अलावा दाता से भिक्षु के निमित्त पहले या पीछे किसी प्रकार की हिंसा होने की संभावना हो तो साधक को भिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहिये। इस संबंध में अनेक नियम बने।[4] और उन सभी नियमों की धमनियों में अहिंसा पालन का रक्त ही संचारित हो रहा था। आहारादि सम्बन्धी नियमों के विवेचन आचारांग, दशवैकालिक, बृहत्कल्प आदि ग्रन्थों में हुए हैं

---

१ जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ॥ १७ ॥
जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ॥
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥ १८ ॥

—दश०, अध्ययन ४,

२ दशवैकालिक, अध्ययन ५, सूत्र ९१-९२.

३ " " १, सूत्र १-५.

४ " " ५.

लेकिन इसमें यह नहीं बताया गया कि यदि किसी कारणवश भंग हो जाये तो उस दोष से छुटकारा पाने के लिये क्या करना उचित है। नियम-भंग दोष से बचने के लिये प्रायश्चित्त करने का निशीथ मूलसूत्र में विधान किया गया है।[1]

महावीर के समय अहिंसा का ठोस रूप था, जिसमें किसी भी प्रकार की कमजोरी की गुंजाइश नहीं थी, न कोई अपवाद था। महावीर के अनुसार साधु को विरोधियों से मार-पीट मान-अपमान सब कुछ पाते हुए और स्थिर मन से सब कष्टों को सहते हुए अहिंसा व्रत का पालन करना उचित समझा गया। महावीर स्वयं अनेक जगहों पर पागल या और कुछ ही समझे गये और मार गालियां सब कुछ सहते हुए अहिंसा व्रत को निभाया।

महावीरकालोत्तर अहिंसा-सिद्धान्त :

बाद में अहिंसा के बहुत से अपवाद बने, साथ ही अहिंसा से सम्बन्धित आहारादि के अपवाद भी। अहिंसा के नियमों में ऐसा पाया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति अपने वैरी का पुतला बनाकर उसके मर्मस्थलों को आहत करता है तो ऐसी क्रिया 'दर्पप्रतिसेवना'[2] यानी हिंसा कही जायेगी। लेकिन यदि कोई व्यक्ति साधु-संघ अथवा चैत्य को क्षति पहुंचाता है तो ऐसी हालत में उसके मिट्टी के पुतले को मर्माहत करना हिंसा दोष या प्रतिसेवना के अन्तर्गत नहीं आता[3]। यह हिंसा करने का अहिंसक उपाय कहा जा सकता है। ऐसी हिंसा से हिंसा करने वाला साक्षात् हिंसा से बच पाता था और इसमें कम हिंसा होने की कल्पना थी। फिर अहिंसक धर्म के समक्ष यह समस्या उठी कि यदि कोई व्यक्ति परोक्ष में धर्म या संघ का विरोध करता है तो उसके साथ मंत्र का भी प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन जो

---

१ निशीथ, मूलसूत्र २. ३२-३६, ३८-४९; ३. १-१५; ४. १९-२१, ३८-३९, ८. १४-१८; ९. १-२; ९ ११-३; ६. ७२-८१; १५. ५-१२, ७५-८६; १६. ४-११, १३-१७, २७; १८.२०-२१

२ निशीथचूर्णि, गाथा १५५.

३ वही, गा० १५७.

समक्ष आकर आचार्य का नाश करना चाहता है तो उसके साथ क्या व्यवहार होना चाहिये। इसके लिये निशीथभाष्य तथा निशीथचूर्णि में कहा गया है[1] कि यदि कोई साधु आचार्य का वध या साध्वी के साथ बलात्कार करना चाहता है तो उसकी हत्या करके आचार्य आदि की रक्षा करनी चाहिए और ऐसी हिंसा करने वाले को विशुद्ध माना गया। इसका ज्वलन्त उदाहरण है कौंकणदेशीय साधु के द्वारा रात्रि में तीन सिंहों को मारकर संघ की रक्षा करना।[2]

इस प्रकार स्वतः अपनी रक्षा के हेतु नहीं, किन्तु संघादि की रक्षा के लिए जीवों की हत्या करनेवाले को भी हिंसा के दोष से दूषित नहीं, बल्कि विशुद्ध चरित्रवाला समझा जाने लगा। अर्थात् हिंसा से अहिंसा की रक्षा का भाव लोगों के मन में आ गया। एक बार ऐसा हुआ कि किसी राजा ने जैन साधुओं को आदेश दिया कि वे ब्राह्मणों को उनके पैर छूकर प्रणाम करें। अन्यथा सभी जैन साधुओं को देश-निकाला की सजा मिलेगी। इस समस्या का समाधान करने के लिए आचार्य ने अपने शिष्यों से पूछा कि क्या कोई ऐसा भी साधु है, जो सावद्य या निरवद्य किसी भी प्रकार से इस कष्ट का निवारण करे। यह सुनकर एक जैन साधु संघ की रक्षा के लिए तैयार हुआ। उसने राजा से सभी ब्राह्मणों को एकत्र करवाने को कहा। जब सभी ब्राह्मण एकत्रित हुए तो उसने कणेरलता को अभिमंत्रित करके सभी ब्राह्मणों के शिर काट डाले। इस प्रकार उसने संघ की रक्षा की।[3]

आहार ग्रहण करने के नियमों में भी बहुत से अपवाद बनाये गये। जैसे चूर्णिकार ने कहा कि बाल, वृद्ध, आचार्य तथा दुर्बल संयमी रोग आदि में विगय यानी तेल, घृत, नवनीत, दधि, फाणिय-गुड़, मद्य, दूध आदि का सेवन कर सकते हैं।[4] किन्तु इन्हें ग्रहण करते समय साधु को

१ निशीथचूर्णि, गा० २८९.
२ " गा० २८९, पृ० १०१, भाग १.
३ " गा० ४८७.
४ " गा० ३१५८.

यह ध्यानपूर्वक सोचना चाहिये कि यह अग्राह्य है और उतना ही ग्रहण किया जाय जो कि मात्र रोग दूर करने में सहायक हो तथा दाता को भी विश्वास हो कि यह वस्तु रोग दूर करने के निमित्त ली जा रही है, रस-लोलुपता से नहीं[1]। इतना ही नहीं बल्कि रोगी के लिये चोरी से या वशीकरण मंत्र के द्वारा भी अभीप्सित औषधि लेना दोषपूर्ण नहीं समझा जाता था[2]।

१ निशीथचू० गा० ११७०
२ ,, गा० १४८७

चतुर्थ अध्याय

जैनाचार और अहिंसा

मानव जीवन के दो आधार-स्तम्भ हैं—आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है तो विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा करता है, वैसा सोचता है और जैसा सोचता है, वैसा ही करता भी है। आचार और विचार या व्यवहार और सिद्धान्त एक-दूसरे पर आधारित हैं। वह आचार जो किसी विचार की छाया में नहीं है, उस कंकाल के समान है, जिस पर न मांस हो और न त्वचा। और वह विचार जो आचरित न हो, उस खोखले शरीर के समान है, जो हड्डीविहीन हो। अतः दोनों ही की आवश्यकता को समझते हुए सभी धर्मप्रणेताओं और दार्शनिकों ने विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ आचार पर भी प्रकाश डाला है; यानी यह बताया है कि जो धार्मिक सिद्धान्तों को मानता है, उस व्यक्ति का आचार कैसा होना चाहिये। अतः विभिन्न प्रणेताओं ने विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और आचार के भी विभिन्न नियम निर्धारित किये हैं। जैन धर्म के भी अनेकान्तवाद-स्याद्वाद आदि तात्त्विक या सैद्धान्तिकरूप हैं तथा कर्मवाद आदि व्यावहारिक रूप। जैनाचार के दो विभाग किये जाते हैं—श्रावकाचार तथा श्रमणाचार। श्रावक के लिये उपदेशित आचार को श्रावकाचार तथा श्रमण के लिये उपदेशित आचार को श्रमणाचार कहते हैं।

गृहस्थ जो अपने गुरुजनों या श्रमणों के निर्ग्रन्थ-वचनों का श्रवण करता है, उसे श्रावक या श्राद्ध की संज्ञा दी जाती है। वह श्रमणोपासक भी कहा जाता है, कारण, वह श्रमणों की उपासना करता है। चूंकि वह अणुव्रत या लघुव्रत का पालन करता है, उसे अणुव्रती,

देशविरत, देशसंयमी या देशसंयती नामों से भी सम्बोधित करते हैं। गृही, सागार आगारी आदि शब्द भी इसी के लिए प्रयोग किये जाते हैं, क्योंकि वह आगार यानी घर में रहता है। इस प्रकार व्रतधारण करनेवाले गृहस्थ के लिये श्रावक, श्राद्ध, उपासक, अणुव्रती, देशविरत, देशसंयमी, देशसंयती, गृही, सागार, आगारी आदि शब्द प्रयोग होते हैं। उपासकदशांग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकचार आदि में बारह व्रतों के आधार पर श्रावकों के आचार का प्रतिपादन हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित चारित्रप्राभृत, स्वामी कार्तिकेय कृत अनुप्रेक्षा तथा आचार्य वसुनन्दि कृत वसुनन्दि-श्रावकाचार में श्रावकाचार का निर्धारण ग्यारह प्रतिमाओं को आधार मानते हुए हुआ है। किन्तु पंडित आशाधर द्वारा रचित सागारधर्मामृत में श्रावकधर्म पक्ष, निष्ठा तथा साधन पर अवलम्बित है। इस पद्धति का श्रीगणेश जिनसेनकृत आदि-पुराण में हुआ है, जहां पर पक्ष, निष्ठा या चर्या तथा साधन को हिंसा की शुद्धि के तीन उपायों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने श्रावकाचार को तीन तरह से प्रतिपादित किया है: बारह व्रतों के आधार पर, ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर तथा पक्ष, निष्ठा आदि के आधार पर। किन्तु इन तीन पद्धतियों में मूलतः कोई अन्तर नहीं पाया जाता। बारह व्रतों को धारण करनेवाला श्रावक आत्मा की विशेष शुद्धि के लिये ग्यारह प्रतिमाओं को भी धारण करता है, और पक्ष, चर्या तथा साधन तो उनकी आचार-मर्यादा के तीन भेद ही कहे जा सकते हैं। बारह व्रतों में प्रथम पांच को अणुव्रत, छठे, सातवें एवं आठवें को गुणव्रत तथा अन्तिम चार यानी नवें, दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें को शिक्षाव्रत कहते हैं।

अणुव्रत :

श्रावक के बारह व्रतों में प्रथम पांच को अणुव्रत कहते हैं। इन्हें श्रावक या श्रावकधर्म के मूलगुण भी कहते हैं। चूंकि पांच महाव्रतों, जो श्रमणों के द्वारा पालन किये जाते हैं, से ये लघु हैं, इन्हें अणुव्रत कहते हैं। इनमें अहिंसादि का पूर्णरूपेण पालन नहीं होता, जैसा कि श्रमणों के द्वारा पांच महाव्रतों में होता है। फिर भी ये श्रावकधर्म के प्राण हैं। अतः इन्हें मूलगुण कहा गया है। इनके अलावा जो अन्य व्रत हैं, उन्हें

उत्तरगुण कहा गया है, क्योंकि उन सबों से मूलगुण की पुष्टि होती है। अणुव्रत के पाँच प्रकार होते हैं जिनमें स्थूल पापों से बचने का प्रयास किया जाता है : १. स्थूल प्राणातिपात-विरमण, २. स्थूल मृषावाद-विरमण, ३. स्थूल अदत्तादान-विरमण, ४. स्वदारसंतोष तथा ५. इच्छा-परिमाण।[1]

स्थूल प्राणातिपात-विरमण—इसकी व्याख्या विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की मिलती है। उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि गाथापति आनन्द ने श्रावकधर्म ग्रहण करते समय कहा था कि मैं स्थूल हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग करूँगा।[2] यानी, मन वचन और काय से हिंसा न करने एवं न कराने की उसने प्रतिज्ञा की। समीचीनधर्मशास्त्र[3] या रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन में स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा संकल्पपूर्वक तीन करण या मन, वचन, काय तथा तीन योग यानी करना, कराना, अनुमोदन करना, से न करने को प्रथम अणुव्रत कहा गया है। वसुनन्दि-श्रावकाचार में सिर्फ इतना ही कहा गया कि त्रसकाय जीव की हिंसा न करना प्रथम अणुव्रत है। इसमें करण और योग की संख्या पर प्रकाश नहीं डाला गया है।[4] किन्तु इन तीनों से यह बात जरूर स्पष्ट होती है कि प्रथम अणुव्रत में स्थूल हिंसा यानी त्रस जीवों की हिंसा नहीं करनी है। इस व्रत में गृहस्थ के अहिंसाव्रत की मर्यादा सिर्फ स्थूल जीवों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय) और दो योग यानी कृत-कारित तक ही निर्धारित की गई है। इसका कारण यह है

---

१. प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्च्छाभ्यः ।
   स्थूलेभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥६॥ ५२ ॥
   —समीचीन धर्मशास्त्र.

२. उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन, सूत्र १३.

३. संकल्पात्कृत-कारित-मननाद्योग-त्रयस्य-चर-सत्वान् ।
   न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल वधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ७ ॥ ५३॥

४. जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा ते ।
   एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥ २०९ ॥
   —वसुनन्दिकृत श्रावकाचार.

कि गृहस्थ खेती करता है और खेती में स्थावर प्राणियों की हिंसा होती है, यह निश्चित है । यदि स्थावर प्राणियों की हिंसा से भी गृहस्थ को वंचित रहने को कहा जाय तो खेती हो नहीं सकती और खेती न होगी तो अन्य प्राणियों का जीवित रहना दुर्लभ हो जायेगा । इसके अलावा स्थूल हिंसा के समर्थन के लिये भी परिस्थिति विशेष में वह स्वतंत्र है और इसी को श्रावक की देशवरति कहते हैं । गृहस्थ कोई भी काम करने में सावधान रहता है कि किसी भी जीव को किसी प्रकार का कष्ट न हो । फिर भी यदि किसी जीव का घात हो जाता है तो ऐसी हिंसा के लिये वह दोषी नहीं होता अर्थात् उसका अहिंसाव्रत भंग नहीं होता । किन्तु कभी-कभी प्रमादवश या अज्ञानवश हिंसा हो जाती है जो दोषजनक होती है और व्रत को भंग कर देती है । इस प्रकार पैदा हुए दोष को अतिचार कहते हैं । स्थूल प्राणातिपात-विरमण के पांच अतिचार हैं : बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्तपान-व्युच्छेद ।[1]

बन्ध—बन्ध का अर्थ है त्रस प्राणियों को कठिन बन्धन से बांधना या उनके गन्तव्य स्थान पर जाने से उन्हें बलपूर्वक रोकना। पशुओं तथा दासों को इस प्रकार बांधना कि उन्हें कष्ट पहुंचे । बन्ध के दो प्रकार हैं-अर्थबन्ध तथा अनर्थबन्ध । अनर्थबन्ध हिंसा है जो अनर्थदण्ड नामक व्रत के साथ आती है और अर्थबन्ध भी यदि क्रोधवश किया जाये तो उसे हिंसा ही कहेंगे। अर्थबन्ध भी दो प्रकार के होते हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। भय उत्पन्न होने पर जिस बन्ध से स्वतः मुक्ति मिल जाये उसे सापेक्ष तथा भय की दशा में भी मुक्ति न देनेवाला बन्ध निरपेक्ष कहलाता है[2]। निरपेक्ष बन्ध अतिचार की श्रेणी में आता है ।

वध—वध का सामान्य अर्थ होता है हत्या । किन्तु उपासकदशांग सूत्र का सम्पादन करते हुए डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री ने कहा है—

१. तयाणतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा—बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए ॥४२॥ उपासकदशांग प्र० अ०; समीचीन धर्मशास्त्र, अ०३. ८.

२. उपासकदशांग सूत्र, पृष्ठ ५१.

'यहाँ वध का अर्थ हत्या नहीं है। हत्या करने पर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अतः वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अंगोपांगादि को हानि पहुँचे'[1]।

अर्थात् निर्दयता पूर्वक अपने आश्रित मनुष्यों तथा गाय, बैल, घोड़ा, भैंस आदि पशुओं को चाबुक, डंडा, ईंट, पत्थर, आदि से मारना; अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये शोषण करना या अन्य प्रकार से प्राणियों को संताप पहुँचाना।

छविच्छेद क्रोधवश या अपनी प्रसन्नता के लिये किसी प्राणी का अंग छेदन करना छविच्छेद कहा जाता है। इसी के समान वृत्तिच्छेद भी समझा जाता है, क्योंकि वेतन या मजदूरी कम देना तथा छुट्टी आदि की उचित सुविधा न देना भी दोषयुक्त और कष्टप्रद होता है।

अतिभार—बैल, घोड़े, ऊंट आदि पशुओं पर तथा नौकर, मजदूर और अपने परिवार के व्यक्ति पर शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभार की श्रेणी में आता है। इसके अलावा अपने समय और शक्ति को बचाकर दूसरों से काम लेना भी अतिभार समझा जाता है।

अन्नपाननिरोध—इसका अर्थ होता है खान-पान में कटौती करना या खान-पान-संबंधी कष्ट देना। मूक पशु पक्षियों को भोजन कम देकर या न देकर उन्हें भूखा-प्यासा रखना अन्नपाननिरोध कहलाता है। अपने अधीन या आश्रित मनुष्यों को भी पर्याप्त भोजन न देना इसी अतिचार का अंग है।

अतः श्रावक को इन सभी कष्टदायक अतिचारों को जानना चाहिये और इनसे सर्वदा बचने की कोशिश करनी चाहिये।

स्थूल मृषावाद-विरमण—सत्य और अहिंसा का इतना अधिक घनिष्ठ संबंध है कि एक के अभाव में दूसरे की आराधना अशक्य है। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा यथार्थता को सुरूप प्रदान करती है, जब कि यथार्थता अहिंसा की सुरक्षा करती है। अहिंसा के बिना सत्य नग्न अथवा कुरूप होता है जबकि सत्यरहित

---

१. उपासकदशांग सूत्र, पृष्ठ ५१.

अहिंसा मरणोन्मुख अथवा बरखित होती है[1]। अतः सत्य का महत्त्व देखते हुए मृषावाद से बचने का उपदेश दिया है। किन्तु गृहस्थों के लिये स्थूल मृषावाद का त्याग ही व्रत पालन के लिये अनिवार्य माना गया है[2]। स्थूल मृषावाद अथवा मोटा झूठ की श्रेणी में निम्नलिखित कार्य आते हैं—

१. कन्यालीक—विवाह के संबंध में बातचीत करते हुए आयु, शरीर, वाणी तथा मस्तिष्क-संबंधी कन्या के दोषों (को छिपाना या उसके वास्तविक गुण को बहुत अधिक बढ़ाचढ़ा कर कहना।

२. गवलीक—पशु के लेन-देन में जो बैल कम काम करने वाला हो, उसके विषय में यह कहना कि बहुत अधिक काम करनेवाला है तथा गाय-भैंस को अधिक दूध देनेवाली बताना, जबकि वह कम ही दूध क्यों न देती हो।

३. भूम्यलीक—खेती-बारी तथा निवास स्थान के संबंध में असत्य बातें करना।

४. न्यासापहार—किसी संस्था या सामाजिक कार्य के लिये संग्रह की हुई सम्पत्ति या किसी के धरोहर को हड़प लेना।

५. कूडसक्खिज्ज—झूठा साक्षी बनना।

६. सन्धिकरण—षड्यन्त्र रचना। आश्वासन देकर या विश्वास दिलाकर झूठ बोलना[3]।

गृहस्थ सूक्ष्म झूठ को त्यागने मे असमर्थ होता है। क्योंकि पारिवारिक तथा सामाजिक बहुत से ऐसे कार्य होते हैं, जिनमें उसे झूठ किसी न किसी रूप में बोलना ही पड़ता है। लेकिन ऊपर कथित मोटे झूठ से तो उसे बचना ही चाहिये अन्यथा वह श्रावक धर्म को नहीं निभा सकता। वसुनन्दि ने तो श्रावकाचार में कहा है कि राग-द्वेष के

---

१. जैन आचार, डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ ९२.

२. उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन, सूत्र १४.

३. ,, ,, पृष्ठ ५३-५४.

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद-वैरमणम् ॥३॥५५॥
—समीचीन धर्मशास्त्र.

वशीभूत हो असत्य-भाषण बिलकुल नहीं करना चाहिये और वह सत्य भी नहीं बोलना चाहिये, जिससे किसी को पीड़ा पहुँचे अथवा किसी की हिंसा हो[1]।

स्थूल अदत्तादान-विरमण—अचौर्य के बिना न अहिंसा का सम्यक् पालन हो सकता है और न सत्य का ही। अतः अहिंसा के पथ पर चलनेवाले के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह अदत्तादान का त्याग करे। किन्तु मुनि अथवा श्रमण की भांति अदत्तादान का पूर्णरूपेण पालन करना श्रावक के लिये अशक्य हो जाता है, इसलिये उसे स्थूल अदत्तादान विरमण का पाल न करना चाहिये यानी उसे बिना दी हुई वस्तु को मन, वचन, काया से न ग्रहण करना चाहिये और न दूसरों को उसे ग्रहण करने की आज्ञा देनी चाहिये। स्थूल चोरी यानी मोटी चोरी के अन्तर्गत ये सब आते हैं—सेंध काटकर चोरी करना, अधिक मूल्यवाली वस्तु को बिना पूछे हुए ले लेना, राहियों को लूटना-खसोटना आदि[2]।

स्वदार-सन्तोष—इस व्रत के अनुसार पति को सिर्फ अपनी पत्नी के साथ तथा पत्नी को केवल अपने पति के साथ संभोग करना चाहिये[1]। मैथुन में अनेक जीवों का नाश होता है। अतः मैथुन

---

१. अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि।
रायेण य दोसेण य। णेयं बिदियं वयं थूलं ॥२१०॥

—वसुनन्दिकृत श्रावकाचार.

२. तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णदाणं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ॥ १५ ॥
उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन
,, ,, पृष्ठ ५७.
निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश-चौर्यादुपारमणम् ॥११॥५७॥

—समीचीनधर्मशास्त्र.

१. तयाणंतरं च णं सदारसंतोसीए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ॥१६॥

—उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्याय.

हिंसा की जननी है। श्रमणों को तो इस कार्य से बिल्कुल वंचित रहने को कहा गया है, लेकिन श्रावकों को सिर्फ अपनी पत्नी तक और श्राविकाओं को अपने पति तक ही अपने को नियंत्रित रखने को कहा गया है।

इच्छा-परिमाण – इच्छा का विस्तार अनन्त है। यदि इसको नियंत्रित न रखा जाय तो यह मनुष्य को पशु के समान अज्ञानी और दानव के समान भयावह बना दे। जब व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा को अपना पथप्रदर्शक बनाता है तो वह चाहता है कि सबसे अधिक सुख-सुविधाएं तथा उनके विभिन्न साधन उसी के पास हों। उसी को सबसे अधिक वैभव प्राप्त हो, सबसे अधिक यश प्राप्त हो और उसी को सबसे अधिक शारीरिक एवं मानसिक आनन्द की उपलब्धि हो। यही है परिग्रहवृत्ति। समाज में जो शोषणवृत्ति, पारस्परिक अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, छल, कपट, दुःख-दारिद्र, शोक-संताप, लूट-खसोट आदि देखने को मिलते हैं उनका प्रधान कारण परिग्रहवृत्ति, संग्रहखोरी अथवा संचयबुद्धि है[1]। अर्थात् परिग्रहवृत्ति हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। अतएव इससे बचना या इस पर नियंत्रण रखना ही श्रेयस्कर कहा जा सकता है और इसीलिये श्रावकों को इच्छापरिमाण का पाठ पढ़ाया गया है। गाथापति आनन्द श्रावकधर्म को धारण करते हुए कहते हैं कि बारह कोटि (कोष के लिये चार कोटि, व्यापार के लिये चार कोटि तथा गृह एवं गृहोपकरण के लिए चार कोटि) हिरण्य-सुवर्ण के अतिरिक्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूं। इस प्रकार वे पशु-पक्षी, भूमि, हल, बैलगाड़ी, वाहन, नौका आदि सभी एक निश्चित संख्या में रखकर अधिक का त्याग करते हैं[2]। यह है अपरिग्रह वृत्ति। इसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए समीचीन धर्मशास्त्र में कहा गया है कि धन-धान्य

---

१. जैन आचार, डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ १०२.

२. तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणं हिरण्णसुवण्णविहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाण पउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं पविस्थर पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि ॥ १७ ॥ —उपा॰सू॰प्र॰अ॰

अर्थात् परिग्रह को सीमित करके उस सीमा से अधिक प्राप्त करने का त्याग ही परिमित परिग्रह है[1]।

मुनियों के लिये इन वस्तुओं का पूर्णतः त्याग करना कहा गया है, लेकिन श्रावकों के लिये कहा गया है कि वे इन वस्तुओं को परिमित करलें, क्योंकि परिवार में रहते हुए इन चीजों का पूर्ण त्याग शक्य नहीं है।

गुणव्रत :

गुणव्रत तीन हैं : दिग्व्रत, भोगोपभोगव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत। चूंकि ये मूल गुणों की वृद्धि करते हैं, इन्हें गुणव्रत कहते हैं[2]।

दिग्व्रत—मरण पर्यन्त के लिये यह संकल्प करना कि एक मर्यादित क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊंगा, दिग्व्रत या दिशापरिमाण व्रत कहलाता है[3]। इसमें गृहस्थ यह निश्चय करता है कि खेती या अन्य व्यवसाय के लिये वह ऊपर, नीचे तथा चारों दिशाओं में जाने का एक खास मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा। कोई भी व्यक्ति जितनी अधिक दूरी तय करेगा या जितने ही विस्तृत क्षेत्र से उसका सम्पर्क होगा, उतने ही अधिक जीवों से, भले ही छोटे हों या बड़े, उसका सम्पर्क होगा और ज्यादा हिंसा की संभावना रहेगी। इसके अलावा ज्यादा वस्तुओं को देखकर उसके मन में अधिक प्रलोभन होगा, अधिक विकार पैदा होगा जो उसे हिंसा की ओर बढ़ने को प्रेरित करेंगे।

---

१. धन-धान्यादि-ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण - नामाऽपि ॥१५॥६१॥
समीचीन धर्मशास्त्र.

२. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥१॥६७॥
समीचीन धर्मशास्त्र.

३. दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप-विनिवृत्यै ॥२॥६८॥
समीचीन धर्मशास्त्र.

अतः इन बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंसा को रोकने के लिये दिग्व्रत का पालन करना अनिवार्य है।

उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत या भोगोपभोगपरिमाणव्रत—जिस वस्तु का उपयोग एक ही बार होता है, उसे उपभोग तथा जिसका उपभोग बार-बार होता है, उसे परिभोग कहते हैं और जब इस उपभोग-परिभोग पर नियंत्रण हो जाता है, यानी यह निश्चित कर दिया जाता है कि सिर्फ अमुक वस्तु ही काम में लायी जायेगी तब उसे उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत कहते हैं[1]। इस व्रत में अहिंसाव्रत की रक्षा अच्छी तरह होती है क्योंकि इससे व्यक्ति के मन में संतोष होता है, जो उसे अहिंसा की ओर ले जाता है। उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के निम्नलिखित लक्षण या विधियां हैं :

१. उद्द्रवणिका-विधि—भींगे शरीर को पोंछनेवाले वस्त्र अंगोछे आदि की संख्या को निश्चित करना। गाथापति आनन्द ने श्रावकधर्म को धारण करते हुए सिर्फ 'गन्धकषाय' नामक वस्त्र को छोड़कर अन्य सभी अंग पोंछने के काम में आनेवाले वस्त्रों का त्याग किया[2]।

२. दन्तधावनविधि—दाँत साफ करने या मंजन आदि की मर्यादा निश्चित करना, जैसे आनन्द ने किसी मधुयष्टि यानी मुलहठी के अतिरिक्त दूसरे दातूनों का त्याग किया[3]।

३. फलविधि—श्रावक के द्वारा यह निर्धारित करना कि वह

---

१. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशन-वसनप्रभृतिः पांचेन्द्रियोविषयः ॥१७॥८३॥
—समीचीन धर्मशास्त्र।

२. तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खाएमाणे उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए गंध-कासाइए, अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ॥ २२ ॥
—उपासकदशांग सूत्र, प्र० अ०

३. नन्नत्थ एगेणं अल्ललट्ठी महुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि ॥२३॥
—उपासकदशांग सूत्र, प्र० अ०

कोई फल विशेष खायेगा, जैसे आनन्द ने सिर्फ क्षीरामलक अर्थात् दूधिया आंवला खाने का वचन ग्रहण किया था[1]।

४. अभ्यंगनविधि—मालिश के काम में आनेवाले तेलों को परिमाणित करना। जैसे आनन्द ने कहा था कि, मैं सिर्फ शतपाक तथा सहस्रपाक नामक तेल का सेवन करूंगा[2]।

५. उद्वर्तनविधि—उबटनों की मर्यादा निश्चित करना, जैसे आनन्द ने केवल गेहूं के आटे आदि से बने हुए उबटन को काम में लाने की प्रतिज्ञा की[3]।

६. स्नानविधि—स्नान आदि के लिये पानी की मात्रा निश्चित करना, जैसे आनन्द ने कहा था कि मैं केवल आठ औष्ट्रिक (ऊंट के आकार का) घड़ों का उपयोग करूंगा।[4]

७. वस्त्रविधि—वस्त्रों को परिमाणित करना, जैसे आनन्द ने कपास के बने हुए सिर्फ दो कपड़ों के अलावा अन्य सभी वस्त्रों का त्याग किया था[5]।

८. विलेपनविधि—शरीर में लेप करने की वस्तुओं को मर्यादित करना, जैसे आनन्द ने सिर्फ अगुरु, कुंकुम, चन्दन आदि को स्वीकार करके अन्य सभी प्रकार के लेपों का परित्याग किया[6]।

९. पुष्पविधि—पुष्पों के प्रयोग पर नियंत्रण लाना, जैसे आनन्द ने केवल श्वेतकमल तथा मालती के फूलों की माला को काम में लाने का वचन लिया।[7]

---

१. उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन, सूत्र २४.

२. ,, ,, २५.

३. ,, ,, २६.

४. ,, ,, २७.

५. ,, ,, २८.

६. नन्नत्थ अगरुकुंकुमचंदणमादिएहिं, अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि ॥ २९ ॥ —उपा० प्र० अ०

७. नन्नत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं, मालइ कुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि ॥ —उपा० प्र० अ०, सूत्र ३०.

१०. आभरणविधि — आभरण का परित्याग करना जैसे आनन्द ने कहा कि मैं स्वर्ण-कुण्डल एवं अपने नाम की मुद्रा के अलावा दूसरे सभी आभूषणों का प्रत्याख्यान करता हूँ[1]।

११. धूपविधि — धूप-दीप आदि को परिमाणित करना। जैसे आनन्द ने उपभोग-परिभोग का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि मैं अगुरु, लोबान, धूप इत्यादि के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का त्याग करता हूँ, जो धूप की जगह काम करती हैं[2]।

१२. भोजनविधि — पेय वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित करना। जैसे आनन्द गाथापति ने तत्कालीन मूंग या चावल से तैयार एक विशेष प्रकार के पेय के अलावा अन्य सभी पेय वस्तुओं का त्याग किया[3]।

१३. भक्ष्यविधि —पक्वानों को परिमाणित करना। जैसे आनन्द ने केवल घेवर तथा खाजे को ग्रहण करने और अन्य प्रकार के पक्वानों को त्यागने का वचन लिया[4]।

१४. ओदनविधि—ओदन यानी चावल या भात खाने पर नियंत्रण। जैसे आनन्द ने कहा कि मैं केवल कलम जाति के चावल को ही ग्रहण करने तथा दूसरे प्रकार के विभिन्न चावल त्यागने की प्रतिज्ञा करता हूँ[5]।

---

१. नन्नत्थ मट्ठकण्णोज्जएहिं नाम मुद्दाए य, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि ॥ — उपा० प्र० अ०, पृ० ३७.

२. नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धुवणविहिं पच्चक्खामि। —उपा० प्र० अ०, पृष्ठ ३८.

३. नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि ॥ —उपा० प्र० अ०, पृ० ३८.

४. नन्नत्थ एगेहिं घयपुण्णेहिं खयखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि। —उपा०, प्र० अ०, पृष्ठ ३९.

५. नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहिं पच्चक्खामि। —उपा०, अध्ययन १, पृष्ठ ३९.

१५. सूपविधि—दालों के परिमाण पर नियंत्रण करना। जैसे आनन्द ने मटर, मूंग तथा उड़द की दाल के अतिरिक्त अन्य सभी की दालों का प्रत्याख्यान किया[१]।

१६. घृतविधि—घृत का त्याग। जैसे आनन्द अन्य प्रकार के घृतों का त्याग करके केवल शरत्कालीन दानेदार गोघृतमंड लेने को तैयार हुआ[२]।

१७. शाकविधि—शाक ग्रहण करने पर नियंत्रण। जैसे आनन्द ने कहा कि मैं सिर्फ बथुआ, चूच्चु, चोया, सौवस्तिक और मण्डुकिक के अतिरिक्त अन्य सभी शाकों का प्रत्याख्यान करता हूँ[३]।

१८. माधुकरविधि—मेवा-मिष्ठान्न को परिमाणित करना। जैसे आनन्द ने अन्य सभी प्रकार के मेवा-मिष्ठान्नों को त्यागकर सिर्फ पालंगा माधुर यानी शल्लकी जाति की वनस्पति के गोंद से तैयार एक पेयविशेष को ग्रहण करने का वचन लिया[४]।

१९. जेमनविधि — व्यंजन का प्रत्याख्यान। जैसे आनन्द ने केवल सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सभी तरह के व्यंजनों का परित्याग कर दिया[५]।

२०. पानीयविधि—पीने के पानी का परिमाण नियंत्रित करना।

---

१. नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि। —उपा०, प्र० अ०, पृष्ठ ४०.

२. नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि॥ —उपा०, प्र० अ०, पृ० ४१.

३. नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चूच्चुसाएणं वा, तुंबसाएण वा सुत्थियसाएण वा, मुण्डुक्कियसाएणवा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि। —उपा०, प्र० अ०, पृष्ठ ४१.

४. नन्नत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि। —उपा०, प्र० अ०, पृष्ठ ४२.

५. नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि। —उपा० प्र० अ०, पृष्ठ ४२.

जैसे आनन्द ने केवल वर्षा का जल ग्रहण करने और अन्य सभी प्रकार के जलों को त्यागने का वचन लिया[1]।

२१ ताम्बूलविधि — मुखवास का परिमाण मर्यादित करना। जैसे आनन्द ने कहा कि मैं पाँच सुगन्धित वस्तुओं (कंकोल, कालीमिर्च, एला, लवंग, जातिफल, कर्पूर) से युक्त ताम्बूल के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं को, जो मुख को सुवासित करती हैं, त्यागता हूँ[2]।

इतना ही नहीं, अन्य आचार्यों ने और भी पाँच प्रत्याख्यान बताये हैं — वाहन, उपानत् यानी जूता, शय्यासन, सचित्त वस्तु, खाने के अन्य सामान आदि को मर्यादित करना। अतः सब मिलकर छब्बीस प्रकार के प्रत्याख्यान होते हैं[3]। इन सबके पीछे यही उद्देश्य है कि जीवन संयमित हो तथा किसी भी प्राणी की हिंसा न हो। क्योंकि खाने-पीने, वस्त्रादि धारण करने तथा वाहन आदि के प्रयोग में षट्कायों में से किसी न किसी प्रकार के जीवों का घात होता ही है। जितनी ही उपभोग-परिभोग में वृद्धि होगी, उतने ही अधिक प्राणियों की हिंसा होगी। अतएव हिंसा को रोकने तथा अहिंसा को सहारा देने के ध्येय से ही उपभोग-परिभोग व्रत का पालन किया जाता है- ऐसा कहा जाये तो इसमें शंका की कोई भी संभावना नहीं दीखती।

इस व्रत का निरूपण या प्रतिष्ठापन दो प्रकार से होता है — १. भोजन तथा २. कर्म।

भोजन से सम्बन्ध रखनेवाले इस व्रत के पांच अतिचार हैं—

१. सचित्ताहार—अर्थात् उन वस्तुओं को ग्रहण करना, जिनमें जीव हो।

---

१. नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि।
—उपा० सू०, प्र० अ०, पृष्ठ ४२.

२. नन्नत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्चक्खामि।
—उपा० सू०, प्र० अ०, पृष्ठ ४४.

३. जैन आचार, डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ १०७.

२. सचित्तप्रतिबद्धाहार—उन पदार्थों को खाना, जिनके साथ जीव सटे हुए हों।

३. अपक्वौषधिभक्षणता—कच्ची वनस्पति खाना, जैसे शाक, फल आदि।

४. दुष्पक्वौषधिभक्षणता—वैसी वनस्पति ग्रहण करना, जो पूर्णतः पकी न हो।

५. तुच्छौषधिभक्षणता—अर्थात् कच्ची शृंगफली आदि ग्रहण करना।[1]

कर्म-सम्बन्धी इस व्रत के जितने अतिचार हैं, उन्हें कर्मादान कहते हैं। कर्मादान उन कार्यों या व्यापारों को कहते हैं, जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है। इन कार्यों से अत्यधिक हिंसा होती है, इसलिये श्रावकों के लिए ये त्याज्य हैं। इनकी संख्या पन्द्रह है :[2]

१. इंगालकम्मे (अंगारकर्म)—कोयले बनाना यानी खान से कोयला निकालना और तैयार करना, ईंट पकाना, भट्टा चलाना आदि। जिसमें आग तथा कोयला अधिक मात्रा में काम में आए।

२. वणकम्मे (वनकर्म)—जंगल-संबंधी व्यापार अर्थात् लकड़ी काटकर बेचना, गांव या शहर बसाने के उद्देश्य से वनों को काट-देना या उनमें आग लगा देना।

---

१. तयाणंतरं च णं उपभोग-परिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—भोयणओ, कम्मओ य, तत्थ णं भोयणाओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहि भक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया।

—उपा० सू०, प्र० अ०, पृष्ठ ६५.

२. कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा-इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे फोडी-कम्मे, दंत-वाणिज्जे, लक्ख-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, विस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, जंत-पीलण-कम्मे, निल्लंछण-कम्मे दवग्गि-दावणया, सरदह-तलायसोसणया, असई-जण-पोसणया।

—उपा० सू०, प्र० अ०, पृष्ठ ६६.

३. साडी-कम्मे (शकटकर्म) —शकट अर्थात् बैलगाड़ी, रथ, मोटर, तांगा आदि बनाना और बेचना।
४. भाडीकम्मे (भाटीकर्म)— बैल, अश्व आदि पशुओं को भाड़े पर देना।
५. फोड़ी-कम्मे (स्फोटोकर्म) —खान खोदने और पत्थर तोड़ने-फोड़ने के व्यापार।
६. दतवाणिज्जे (दन्तवाणिज्य)—हाथी दांत या अन्य पशु के बहुमूल्य दांतों, हड्डियो एवं चमड़ों का व्यापार करना।
७. लक्खवाणिज्जे (लाक्षवाणिज्य)—लाख या लाह का व्यापार करना।
८. रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)— मदिरा आदि रस का व्यापार करना।
९. विसवाणिज्जे (विषवाणिज्य)— विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय करना जिनमें बन्दूक, तलवार, धनुष-बाण, बारूद आदि वस्तुएँ भी समझनी चाहिये।
१०. केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य)—बालों या बालवाले प्राणियों का व्यापार। मोर-पंख तथा ऊन का व्यापार इसके अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि इन्हें प्राप्त करने के लिये प्राणियों को मारना नहीं पड़ता।
११. जन्तपीलणकम्मे (यन्त्रपीडनकर्म)—कोल्हू आदि से सरसो, तिल आदि पेरना।
१२. निल्लंछणकम्मे (निर्लाञ्छनकर्म)— बैल, बकरे आदि नपुंसक बनाना।
१३. दवग्गिदावणया (दावाग्निदापनता)—जंगल में आग लगाना। जंगल में आग लगाने पर उसमें रहनेवाले बहुत से त्रस प्राणियों का विनाश हो जाता है।
१४. सरदहतलायसोसणया सरोह्रदतडागशोषणता)—झील, सरोवर, तालाब आदि जलाशयों को सुखा देना।
१५. असईजणपोसणया असतीजनपोषणता)—व्यभिचार के उद्देश्य से वेश्या आदि नियुक्त करना और शिकार करने के निमित्त कुत्ते, बिल्ली आदि हिंसक पशुओं को पालना।

इस तरह उपभोगपरिभोग व्रत के जितने भी अतिचार हैं, चाहे वे भोजन-सम्बन्धी हों या कर्म-सम्बन्धी, सभी हिंसा की ओर ही ले जाने-वाले हैं। अतः हिंसा से बचने के लिये इन्हें जानना चाहिये और इनका त्याग करना चाहिये।[1]

अनर्थदण्डव्रत—धर्म, अर्थ और काम को ध्यान में रखते हुए यानी इन तीनों की प्राप्ति के हेतु कोई भी व्यक्ति कुछ करता है। लेकिन जिस कार्य से इन तीनों में से किसी की भी प्राप्ति न हो उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। ऐसे कार्य से करनेवाले की स्वार्थपूर्ति नहीं होती किन्तु दूसरे की हानि हो जाती है। इसके चार लक्षण या प्रकार हैं—[2]

१. अपध्यानाचरित—दुश्चिन्ता की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है :

जब सन्तान, स्वास्थ्य आदि इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती तो व्यक्ति के मन में तरह-तरह की मानसिक चिन्ताएं पैदा होती हैं, जिन्हें आर्तध्यान के अन्तर्गत लिया जाता है।

कभी-कभी शत्रुतावश या क्रोधवश मनःस्थिति चंचल हो जाती है, जिसे रौद्रध्यान कहते हैं। ये दोनों ही, खासतौर से रौद्रध्यान, मन को हिंसा की ओर प्रेरित करते हैं।

२. प्रमादाचरित—आलस्यपूर्ण जीवन, जिस जीवन में असावधानी हो, शिथिलता हो। बिना काम के बैठे हुए लोगों के द्वारा दूसरों की शिकायत का होना, शृंगारयुक्त वार्तालाप करना।

३ हिंस्रप्रदान—किसी को हिंसक साधन देकर हिंसापूर्ण कार्यों में उसका सहायक बनना।

४. पापकर्मोपदेश—उस प्रकार का उपदेश देना जिससे सुननेवाला विभिन्न प्रकार के पापों में प्रवृत्त हो।

---

१. उपासकदशांग सूत्र, प्र० अ०, पृष्ठ ६९-७०.
समीचीन धर्मशास्त्र, अ० ४, कारिका ८३-९०.
योगशास्त्र, श्लोक ८८-११३.
वसुनन्दिकृत श्रावकाचार, श्लोक २१६, पृष्ठ ८८.

२. तं जहा-अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पाव-कम्मोवएसे।
—उपा० सू०, प्र० अ०, पृष्ठ ४४.

समीचीनधर्मशास्त्र में अनर्थदण्ड के पांच भेद किये गये हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति, प्रमादचर्या।[1] इन पांच में से चार तो वे ही हैं जिनका वर्णन उपासकदशांगसूत्र में मिलता है लेकिन दुःश्रुति अधिक है। दुःश्रुति से मतलब है उन शास्त्रों से जो आरम्भ, परिग्रह, साहस जो शक्ति तथा नीति पर ध्यान दिये बिना किया जाता है, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और मदन को प्रतिपादित करते हों। उन्हें पढ़ना या सुनना।[2]

इस प्रकार अपने अथवा अपने कुटुम्ब के जीवन-निर्वाह के निमित्त होनेवाले अनिवार्य सावद्य अर्थात् हिंसापूर्ण व्यापार-व्यवस्था के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्डविरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा एवं अपरिग्रह का पोषण होता है। अनर्थदण्डविरमण व्रतधारी श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है, क्योंकि इस प्रकार के संग्रह से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है।[3]

शिक्षाव्रत :

अणुव्रत और गुणव्रत से शिक्षाव्रत भिन्न है, क्योंकि इसे बार-बार ग्रहण करके इसका अभ्यास किया जाता है। जिस प्रकार विद्यार्थी अपने पाठ का अभ्यास करता है उसी प्रकार श्रावक इस व्रत का अभ्यास करता है और इसीलिये इसे शिक्षाव्रत की संज्ञा दी गई है। इसके चार भेद हैं :[4]

---

१. पापोपदेश-हिंसादानाऽपध्यान-दुःश्रुतीः पंच ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ ९ ॥ ७५ ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र.

२. आरम्भ-सङ्ग-साहस-मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ १२ ॥ ७९ ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र.

३. जैन आचार, डा० मोहनलाल मेहता, पृष्ठ १११.

४. देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ १ ॥ ९२ ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र.

सामायिकव्रत—सामायिक पद, दो शब्दों के संयोग से बने हुए 'समाय' शब्द पर आधारित है। ये दो शब्द हैं—'सम' और 'आय'। 'सम' का अर्थ होता है 'समता', 'बराबरी' तथा 'आय' से समझा जाता है आमदनी या लाभ। इस प्रकार 'समाय' का तात्पर्य हुआ 'समभाव' या समलाभ की प्राप्ति या यों कहा जाय कि समता की प्राप्ति। अतः समभाव लानेवाली क्रिया को सामायिक कहा जा सकता है। कुछ और स्पष्ट ढंग से यह कहा जा सकता है कि त्रस और स्थावर प्राणियों के प्रति समदृष्टि या समभाव रखना ही सामायिक है। समन्तभद्र के अनुसार मुक्ति पर्यन्त हिंसादि पांच पापों का पूर्णरूपेण त्याग करना हो 'सामयिकव्रत' है।[1]

देशावकाशिकव्रत— दिशापरिमाणव्रत में यह निश्चित किया जाता है कि श्रावक अपने जीवन में आवागमन कहां तक करेगा, लेकिन उसमें भी कुछ घंटे या कुछ दिनों के लिए यदि वह विशेष मर्यादा कायम कर देता है, उस मर्यादा को ही देशावकाशिक व्रत कहते हैं। दिशा-परिमाण व्रत करने से श्रावक हिंसा करने से बचता है, क्योंकि कम दूरी में चलने से कम कायों या कम जीवों से ही उसका सम्पर्क हो पाता है, अत: कम जीवों की हिंसा होती है और यदि सामान्य मर्यादित क्षेत्र में होनेवाले आवागमन को वह विशेष मर्यादित कर देता है, इसका मतलब है कि वह और कम हिंसा करेगा।

पौषधोपवासव्रत—शान्तिपूर्ण ढंग से विशेष नियमपूर्वक उपवास करना तथा सावद्य क्रियाओं का त्याग करना पौषधोपवासव्रत कहा जाता है। समीचीनधर्मशास्त्र में कहा गया है कि चतुर्दशी और अष्टमी को अन्न, पान (पेय), खाद्य तथा लेह्यरूप से चार प्रकार के आहारों का शुभ संकल्पों के साथ त्याग करना ही पौषधोपवास व्रत है।[2]

---

1. आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
   सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥ ७ ॥ १७ ॥
   —समीचीन धर्मशास्त्र

2. पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
   चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ॥ १९ ॥ १०६ ॥
   —समीचीन धर्मशास्त्र

उपवास करने से मतलब है अन्न, पेयवस्तु, खाद्य आदि में रहनेवाले जीवों की हिंसा न हो, साथ ही सावद्यकर्मों से वंचित रहना भी हिंसा कम करने या न करने का ही विधान करता है।

यथासंविभाग या अतिथिसंविभागव्रत—अतिथि यानी जिनके आने की कोई तिथि न हो,ऐसे व्यक्तियों के लिये अपने यथासिद्ध भोज्य पदार्थ का समुचित विभाग करना यथासंविभाग अथवा अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है। इस व्रत के पांच अतिचार हैं :[1]

१ सचित्तनिक्षेप—अतिथि को देने के भय से खाद्यसामग्री को सचित्तवस्तु पर रखना।

२. सचित्तपिधान—पके हुए भोजन को सचित्तवस्तु से ढंक देना।

३. कालातिक्रम—अतिथि भोजन न ले सके, इस उद्देश्य से भोजन उचित समय पर न बनाना।

४ परव्यपदेश—भोज्य वस्तु को अपनी न बताकर दूसरे की बताना, ताकि अतिथि भोजन न ले सके।

५. मात्सर्य—सहज भाव से वस्तु न देकर इसलिए देना कि किसी और ने दी है यानी ईर्ष्यावश देना।

ईर्ष्या भी हिंसा का कारण है। पहले के दो अतिचारों में, जिनमें भोज्य वस्तु का सम्बन्ध सचित्त वस्तु से कर दिया जाता है, हिंसा होती है या होने की संभावना रहती है। अतः हिंसा न हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए इन अतिचारों का त्याग करना चाहिये।

श्रमणाचार अथवा श्रमण-धर्म :

जैनाचार में दो शब्द—देशविरत तथा सर्वविरत प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं। देशविरत हम उन्हें कहते हैं जो हिंसा आदि का प्रत्याख्यान पूर्णरूपेण नहीं करते हैं यानी श्रावक और सर्वविरत वे कहे जाते हैं जो हिंसादि दोषों को सब तरह से त्याग देते हैं यानी श्रमण। श्रमण धर्म के अन्तर्गत पांच महाव्रत आते हैं, जिनका पालन मुनिगण

---

१. सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया।
—उपासकदशांग सूत्र, प्र० अ०, पृष्ठ ८१.

तीन करण (करना, करवाना तथा अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन एवं काय) से करते हैं। हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग, चोरी का त्याग, मैथुन का त्याग और परिग्रह का त्याग— ये पाँच महाव्रत हैं। इनके विषय में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यहाँ हम देखेंगे कि इन व्रतों को परिपुष्ट करनेवाली कितनी भावनाएँ हैं और किस प्रकार ये उन्हें दृढ़ बनाती हैं।

प्राणातिपात-विरमण की पांच भावनाएं—

प्रथम भावना – इसका सम्बन्ध ईर्या समिति से है। निर्ग्रन्थ साधु को यत्नपूर्वक चलना चाहिये अन्यथा वह भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा करता है, जिसकी वजह से कर्म का आगमन होता है और बन्ध होता है। अतः यह भावना इस चीज पर जोर देती है कि मुनि या श्रमण को हमेशा ही हिंसा से बचना चाहिये।[1]

द्वितीय भावना—मन को पापों से हटाना। पापजनक, सावद्य क्रिया युक्त, आश्रव लानेवाला, छेदन-भेदन करनेवाला, कलह करनेवाला, द्वेषयुक्त, परितापजनक, प्राणों का अतिपात और जीवों का घात-उपघात करनेवाला विचार मन से दूर कर देना चाहिये, क्योंकि किसी न किसी रूप में उससे हिंसा होती ही है।[2]

---

१. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा इरियासमिए से निग्गंथे नो अणइरियासमिएत्ति, केवली बूया "इरियासमिए से निग्गथे नो अणइरियासमिइत्ति पढमा भावणा ॥ १ ॥

—आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पञ्चदश अध्ययन, पृ० १४२०;

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवैकालिक सूत्र, ४, ८.

२. ...मणं परियाणइ से निग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अहिगरणिए पाउसिए परियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्जा गमणाए, मणं परियाणइ से निग्गंथे, जे य मणे अपावएत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

—आचारांग, द्वि० श्रु०, अध्याय १५, पृ० १४२१.

तृतीय भावना—वचन की अपापकता—वाणी की विशुद्धता। इसमें यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ पापमय, सावद्य यानी जीवों के उपघातक तथा विनाशक वचनों का प्रयोग न करे, क्योंकि ऐसे सदोष भाषण से जीवहिंसा होती है।[1]

चतुर्थ भावना—भाण्डोपकरण विषयक समिति। साधु भाण्डोपकरण को ग्रहण करे या कहीं रखे तो उसे पूर्ण यत्नपूर्वक ग्रहण करना या रखना चाहिये, क्योंकि ऐसा न करने से जीवों की हिंसा होती है।[2]

पंचम भावना—भक्त-पान विषयक आलोकिकता। विवेकपूर्वक देखकर भोजन या जल ग्रहण करना ही साधु के लिये उचित है वरना खाते या पीते समय वह अनेक प्राणियों की हिंसा करता है। अतः सदा देखकर आहार-पान ग्रहण करना चाहिये।[3]

मृषावादविरमण की भावनाएँ- सत्यव्रत का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी रक्षा के लिये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं –

१. वाणीविवेक, २. क्रोधत्याग, ३ लोभ-त्याग, ४. भय-त्याग तथा ५. हास्य-त्याग। क्रोध, लोभ आदि हिंसा के कारण हैं, अतः इनका सर्वथा त्याग करना ही साधु का धर्म समझा जाता है।[4]

अदत्तादानविरमण की पाँच भावनाएँ हैं: १. सोच-विचारकर वस्तु की याचना करना, २. आचार्य की अनुमति से भोजन करना, ३. परिमित वस्तु स्वीकार करना, ४. बार-बार वस्तुओं को मर्यादित करना तथा ५ सार्धमिक से परिमित पदार्थों को मांगना। ऐसा करने से हिंसा को त्यागने एवं अहिंसा को अपनाने में सहायता मिलती है। यदि कोई बिना पूछे ही किसी की वस्तु ले लेता है तो उस

१. आचारांग सूत्र, द्वि० श्रु०, पंचदश अध्ययन, सूत्र ३, पृ० १४११.

२. वही, सूत्र ४, पृ० १४२३.

३. आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोइयपाणभोयणभोई, केवली बूया...पंचमा भावना ॥ ५ ॥

—वही, पृ० १४२६.

४. वही, पृष्ठ १४३०-१४३५.

वस्तु के अभाव में उसे कष्ट होता है या मर्यादा से अधिक भी दे देता है तो यह कष्टदायक ही होता है। अतः किसी भी प्राणी को दुःख न हो, इसका ध्यान करते हुए श्रमण को ऊपर कथित भावनाओं का पालन करना चाहिये।[1]

ब्रह्मचर्य की भावनाएँ - मैथुन हिंसा का कारण होता है, इससे अनेक सूक्ष्म कीटाणुओं का घात होता है। अतः निर्ग्रन्थमुनि को इसका त्याग सब तरह से कर देना चाहिये। इसकी पाँच भावनाएँ हैं: १ स्त्री-कथा न करना, २. स्त्री के अंगों को न देखना, ३. पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा को याद न करना, ४. मात्रा का अतिक्रमण करके भोजन न करना तथा ५. उस स्थान पर न रहना जो स्त्री के सम्पर्क में हो। चूंकि इन सभी कार्यों से वासना की वृद्धि होती है, जो हिंसा को बढ़ाती है, अतः श्रमण या श्रमणी सदा इन भावनाओं का सेवन करे यही श्रेयस्कर है।[2]

अपरिग्रहव्रत की भावनाएँ—परिग्रह से द्वेष, ईर्ष्या आदि हिंसा-जनक कर्मों का जन्म होता है, अतः यह भी मुनियों के लिये सदा त्याज्य है। इसकी पाँच भावनाएं हैं:

१. श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी विषय के प्रति राग-द्वेष का न होना, २. चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी विषय यानी रूप के प्रति अनासक्त होना, ३. घ्राणेन्द्रिय के विषय के प्रति अनासक्ति, ४. रसनेन्द्रिय के विषय के प्रति अनासक्ति तथा ५. स्पर्शनेन्द्रिय के विषय के प्रति अनासक्ति।[3]

रात्रिभोजन-विरमणव्रत :

दशवैकालिकसूत्र में क्षुल्लकाचार को वर्णित करते हुए साधु के लिये पांच प्रकार के भोजन का निषेध किया गया है :

१. औद्देशिक - साधु या मुनि को देने के उद्देश्य से बना हुआ भोजन, २ क्रीत - साधु के लिये खरीदा गया भोजन, ३. नित्य-

१. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पञ्चदश अध्ययन, पृ० १४३५-४१.
२. " " " " पृ० १४४१-५१.
३. " " " पृ० १४५१-५५.

पिंड—सदा एक ही घर से मिलनेवाला भोजन, ४. अभ्याहृत—उपाश्रय आदि में प्राप्त भोजन तथा ५. रात्रिभोजन यानी रात में भोजन करना।[1] इतना ही नहीं, रात्रिभोजन-विरमण व्रत को पाँच महाव्रतों के बाद आनेवाला छठा व्रत भी कहा है।[2] रात्रिभोजन-विरमण को व्रत की श्रेणी में इसलिये रखा गया है कि इससे अहिंसा व्रत का पोषण होता है। रात्रि में भोजन करने से अनेक सूक्ष्म प्राणियों को हिंसा होती है, क्योंकि मनुष्य उन छोटे-छोटे प्राणियों को देख नहीं पाता। इसके अलावा छोटे-छोटे जीव कुछ ऐसे होते हैं जो रोशनी देखकर स्वतः आ जाते और चिराग आदि की लौ पर जलकर मर जाते हैं। अर्थात् रात्रि में भोजन करना हिंसा को बढ़ावा देना है। दशवैकालिक सूत्र में ही आगे कहा है कि साधु सूर्यास्त के बाद तथा सूर्योदय के पहले अशनादि चारों प्रकार के आहारों को मन से भी त्याग दे, यानी इनके उपभोग की कल्पना मन में भी न लाये।[3]

समिति तथा गुप्ति :

समितियां पांच तथा गुप्तियां तीन होती हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और उच्चार समितियाँ हैं तथा मन, वचन और काय गुप्तियाँ। ये पांच समितियां साधु के चारित्र की प्रवृत्ति के लिए तथा तीन गुप्तियां अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्ति पाने के लिये होती है। ये बताती हैं कि साधु को गमनागमन मे आलम्बन, काल, मार्ग और यतना की शुद्धि का सदा ध्यान रखना चाहिये। ईर्या समिति में ज्ञान, दर्शन और चारित्र आलम्बन स्वरूप होते है, काल दिवस है यानी रात में उसे कही

१. उद्देसियं कीयगडं, नियागं अभिहडाणिय।
राइभत्ते, सिणाणेय गंध मल्ले य वियणे ॥२॥
—दशवैकालिक सूत्र, क्षुल्लकाचार नामक तृतीय अध्ययन.

२. अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं,
सव्वं भंते! राईभोयण पच्चक्खामि ॥१६॥
—दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन.

३. अत्थगयंमि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥२८॥
—दशवैकालिक सूत्र, अष्टम अध्ययन.

गमन नहीं करना चाहिये और कुमार्ग को त्यागना चाहिए तथा चार प्रकार की यतना—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को हमेशा ही ध्यान में रखना चाहिए। यानी वह आंखों से देखकर अपने से आगे की चार हाथ भूमि को देखता हुआ चले, क्योंकि ऐसा न करने से राह में पड़े हुए जीवों की हिंसा होगी। और जब तक वह चले, विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्यायों को वर्जित करता हुआ चले। बोलने के समय यह ध्यान रखे कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय आदि से युक्त वचन न बोले जायें। आहार, उपधि, शय्या इन तीनों की शुद्धि पर साधु की सदा दृष्टि रहनी चाहिये यानी गवेषणा, ग्रहणेषणा तथा परिभोगेषणा यत्नपूर्वक तथा शुद्धतापूर्वक करनी चाहिये। रजोहरण, ओघउपधि, पाट, पाटला आदि को ग्रहण करते हुए और रखते हुए भी शुद्धता का ख्याल करना चाहिए। आंखो से देखकर इन्हें लेना या इनका प्रयोग करना चाहिये। साधु को अपने मलमूत्र को भी उसकी विधि के अनुसार त्यागना या परठना चाहिये। उस स्थान को मलमूत्र त्यागने या परठने के काम लाना चाहिये जहां न कोई आता हो और न कोई उसे देखता हो, जो अचित्त हो यानी जहाँ पर हिंसा होने की संभावना नहीं हो तथा जहां चूहे आदि के बिल न हों। इसी तरह गुप्तियों का पालन करना श्रमण के लिये आवश्यक होता है। मन, वचन और काय इन तीनों ही गुप्तियों के सत्या, असत्या, मृषा तथा असत्यामृषा ये चार-चार रूप होते हैं। मनगुप्ति के अनुसार साधु को चाहिये कि वह अपने मन को संरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ की ओर जाने से रोके। वचनगुप्ति यह सिखाती है कि साधु को संरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ में प्रवृत्त होनेवाले शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिये, तथा कायगुप्ति बताती है कि साधु अपने शरीर को संरम्भ-समारम्भ में जाने से रोके। इस प्रकार समितियां तथा गुप्तियां साधु के जीवन को संयमित बनाने में उसे सहायता प्रदान करती हैं।[1]

---

१. क—आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम चूला, तृतीय अध्याय, सूत्र ११४, पृ० १०६८

ख—आचारांगसूत्र, द्वि०श्रु०, चूला २, अ० १, सूत्र १६५, पृष्ठ १२६१.

ग—उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २४.

षडावश्यक :

जो क्रियाएं प्रतिदिन की जाती हैं तथा आवश्यक समझकर की जाती हैं उन्हें आवश्यक कहा जाता है। ये छः प्रकार की होती हैं :

१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५ कायोत्सर्ग तथा ६. प्रत्याख्यान।[1]

सभी जीवों को सम या समान समझना सामायिक कहलाता है। जो सभी प्राणियों को बराबर समझेगा वह किसी की भी हिंसा जान-बूझकर नहीं करेगा। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने को चतुर्विंशति-स्तव कहते हैं। गुरु की वन्दना करना वन्दन कहलाता है। गुरु की वन्दना इसलिए की जाती है कि वह सद्ज्ञान देता है। की गई गलतियों को सुधारना प्रतिक्रमण कहा जाता है। शरीर-सम्बन्धी ममता का त्याग कायोत्सर्ग कहा जाता है। कायोत्सर्ग की स्थिति मे हिलना-डोलना, बोलना-चलना, उठना आदि बन्द रहता है जिससे जीवों की हिंसा रुकती है। प्रत्याख्यान का मतलब है त्याग। यद्यपि मुनिगण हिंसादि दोषों को प्रायः त्याग ही देते हैं, वे आवश्यक वस्तुओं में से भी कुछ को कुछ काल या सर्वदा के लिये त्याग देते हैं, जिससे हिंसा होने की संभावना और कम हो जाती है।

●

---

१. आवश्यकसूत्र पूर्ण तथा उत्तराध्ययन, अध्ययन २९.

पंचम अध्याय

गांधीवादी अहिंसा तथा जैनधर्म-प्रतिपादित अहिंसा

गांधीवाद आधुनिक युग के प्रमुख वादों में से एक है। मात्र इसके नामोच्चारण से ही अधिकतर लोगों के सामने इसके जन्मदाता युगपुरुष महात्मा गांधी तथा इसके व्यावहारिक रूप की एक झलक-सी आ जाती है। चूंकि इसका व्यावहारिक रूप इसके सैद्धान्तिक रूपानुकूल ही है, यह आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि इसका विशेष परिचय भी दिया जाये। फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि गांधीवाद केवल धार्मिक या दार्शनिक या राजनैतिक या समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही आधारित नहीं है बल्कि यह सब का एक मिलाजुला रूप है। इसमें भारतीय संस्कृति के सभी सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है, इस समन्वयकरण में अहिंसा ही एक ऐसी शक्ति है जो अन्तःस्रोत का काम करती है। यद्यपि अहिंसा की धारा अति प्राचीनकाल से भारतवर्ष में प्रवाहित हो रही है, महात्मा गांधी को अहिंसा की ओर आकर्षित करने का श्रेय महात्मा काउन्ट लियो टाल्सटाय को है जिनके वचनों ने उनके मन-मन्दिर में अहिंसा रूपी दीपक को जलाया। गांधीजी ने स्वयं कहा है—

'उनकी पुस्तकों में जिस किताब का प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा उसका नाम है "किंगडम ऑफ हैवेन इज विदीन यू"। उसका अर्थ यह है कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है। विलायत जाने के समय तो मैं हिंसक था, हिंसा पर मेरी श्रद्धा

थी और अहिंसा पर अश्रद्धा। यह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी यह अश्रद्धा चली गई।''[1]

रायचन्द भाई (जैन) तथा रस्किन का भी गांधीजी के जीवन पर काफी प्रभाव था।[2] और इन सब प्रभावों के फलस्वरूप जब गांधीजी ने एक बार अहिंसा के स्वरूप को पहचान लिया तब उन्होंने इसे इस तरह अपनाया कि वे स्वयं अहिंसामय हो गये[3] अर्थात् जीवन के सभी क्षेत्रों में अहिंसा का ज्योतिर्मयी मूर्ति को स्थापना कर दी।

गांधीजी के जोवन का वर्णन यदि एक शब्द में किया जाय तो वह अहिंसा है। उनक जोवन का स्वप्न, उनका सारा कार्यक्रम अहिंसा का ही स्वरूप था। इसी के लिये वह जीवित रहे और इसी के लिये मरे। उनके लेखों तथा कथन का अधिक भाग इसी विषय पर था और जो नही था वह भी इसी ध्येय का पूरक था। उनकी अहिंसा केवल सिद्धान्त अथवा विचार की सीमा में नहीं था, न राजनातिक आवश्यकता की सामयिक पुकार थी। वह मच्छर, पिस्सू और कीटाणुओं की हिंसा करने को बाध्य थे तो इस लिये नही कि इनकी हिंसा हिंसा न थी। केवल इसलिये कि विज्ञान ने कोई ऐसी विधि नहीं बताई, न मानव जीवन इतना प्रशस्त हो सका जो इनको हिंसा किये बिना मानव-समाज की रक्षा कर सके। इनकी हिंसा को रोकने में वह असमर्थ थे और इसका उन्हें दुःख था। युद्ध मे वह सम्मिलित हुए तो भी इसलिये नहीं कि हिंसा द्वारा विजय प्राप्त करने मे उन्हें आनन्द था, केवल इसलिये कि

---

१. गांधी साहित्य—७, पृष्ठ २२५.

२. 'रायचन्द भाई ने अपने सजीव ससर्ग से, टाल्सटाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट'—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया।'

(महात्मा गांधी की) आत्मकथा, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, भाग २, पृष्ठ १००.

३. 'मैं अपने को अहिंसामय मानता हूँ'—गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ ५४.

यदि संभव हो सके तो हिंसा की शीघ्रातिशीघ्र समाप्ति की जा सके।[1]

महात्मा गांधी ने स्वयं भी कहा है--

मेरे लिए सत्य से परे कोई धर्म नहीं है और अहिंसा से बढ़कर कोई परम कर्त्तव्य नहीं है : 'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' और 'अहिंसा परमो धर्मः'। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मैंने जो कुछ किया है उसका वर्णन है और मैंने जो कुछ किया है, वही सत्य और अहिंसा की सबसे बड़ी टीका (व्याख्या) है।[2]

अहिंसा की परिभाषा :

अहिंसा को परिभाषित करते हुए महात्मा गांधी ने कहा है—

१. 'अहिंसा एक महाव्रत है। तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। देहधारी के लिए उसका सोलह आना पालन असंभव है। उसके पालन के लिए घोर तपश्चर्या की आवश्यकता है। तपश्चर्या का अर्थ यहाँ त्याग और ज्ञान करना चाहिए।'[3]

२. 'अहिंसा ही सत्येश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा-सा मार्ग दिखाई देता है।'[4]

३. 'अहिंसा के माने पूर्ण निर्दोषिता ही है। पूर्ण अहिंसा का अर्थ है प्राणीमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव।'[5]

४. 'अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।'[6]

---

१. गांधीजी, अहिंसा, द्वितीय भाग, खण्ड १०, आमुख.
२. ,, ,, ,, ,, और 'जैनी अहिंसा' के बीच वाले पृष्ठ पर देखें।
३. ,, प्रथम भाग, ,, पृष्ठ १२.
४. ,, ,, ,, ,, ७१.
५. ,, ,, ,, ,, ७८.
६. ,, ,, ,, ,, ८१.

५. 'अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है। सारी मनुष्य जाति इसी एक लक्ष्य की ओर स्वभावतः, परन्तु अनजाने में जा रही है।'[1]

६. 'अहिंसा प्रचण्ड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरु से भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। यह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है यह चेतन है। यह आत्मा का विशेष गुण है।'[2]

इन परिभाषाओं में अहिंसा को विभिन्न दृष्टियों से देखा गया है। कभी तो इसे महाव्रत बताया गया है और कभी प्रचंड शस्त्र; कभी इसे सत्य का प्राण तथा सत्य तक पहुँचने का सन्मार्ग बताया गया है तो कभी इसे अपने आप में पूर्ण कहा गया है। इन वचनों से अहिंसा के विभिन्न गुणों पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु तीसरी परिभाषा अहिंसा के सही रूप को व्यक्त करती है यानी प्राणीमात्र के प्रति दुर्भाव या कुभाव का अभाव ही अहिंसा है, कारण, जब तक किसी के प्रति मन में कुभाव नहीं आता, हिंसापूर्ण प्रवृत्ति जागती नहीं।

अहिंसा का स्वरूप :

गांधीजी ने भी माना है कि हिंसा केवल शरीर से ही नहीं बल्कि वचन और मन से भी होती है, जैसा कि 'अहिंसा' पुस्तक में लिखा है–

'उनकी दृष्टि में जगत् में सारे प्राणी एक हैं, जहाँ तक जीव का संबंध है उनमें से किसी को हानि पहुँचाना हिंसा है। गांधी जा यहीं नहीं रुकते, किसी के प्रति हानि पहुँचानेवाली बात सोचना हिंसा में ही सम्मिलित है।'[1]

मन, वचन तथा काय से हिंसा करने का मतलब होता है कि हिंसा के दो रूप हैं-भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा; और इसी आधार पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि अहिंसा के दो रूप हैं—भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा।

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ ८४.
२. ,, ,, ,, ,, ,, १०१.
१. गांधीजी, अहिंसा, द्वितीय भाग, खण्ड १०, आमुख.

हिंसा तथा अहिंसा के विभिन्न रूप :

गांधीजी के अनुसार अहम् या अहंत्व पर आधारित जितनी भी मानुषिक क्रियाएँ हैं, वे सभी हिंसा ही हैं जैसे—स्वार्थ, प्रभुता की भावना, जातिगत विद्वेष, असन्तुलित एवं असंयमित भोगवृत्ति, विशुद्ध भौतिकता की पूजा, अपने व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों का अंध साधन, धन और शक्ति के आधार पर अपनी कामनाओं की संतृप्ति करना, अपने अधिकार को कायम रखने के लिए बल का प्रयोग तथा अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण आदि। ठीक इसके विपरीत अहिंसा अहम् भावना के विनाश में निहित है। अहिंसा वह मनःस्थिति है जिसमें मनुष्य का उज्ज्वलांश उद्दीप्त हो, वह अहंकार, स्वार्थ, भौतिक भोगों की लोलुपता से ऊँचा उठकर अपने व्यक्तित्व का विसर्जन विराट के कल्याण में कर देने में अपना विकास, अपनी प्रगति और अपना निश्रेयस् देखे।[१] अर्थात् अहिंसा मात्र जीवदया ही नहीं है बल्कि स्वार्थ का त्याग, जनकल्याण के निमित्त किये गये कार्य, असंयमित भोगप्रवृत्ति का त्याग आदि अहिंसा के ही रूप हैं।

सर्वभूतहिताय अहिंसा :

अहिंसा मात्र मनुष्य जाति का ही हित करनेवाली हो यानी मनुष्यों के हित या लाभ के लिए अन्य प्राणियों का घात या किसी भी प्रकार की हानि को वह स्वीकार करे तो ऐसी अहिंसा गांधीजी के मतानुसार अहिंसा कहलाने का दावा नहीं कर सकती है। उन्होंने कहा है कि आदमी यदि अपने में वह शक्ति पैदा कर ले कि वह शेर-भालू आदि हिंसक पशुओं से भी प्रेम कर सके और बिना उनकी हत्या किये भी काम चला सके तो अति उत्तम है।[२] जो अहिंसा का पालन करता है वह प्राणी मात्र के प्रति सद्भावना रखता है। वह उन प्राणियों को भी गले लगाता है जो हिंसक हैं, विषैले हैं।[३] पेड़-पौधों को

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, आमुख.

२. ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ११.

३. ,, ,, ,, ,, ,, ५.

उखाड़ना भी बुरा है, क्योंकि घास-पात में भी जीव होते हैं और इन बातों को देखते हुए, जब एक व्यक्ति जीवनयापन में पहुँचनेवाली कठिनाइयों को गांधीजी के समक्ष रखता है तो वे कहते हैं -

> अहिंसा के पूर्ण पालन की अवस्था में अवश्य ही जीवन की स्थिति असंभव हो जाती है। अतएव हम सब मर जायँ तो परवाह नहीं, सत्य को कायम रहने देना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस सिद्धान्त को आखिरी मर्यादा तक पहुँचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोष है, एक जंजाल है। मोक्ष देहादि के परे ऐसी अदेह-सूक्ष्म अवस्था है जहाँ न खाना है, न पानी है और इसलिए जहाँ न दूध दुहने की आवश्यकता है और न घास-पात को तोड़ने की।[१]

इतना कहने और सोचने के बावजूद भी गांधीजी से सूक्ष्म कीटाणुओं मच्छर आदि की यदि हिंसा हो जाती थी तो वे यह नहीं मानते थे कि चूँकि छोटे कीटाणु हैं, इनकी हिंसा के लिए क्या सोचना-विचारना, बल्कि वे दुःखित होते थे, उनके घात के लिए तथा विज्ञान की असमर्थता के लिए कि आजतक विज्ञान ने कोई ऐसा उपाय नहीं निकाला, जिससे कि सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा करने से आदमी अपने को बचा पाए।[२]

हिंसा के बाह्य कारण :

इस संसार में जो भी देहधारी है वह किसी न किसी रूप में हिंसा करता ही है। यदि वह एक जगह खड़ा भी रहता है तो भी वह भोजन स्वरूप अन्न, फल, वनस्पति तो लेता ही है। इसके अलावा मच्छरों आदि को जान लेता है तथा समझता है कि ऐसा करने में कोई भी दोष नहीं है। इन हिंसाओं के प्रमुख तीन कारण हैं—[३]

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ २१.
२. ,, ,, द्वितीय भाग, ,, आमुख.
३. ,, ,, प्रथम भाग, ,, पृष्ठ १४-१५.

१. व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण—भोजन आदि ग्रहण करने में जो हिंसा होती है, उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ है, क्योंकि भोजन से अपने शरीर की रक्षा होती है।

२. परमार्थ के लिए हिंसा—गांवों में आए हिंसक प्राणियों, जैसे सिंह आदि की हिंसा परमार्थ के लिए होती है।

३. उसी प्राणी की सुखशान्ति के लिए हिंसा करना, जिसकी हिंसा की जाती है—यदि किसी की अंगुली में घाव हो गया हो और उसमें सड़न पैदा हो गया हो तो ऐसी हालत में डाक्टर के द्वारा उसकी अंगुलियों का काटना हिंसा नहीं हो सकती, क्योंकि डाक्टर अंगुलियों को इसलिए काटता है कि उस व्यक्ति का घाव आगे बढ़े नहीं और न उसका सारा शरीर घावमय हो जाये।

इन तीनों में से प्रथम दो में हिंसा का होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि हिंसा का ध्यान करते हुए कोई व्यक्ति भोजन छोड़ दे तथा हिंसक पशुओं को मारे बिना उन्हें स्वतन्त्र विचरण करने दे, तो ऐसी हालत में जीना तक मुश्किल हो जायेगा। अतः इन दोनों में हिंसा का कुछ अंश है। किन्तु तीसरी बिल्कुल अहिंसा है क्योंकि ऐसी हिंसा में हिंसक का कोई अपना स्वार्थ नहीं होता यहाँ हिंस्य जीव को सुख पहुंचाने की दृष्टि से हिंसा की जाती है।

मात्र जीव को मार देना ही हिंसा नहीं :

एक बार अम्बालाल नामक एक सेठ ने अहमदाबाद में साठ कुत्तों को मरवा दिया। उन कुत्तों में से एक पागल था और अन्य ५९ को उसने काट खाया था। इस घटना को गांधीजी ने अहिंसा घोषित किया। उनके विरोध में बहुत से लोगों ने तरह-तरह के पत्र भेजे तथा झगड़ने को तैयार हुए। लेकिन गांधीजी ने अपने विचार की पुष्टि के लिए दो कारण प्रस्तुत किए : कुत्ता, घोड़ा आदि वफादार जानवर होते हैं। लेकिन कुत्तों को उचित भोजन नहीं मिलता और वे इधर-उधर भटकते रहते हैं। अतः उनकी वफादारी हम अन्य ढंग से नहीं चुका सकते तो उन्हें मारकर ही हम उन्हें उस कष्ट से बचावें जो कि गलियों में भोजन के लिए भटकते हुए मार खाने में प्राप्त होता है। एक कुत्ते के

पागल हो जाने पर तथा उसके द्वारा अन्य कुत्तों को काट खाने से उन सब के भी पागल होने की संभावना रहती है, जिससे बहुत बड़ी हिंसा हो सकती है क्योंकि पागल कुत्ते मनुष्यों, पशुओं आदि को काटेंगे जिससे अनेक प्राणियों को भी कष्ट हो सकता है।[1] ऐसी हालत में कुत्तों का मारा जाना हिंसा नहीं हो सकता। अतएव मात्र जीवों का प्राणघात ही हिंसा नहीं कहला सकता।

अहिंसा की विशेषता :

अहिंसा एक मानसिक स्थिति है।[2] अहिंसक के लिए यह आवश्यक है कि वह अहिंसा की स्थिति को समझे अन्यथा वह अहिंसा को अपना नहीं सकता। सामान्यतौर से ऐसा समझा जाता है कि दैनिक जीवन के व्यवहार की वस्तुओं को त्याग देने से अहिंसा का पालन हो सकता है, किन्तु मात्र भोजन त्याग देना ही अहिंसा हो ऐसी बात नहीं। रोगी अपनी रुग्णावस्था में तथा दुष्काल पीड़ित व्यक्ति भोजन नहीं करते। लेकिन इन दोनों का भोजन त्याग करना अहिंसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसमें भोजन का त्याग एक मजबूरी है, मन में तो भोजन प्राप्त करने की लालसा वर्तमान ही है। मजबूरी या बेवशी का संबंध कायरता से है, लेकिन अहिंसा क्षत्रिय का गुण है। कायर व्यक्ति के द्वारा अहिंसा का पालन असंभव है। जिसमें शक्ति है, जो शूर है वही किसी पर दया कर सकता है, जो निरीह प्राणी है, कायर है, वह अपनी रक्षा के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाता है, वह दूसरों की रक्षा या दूसरों पर दया नहीं कर सकता।[3] 'अहिंसा है जाग्रत आत्मा का गुणविशेष।' यह अन्य गुणों का स्रोत है, मूल है। अतएव इसकी सफल साधना बिना विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता एवं ज्ञान के नहीं हो सकती।[4] अहिंसा अंध-प्रेम भी नहीं है। अंध-प्रेम के कारण माताएँ अपने बच्चों को इस प्रकार

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खंड १०, पृष्ठ ४२-४४, ५६-६१ आदि.
२. वही, पृ० १७.
३. वही, पृ० ६१.
४. वही, पृ० ८०.

पुकारती-पुकारती हैं कि वे सही राह पर नहीं आ पाते, क्योंकि वे चाहती हैं कि उनके बच्चों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। किन्तु इस प्रकार बच्चों को सही मार्ग पर न ले आकर, उन्हें कष्टों से बचाना अहिंसा नहीं बल्कि अंध-प्रेमवश अज्ञानता से उत्पन्न होनेवाली हिंसा है। इसके अलावा[1] –

१. अहिंसा सर्वश्रेष्ठ मानवधर्म है, इसमें पशुबल से अनंतगुणी अधिक शक्ति एवं महानता है।

२. फिर भी यह उन लोगों के लिए लाभदायिका नहीं होती, जिन्हें परमेश्वर में श्रद्धा नहीं है।

३. इससे व्यक्ति के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की रक्षा होती है।

४. यदि कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अहिंसा का पालन करना चाहे तो सर्वप्रथम उसे अपना आत्म-सम्मान आदि सर्वस्व त्यागने को तैयार रहना चाहिए।

५. अहिंसा की एक यह भी विशेषता है कि इसकी सहायता बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं।

६. अहिंसा जितना ही लाभ एक व्यक्ति को प्रदान कर सकती है उतना ही एक जन-समूह को अथवा एक राष्ट्र को। यदि कोई ऐसा समझता है कि यह केवल व्यक्ति के लिए ही लाभकर है तो ऐसा समझना उस व्यक्ति की भूल है, नासमझी है।

अहिंसा न रूढ़िवाद है, न उपयोगितावाद :

रूढ़िवाद को अपनानेवालों में से कोई व्यक्ति गोमांस खाता है और कोई नहीं खाता है। लेकिन यदि गोमांस न खानेवाला यह कहता है कि वह गोमांस खानेवाले से अच्छा है, क्योंकि वह मांस नहीं खाता, तो ऐसी बात सही नहीं समझी जा सकती। यदि गोमांस खानेवाले व्यक्ति के दिल में दया है, सहानुभूति है तो वही अहिंसक है, वही अच्छा व्यक्ति है बजाय उसके जो गोमांसादि तो नहीं खाता,

---

१. गांधीजी, अहिंसा, द्वितीय भाग, खंड १०, पृष्ठ १९८-१९९.

किन्तु दिल में द्वेष, दुर्भाव आदि संजोये रखता है। अतएव अहिंसावाद के आश्रय में गोमांस आदि का व्यवहार न करना अहिंसा की श्रेणी में नहीं आ सकता।[1]

पश्चिम में अहिंसा मनुष्य जाति तक ही समाप्त हो जाती है और उपयोगितावाद के नाम पर मनुष्य के फायदे के लिए अन्य जानवरों को चीरा-फाड़ा जाता है; युद्ध-संबंधी सामान एकत्रित किया जाताहै। किन्तु अहिंसावादी जीवित प्राणियों की चीर-फाड़ करने तथा युद्ध में सहायता देने के बजाय अपना प्राण ही दे देना अच्छा समझेगा क्योंकि अहिंसावादी सभी प्राणियों का हित चाहता है, सिर्फ मनुष्य का ही नहीं। जब अहिंसावादी सभी जीवों या अधिकांश का सुख चाहता है तो उसमें कुछ जीवों (जैसे मनुष्य जाति आदि) का भी सुख या लाभ सम्मिलित रहता ही है। यानी यहां पर अहिंसावाद और उपयोगितावाद की भेंट हो जाती है लेकिन फिर अपने समयानुसार दोनो अलग हो जाते हैं।[2]

अहिंसा और दया :

अहिंसा और दया के संबंध में गांधीजी के सामने कई एक प्रश्न उपस्थित किए गए और उन प्रश्नों के जो उत्तर उन्होंने दिये, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मत में अहिंसा और दया का क्या संबंध है। प्रश्नों में से तीन प्रधान हैं जो निम्नलिखित हैं[3] —

१. जब आप दया और अनुकम्पा के भाव से प्रेरित होते और काम करते हैं, तब दया के बदले कई जगह अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे गलतफहमी का पैदा होना संभव है, वह पैदा होती है। मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मानी हुई दया झूठी भी हो सकती है।

---

१. गांधीजी, अहिंसा, भाग १, खण्ड १०, पृष्ठ १७-१८.

२. वही, पृ० ८१-८४.

३. वही, पृ० ११६.

२. अहिंसा आत्मा से पैदा होनेवाला एक भाव है, जो सक्रिय नहीं होता। लेकिन दया और अनुकम्पा व्यवहारजन्य भाव हैं। वे सक्रिय हैं; अहिंसा सक्रिय नहीं है। दया का अहिंसा के बदले और अहिंसा का दया के बदले उपयोग होने पर अहिंसा के सच्चे अर्थ का उल्लंघन होता है। इस कारण दया और अहिंसा के बीच का भेद जान लेने योग्य है।

३. क्या किसी क्रूर और जंगली कही जानेवाली मनुष्यभक्षी जाति में मनुष्यजाति के प्रति प्रेम पैदा करके, दया उपजाकर, दूसरे प्राणी और मनुष्य के बीच का विवेक समझाकर उसका मनुष्य-भक्षण छुड़ाना और पशु के मांस से अपना निर्वाह करने की बात कहना, अथवा मांस खानेवाले लोगों को फल, फूल, वृक्ष आदि वनस्पति से जीवन-निर्वाह करने की बात कहना, उन्हें अहिंसा का मार्ग बतलाना कहा जायगा? विचार करने पर यह एकांग विवेक प्रतीत होगा। एकांग होते हुए भी यह सदोष है। अहिंसा की दृष्टि में जीवमात्र समान हैं। इस कारण ऊपर का मार्ग अहिंसा का मार्ग नहीं है।

इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा है कि अहिंसा और दया में उतना ही अन्तर है, जितना कि सोने और सोने से बने हुए गहने में या बीज और वृक्ष में। दया के बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञान या कायरतावश की गई दया को अहिंसा नहीं कह सकते। यदि कोई व्यक्ति डरकर अपने आक्रमणकारी को कुछ नहीं कहता या उसके साथ कुछ नहीं करता, इसका यह अर्थ नहीं कि उसने दयाभाव के वशीभूत हो कुछ किया नहीं और चुपके से बैठा रहा। अतः दया अहिंसा का स्रोत है, किन्तु उसे कायरता और भय से दूर रहना चाहिये।

क्रियाहीन अहिंसा आकाश के फूल के समान है अर्थात् ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अहिंसा सक्रिय नहीं है, क्योंकि कोई भी क्रिया होती है, उसमें सिर्फ हाथ और पैर ही सब कुछ हो ऐसी बात नहीं। विचार के बिना क्रिया हो ही नहीं सकती, दूसरे शब्दों में विचार भी

क्रिया ही है, क्योंकि क्रिया इसी से निर्देशित होती है। अतएव ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अहिंसा निष्क्रिय है तथा दया सक्रिय है, बल्कि दोनों ही सक्रिय हैं।

जो सर्वभक्षी है, यानी सभी प्रकार के जीवों के मांस, मछली आदि खाता है, किसी से परहेज नहीं रखता वह यदि दया या प्रेम से प्रेरित होकर अपनी भक्ष्य वस्तुओं की मर्यादा या सीमा कायम कर देता है तो इसका मतलब है कि वह अपने द्वारा की गई हिंसा की सीमा निर्धारित करता है। जब हिंसा सीमाबद्ध हो जाती है, तब निश्चित ही अहिंसा का विस्तार होता है। अतः जहां अहिंसा है, वहां ज्ञानपूर्ण दया होती है।

जो काम हम लोगों से नहीं हो सकते या जिस काम के करने का कुछ अर्थ नहीं, ऐसे दया के केवल दिखाऊ काम हम करते हैं और जो दया के कार्य हम कर सकते हैं, उन्हें नहीं करते। मीरा भगत की भाषा में कहें तो हमलोग निहाई की चोरी करते हैं और सुई का दान करने का ढोंग करते हैं। गीता की भाषा में कहें तो स्वधर्म का, जो हमारे लिए सुलभ है, थोड़ा-सा भी पालन करना छोड़कर हम परधर्म के पालन के बड़े-बड़े विचार करते हैं, और 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाते हैं। ऐसी भूलों से हमें बचना चाहिये।[1]

जीव-दया आत्मा का एक महान् गुण है। अतः इसकी सीमा इतनी छोटी नहीं है कि कुछ जीवों को बचाकर ही कोई इसका पूर्ण पालन कर ले। एक व्यक्ति चींटियों के लिए सत्तू छींटकर समझता है कि वह बहुत बड़ा दयावान है, लेकिन उसके बगल में ही यदि किसी के घर में चींटियों का उपद्रव हो रहा है, फलस्वरूप उसके भोज्य पदार्थ गन्दे हो जाते हैं, बिछावन सोने के लायक नहीं रह जाती, ऐसी हालत में चींटियों को सत्तू देनेवाला कहाँ तक अहिंसा करता है या हिंसा। कोई व्यक्ति कुत्ते या अन्य जानवरों को जो उसे हानि पहुँचाते हैं, मारता-पीटता नहीं और उन्हें पिंजड़े में बन्द करके दूसरे गांव में छोड़ आता है, जहां कि वे जानवर फसल की बर्बादी या अन्य

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खंड १०, पृष्ठ २१.

प्रकार की क्षति करते हैं, तो ऐसी हालत में उस व्यक्ति का हिंसक या हानि पहुँचानेवाले जानवरों को न मारकर अन्य स्थान पर पहुँचाना अहिंसायुक्त दया होगी या हिंसायुक्त दया ? इस प्रकार की दया कभी भी अहिंसा का रूप नहीं ले सकती, वह दया हिंसा ही कहलायेगी।[1]

हमलोग दया-धर्म के नाम पर हिंसा को अनजान में उत्तेजन देते रहते हैं। घर पर आये हुए भिखारी को रोटी का एक टुकड़ा या एक-आध पैसा देकर हम समझते हैं कि हमने दया का बहुत बड़ा काम किया, जो पुण्यजनक है, यानी हम पुण्य के भागी हैं। किन्तु इससे भिखारियों की संख्या बढ़ती है, समाज में आलस्य और अकर्मण्यता बढ़ती है, जो हिंसा का ही एक रूप है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि किसी भी भिखारी को कुछ दिया ही न जाये। जो वास्तव में लूला, लंगड़ा, रोगी है, शरीर से असमर्थ है वह सहायता पाने के योग्य है उसकी सहायता करना सबका कर्त्तव्य होता है। लेकिन केवल ऐसा समझकर कि भीख देना दया है, पुण्य देनेवाला है, चोर, लम्पट सबको भिक्षा देना, सहायता करना हिंसा हो सकता है, अहिंसा नहीं।[2]

अहिंसा और सत्य :

सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते हैं। उनका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उनमें रत्न निकलते हैं, सेवा के अवसर आते हैं।[3] सत्य को जाननेवाला तथा मन, वचन और काया (कर्म) से सत्य को आचरित करनेवाला परमात्मा को जानता है। वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीन कालों को जानता है और उसे देहत्याग से पूर्व ही मुक्ति मिल जाती है।[4] सत्य के अधिष्ठान के

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ ५५.
२. वही, पृ० ६१.
३. वही, द्वितीय भाग, पृ० १६१.
४. वही, प्रथम भाग, पृ० ५१.

लिए जिह्वा को नियंत्रित करना आवश्यक होता है, और जो अपने जीवन में सत्य को उतार लेता है यानी जिसका जीवन सत्यमय हो जाता है, उसके जीवन में वह शुद्धता आ जाती है जो श्वेत स्फटिक में होती है।[१] अतः परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने के बजाय सत्य ही 'परमेश्वर' है, यह कहना अधिक उपयुक्त है।[२]

जहाँ तक अहिंसा और सत्य के संबंध की बात है, गांधीजी ने कहा है कि सत्य सबसे बड़ा धर्म है और अहिंसा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है तथा इस कर्त्तव्य को बार-बार करके ही कोई व्यक्ति सत्य की पूजा कर सकता है यानी सत्य एक साध्य है और अहिंसा एक साधन।[३] संसार में सत्य के बाद कोई और सक्रिय शक्ति है तो वह अहिंसा ही है।[४] अन्य स्थान पर उनके (गांधीजी के) वचन इस प्रकार हैं—

> सत्य विधेयात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तु का साक्षी है। अहिंसा वस्तु होने पर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होना चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयं सिद्ध है। अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है, सत्य में वह छिपी हुई है। वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है।
>
> सत्य का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा है— हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। ब्रह्मचर्य अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के लिए ही हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करनेवाले हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।[५]

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खंड १०, पृष्ठ ४६,४८.

२. वही, पृ० ६१.

३. वही, द्वितीय भाग, आमुख के बादवाला पृष्ठ.

४. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ ८७.

५. वही, पृ० ३९-४०.

इस प्रकार गांधीजी ने अहिंसा को कभी सत्य का साधन, कभी सत्य का फल, कभी सत्य का प्राण और कभी अहिंसा और सत्य दोनों को एक ही बताया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उनके विचार में दोनों में कौन-सा अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके अनुसार अहिंसा और सत्य का संबंध घनिष्ठ और अटूट है; अहिंसा के बिना कोई सत्य का पालन वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे सत्य के बिना अहिंसा का।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य :

एक बार किसी कांग्रेस नेता ने गांधीजी के समक्ष (जबकि वे कांग्रेस से अलग हो गये थे) यह प्रश्न रखा कि क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वैसी नहीं रही जैसी सन् १९२०-२५ में थी ? यानी कांग्रेस की नैतिकता के ह्रास का क्या कारण है ? इस प्रश्न का जो उत्तर गांधीजी ने दिया उसका सारांश इस प्रकार है— अहिंसा पर आधारित कांग्रेस-रूपी जो सत्याग्रह दल सेना) है, उसके सेनानायक में अब वैसी ताकत नहीं रह गई है, जैसी उसमें होनी चाहिए। अतः वह अपने दल को सही रूप में प्रभावित तथा संचालित नहीं कर पा रहा है। आगे उन्होंने फिर कहा कि सत्याग्रह दल के सेनापति में वैसी ताकत नहीं होनी चाहिए, जो अस्त्र-शस्त्र की प्रचुरता से प्राप्त होती है, बल्कि उसमें वह शक्ति होनी चाहिए जो जीवन की शुद्धता, दृष्ट जागरूकता और सतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बगैर असंभव है।[1] ब्रह्मचर्य केवल दैहिक आत्म-संयम तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसकी मर्यादा का बहुत बड़ा विस्तार है। इसका पूर्णरूप सभी इन्द्रियों के नियमन में देखा जाता है। अशुद्ध विचार का मन में आना भी ब्रह्मचर्य का घातक होता है। जो भी मानवीय शक्तियां हैं, उनका स्रोत वीर्य की रक्षा और ऊर्ध्वगति में है। कहने का तात्पर्य यह कि सत्याग्रह के पीछे जो अहिंसा-रूपी बहुत बड़ी शक्ति काम कर रही थी, उसकी जड़ में भी ब्रह्मचर्य-शक्ति ही काम

---

१. गांधीजी, अहिंसा, द्वितीय भाग, खण्ड १०, पृष्ठ २११.

कर रही थी, जिसका ह्रास होने से कांग्रेस की नैतिकता का ह्रास हो गया है। अर्थात् ब्रह्मचर्य को पालने के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता।

अहिंसा और यज्ञ :

वैदिक परम्परा का विवेचन करते हुए यह देखा गया है कि अधिकांश हिन्दूशास्त्रों ने यही माना है कि यज्ञ में की जानेवाली हिंसा हिंसा नहीं होती। किन्तु गांधीजी के विचारानुसार यह अपूर्ण सत्य है, पूर्ण नहीं। चाहे वह किसी समय या किसी भी प्रयोजन से की जाये, किन्तु हिंसा हिंसा ही होगी, जो कि पापजनक है, वह किसी भी हालत में अहिंसा नहीं हो सकती। लेकिन सिद्धान्त के साथ-साथ व्यवहार को भी अपना अधिकार प्राप्त है। अतएव जिस हिंसा को वह अनिवार्य मान लेता है, उसे या तो क्षम्य घोषित कर देता है या उसे पुण्य की श्रेणी में भी ले लेता है। यही बात यज्ञ में की गई हिंसा के साथ है। चूंकि व्यवहार-शास्त्र ने उसे अनिवार्य हिंसा मान लिया है, अत: उसे शुद्ध और पुण्यजनक भी घोषित कर दिया है। किन्तु अनिवार्य हिंसा की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो देश-काल और पात्र के अनुसार बराबर बदलती रहती है।[1] जैसे दुर्बल शरीर की रक्षा के लिए जाड़े में लकड़ी आदि का जलाना, जिसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है, अनिवार्य समझा जा सकता है, लेकिन गर्मी में बिना किसी जरूरत के लकड़ी या कोयला जलाकर अनेक सूक्ष्म जीवों का घात करना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा और खेती :

खेती शुद्ध यज्ञ है, तथा सच्चा परोपकार है। गांधीजी के इस मत पर आशंका करते हुए 'नवजीवन' के एक पाठक ने पूछा कि एक चींटी के दब जाने से मन में तकलीफ होती है और खेती करने में तो हजारों कीड़ों का विनाश होता है, ऐसी हालत में खेती कैसे की जा सकती है? क्यों न कोई व्यक्ति भिक्षाटन करके या अन्य कोई व्यापार करके ही अपना जीवन यापन करे?

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृ० ५२.

इसमें कोई शक नहीं कि खेती में अनेक प्राणियों की हिंसा होती है, लेकिन इसमें भी किसी आशंका की कल्पना तक नहीं हो सकती कि श्वासोच्छ्वास में हजारों सूक्ष्म जीवों का नाश होता है। अर्थात् श्वासोच्छ्वास जिस प्रकार जरूरी है, ठीक उसी प्रकार खेती भी आवश्यक है, इसे रोका नहीं जा सकता। जो लोग खेती को त्यागकर भिक्षाटन करना चाहते हैं, उनकी यह बहुत बड़ी भूल है, वे भी खेती से होनेवाली हिंसा के दोषी हो जाते हैं, यदि खेती करने में दोष है, क्योंकि अन्न तो किसी न किसी के द्वारा की गई खेती के फलस्वरूप ही मिलता है। अतः भिक्षाटन करनेवाला अपने को हिंसा के दोष से मुक्त न समझे, यदि वह समझता है कि खेती करना दोषपूर्ण है। यदि कोई अन्य व्यापार करना चाहता है तो उसमें भी हिंसा होती है जैसे रेशम का धन्धा जिसमें रेशम के कीड़ों की हिंसा होती है; मोती का व्यापार, जिसमें सीप का कीड़ा उबाला जाता है। इसके अलावा ऊपर सिर करके चलनेवाले व्यक्तियों की, जो किसी प्राणी के दब जाने के विषय में सोचते भी नहीं, तुलना उन खेतीहरों से नहीं की जा सकती, जो प्राणियों को बचाते हुए खेती करते हैं यानी जिनका उद्देश्य जीव हिंसा करना नहीं होता, जो बड़े ही विनम्र होते हैं, जगत के पालनहार होते हैं। खेती एक आवश्यक एवं शुद्ध यज्ञ है, जिसे धर्मनिष्ठ लोग करते हैं।[1]

अहिंसा का आर्थिक रूप :

'जो बात शुद्ध अर्थशास्त्र के विरुद्ध हो वह अहिंसा नहीं हो सकती। जिसमें परम अर्थ है, वह शुद्ध है। अहिंसा का व्यापार घाटे का नहीं होता। अहिंसा के दोनों पलड़ों का जमा-खर्च शून्य होता है।'[2] इस सिद्धान्त का प्रयोग खादी पहनने में दिखाया गया है। गांधीजी ने स्वयं कहा है कि खादी पहनने में अहिंसा, राजकाज तथा अर्थशास्त्र तीनों का ही समावेश पाया जाता है।[3] खादी तैयार करने में उतनी

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, अध्याय १०, पृ० ३५-३६.

२. वही, पृ० ११७.

३. वही, पृ० १७.

प्रक्रियाएँ नहीं होतीं, जितनी कि मिल में तैयार होनेवाले कपड़ों के साथ होती हैं। अतएव खादी पहनने में मिल के कपड़े पहनने से कम हिंसा है। जहां तक स्वदेशी और विदेशी मिलों की बात है, स्वदेशी मिल के कपड़ों को तैयार करनेवाले हमारे पड़ोसी भाई-बन्धु ही होते हैं और जब हम उनके द्वारा बनाये गये कपड़े पहनते हैं तो हमारे हृदय में अपने पड़ोसी बन्धुओं के प्रति प्रेम जगता है, सहानुभूति जगती है। हम उनकी रोजी-रोटी में सहायक बनते हैं। किन्तु जिन वस्तुओं के तैयार होने में मजदूरों को ज्यादा से ज्यादा कष्ट होता है, उनकी जिन्दगी एक सामान्य मानवीय जिन्दगी नहीं रह जाती, वैसी वस्तुओं के प्रयोग त्याज्य समझे जा सकते हैं, भले ही व्यवहार में उन्हें नहीं त्यागा जाता है।[१]

अहिंसा का सामाजिक रूप :

गांधीजी ने उन भिखारियों को भीख देने का विरोध किया है, जो कि अपंग और अपाहिज नहीं हैं। क्योंकि ऐसा न करने से समाज में आलस्य तथा पर-निर्भरता बढ़ती है। जो आलसी है, परावलम्बी है, उसे जिस समय दूसरों से खाने को अन्न तथा पहनने को वस्त्र नहीं मिलते, वह चोरी करता है, डकैती करता है, समाज में नाना प्रकार के हिंसाजनक कार्य करता है। अतः अहिंसा का सामाजिक रूप अपने को दयावान घोषित करते हुए सब किसी को भीखस्वरूप पैसे, भोजन आदि देना नहीं समझा जा सकता, बल्कि सोच-समझ कर, पूछताछ कर किसी को सहायता देना, जिससे समाज का वास्तविक कल्याण हो सके, अहिंसा का सामाजिक प्रयोग हो सकता है।

अछूतोद्धार भी अहिंसा का एक सामाजिक रूप है। गांधीजी ने अस्पृश्यता की भर्त्सना करते हुए कहा है कि यह हिन्दू समाज की सड़न है, वहम है और पाप है। 'जन्म के कारण मानी गई इस अस्पृश्यता में अहिंसाधर्म और सर्वभूतात्मभाव का निषेध हो जाता है। इसकी जड़ में संयम नहीं है, उच्चता की उद्धत भावना ही यहां बैठी हुई है।

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ ६१.

इसलिए यह स्पष्टतः अधर्म है। इसने धर्म के बहाने लाखों, करोड़ों की हालत गुलामों की सी कर डाली है।"[1]

अतएव इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि हरिजनों को, जिन्हें अछूत कहा गया है, मेले, मन्दिर, पाठशाला आदि सार्वजनिक स्थानों में समान अधिकार दिया जाये। लेकिन ऐसा नहीं कि उनकी अस्पृश्यता दूर करने के लिए उनके पेशे छुड़वा दिये जायें, क्योंकि काम तो सभी बराबर ही हैं, कोई बड़ा या छोटा नहीं है।[2] बल्कि जात-पात की जड़ काटना श्रेयस्कर है, क्योंकि यह अछूतपन की तरह समाज का एक बहुत बड़ा कोढ़ है; जब तक जात-पात की विषमता को दूर नहीं किया जाता है, अछूतपन भी दूर नहीं हो सकता।[3] यह छूआछूत दूर करने का प्रश्न सिर्फ मानवमात्र तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसकी व्यापकता जीवमात्र तक पहुँची हुई है इसलिए छूआछूत दूर करनेवाले व्यक्तियों को सिर्फ भंगियों और मोचियों को अपनाकर ही संतोष नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें जीवमात्र को अपनाना तथा समूची दुनिया के साथ मित्रता निभानी चाहिए। क्योंकि जीवमात्र के साथ भेद मिटाना ही छूआछूत मिटाना है।[4]

इस प्रकार गांधीजी ने अपने समाज में सिर्फ मनुष्यों को ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों को भी स्थान दिया है। उनके विचार में जिस प्रकार अपंग तथा अपाहिज के अलावा अन्य भिखमंगों को भिक्षा देना दोषपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार गलियों में भटकते हुए कुत्तों को रोटी का एक-आध टुकड़ा दे देना दोष है, पाप है। कुत्तों को भी रहने को निश्चित स्थान तथा उचित भोजन मिलना चाहिए, क्योंकि ये बहुत ही वफादार साथी होते हैं। बेघर का कुत्ता समाज की सभ्यता या दया का चिह्न नहीं है बल्कि समाज के अज्ञान तथा आलस्य का।

---

१. बापू और हरिजन, संकलनकर्ता—क्षेमचन्द 'सुमन', पृष्ठ २३, ६२.

२. वही.

३. वही, पृ० ५०.

४. वही, पृ० ६२.

जानवर जीव अपने भाई-बन्द हैं। इनमें सिंह, बाघ इत्यादि को भी गिनता हूँ। हम लोगों को सिंह, सर्प आदि के साथ रहना नहीं आता यह हमारी शिक्षा की त्रुटि के कारण है।[1]

अहिंसा का राजनैतिक रूप (सत्याग्रह और असहयोग):

सत्याग्रह शब्द दो शब्दों—सत्य और आग्रह का मिला हुआ रूप है, इसका अर्थ हो सकता है सत्य के प्रति आग्रह। गांधीवादी विचार में इससे सिर्फ सत्य आदि धर्मों के प्रति आग्रह ही नहीं समझा जाता, बल्कि अधर्म या असत्य का सत्य के माध्यम से विरोध भी। चूंकि विरोध में हिंसा की संभावना रहती है, यह कहा गया है कि असत्य या अधर्म का विरोध तो होना चाहिए लेकिन अहिंसामय साधन से। यही सत्याग्रह है। गांधीजी ने कहा है कि इसमें (सत्याग्रह में) सत्य शक्ति है; इस शक्ति को उन्होंने प्रेम-शक्ति या आत्म शक्ति की संज्ञा भी दी है; इसमें धैर्य और सहानुभूति को स्थान मिला है, हिंसा को नहीं। अतः सत्याग्रह से मतलब होता है दूसरे की गलती को हिंसात्मक तरीके से या उसे पीड़ा देकर नहीं, बल्कि स्वयं धैर्यपूर्वक कष्ट सहकर तथा गलती करनेवाले के प्रति सहानुभूति और प्रेम दिखाकर सुधारना।[2] सत्याग्रह में ऐसी बड़ी ताकत होती है कि इस पर संसार की कोई भी शक्ति विजय नहीं पा सकती।[3] ऐसी महती शक्ति को प्राप्त करने के लिए कठिन साधना की जरूरत होती है, इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि सत्याग्रह आश्रम में रहनेवालों को सत्य व्रत, अहिंसा व्रत, ब्रह्मचर्य व्रत, स्वादेन्द्रियनिग्रह व्रत, अस्तेय व्रत, अपरिग्रह व्रत, स्वदेशी व्रत (स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग), निर्भयता व्रत तथा अस्पृश्यता व्रत का पालन करना चाहिए।[4] गांधीजी के शब्दों में –

---

१. गांधीजी, अहिंसा, प्रथम भाग, खण्ड १०, पृष्ठ ६१-६२

२. यंग इंडिया, १४ जनवरी १९२०;
गांधीवाद की शवपरीक्षा — यशपाल, पृष्ठ १४१.

३. दिल्ली डायरी—मो० क० गांधी, पृष्ठ १७७.

४. वही, पृ० ४६-५१.

'असहयोग और सविनय अवज्ञा सत्याग्रह रूपी एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएं हैं। यह मेरा कल्पद्रुम है। सत्याग्रह सत्य का शोध है; और ईश्वर सत्य है। अहिंसा वह प्रकाश है, जो मुझे सत्य को प्रकट करता है। मेरे लिए स्वराज उसी सत्य का एक अंग है।'[1]

असहयोग को निष्क्रिय समझना भूल के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यह सिर्फ सक्रिय ही नहीं है, बल्कि इसमें शारीरिक अवरोध, प्रतिरोध या हिंसा से बहुत अधिक क्रियाशीलता है। गांधीजी ने जिस रूप में इसका प्रयोग किया है, वह निश्चित ही अहिंसात्मक है और इसमें लेशमात्र भी दण्डात्मक या प्रतिहिंसात्मक भावना नहीं है। यह द्वेष, दुर्भाव तथा घृणा से बिल्कुल ही दूर है।[2] इसमें अनुशासन और उत्सर्ग की जरूरत होती है; दूसरे की विरोधी भावनाओं के लिए यह हिंसा को नहीं अपनाता, बल्कि धैर्य और सहिष्णुता का सहारा लेता है।[3] जिस असहयोग में प्रेम नहीं वह राक्षसी है; जिसमें प्रेम है वह ईश्वरी है। हमारे असहयोग के मूल में प्रेम है।[4]

इस प्रकार गांधीजी ने अहिंसा को विभिन्न रूपों में अपनाया है, जिसकी वजह से प्राचीन होते हुए भी यह नवीन दीखती है, फिर भी इतना कहना कोई गलत न होगा कि इनके विचार में अहिंसा के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप अधिक प्रकाशित हुए हैं।

गांधीवादी अहिंसा एवं जैनधर्म-प्रतिपादित अहिंसा :

जैनधर्म प्रतिपादित अहिंसा से हमलोग पहले ही पूर्णरूपेण अवगत हो चुके हैं, अतः यहाँ अब यह देखने का प्रयास करना श्रेयस्कर होगा कि गांधीवादी अहिंसा तथा जैनधर्मानुमोदित अहिंसा में किन-किन स्थलों पर समानता है तथा किन-किन जगहों पर असमानता।

---

१. यंग इंडिया, २६ सितम्बर १९२४.
२. गांधीवाणी—रामनाथ सुमन, पृ० १६०; यं० इंडिया २१ अगस्त १९२०.
३. " " " " १५ दिसम्बर १९२०.
४. वही.

अहिंसा तथा उसका स्वरूप :

गांधीवाद तथा जैनधर्म दोनों ने ही माना है कि प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष यानी दुराव, दुर्भाव का त्याग करना अहिंसा है। अहिंसा का विस्तार सिर्फ मनुष्य तक ही नहीं, बल्कि संसार के सभी प्राणियों तक है। चूंकि हिंसा मन, वाणी और क्रिया तीनों से की जाती है, अहिंसा का भी शुद्ध स्वरूप रागद्वेष आदि से उत्पन्न हिंसात्मक कार्यों से मनसा, वाचा और कर्मणा बचने में ही देखा जा सकता है। अर्थात् अहिंसा के दो स्वरूप हैं—भाव और द्रव्य। इनकी स्पष्टता जैनधर्म में विशेष रूप से मिलती है। गांधीवाद में यद्यपि इनके नामकरण नहीं हुए हैं, मन, वाणी और क्रिया के आधार पर इस प्रकार के विभाजन हो सकते हैं। जैनमतानुसार मन, वाणी और क्रिया हिंसा अथवा अहिंसा के तीन योग हैं और करना, करवाना तथा अनुमोदन करना तीन करण हैं जिनके संयोग से हिंसा या अहिंसा करने के नौ प्रकार हो जाते हैं, यानी अहिंसा की नौ राहें हैं। जो व्यक्ति इन नौ प्रकारों से अहिंसा का पालन करता है वही पूर्ण अहिंसक माना जाता है। किन्तु ऐसी बात गांधीवाद में नहीं पाई जाती। वह तीन योग से आगे तीन करण अर्थात् करना, करवाना और अनुमोदन करने पर अपना कोई स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं करता। वैसे विवेचन करने पर गांधीवाद में भी यही बात फलित होती है।

जीव :

जैनधर्म ने जीव के छः प्रकार बताये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्नि-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय। अर्थात् स्वतः मिट्टी, जल, अग्नि आदि में प्राण हैं और अहिंसक को इन सबों की हिंसा से भी बचना चाहिए। इसके अलावा इसने विभिन्न कायों की हिंसा होने के विभिन्न कारण बताये हैं—जैसे पृथ्वीकाय की हिंसा पृथ्वी को जोतने, बावड़ी बनाने, तालाब खोदने, कूप खोदने, क्यारी बनाने आदि से होती है। अतः एक पूर्ण अहिंसक को इन कार्यों से बचना चाहिए। लेकिन गांधीवाद में ऐसी बात नहीं मिलती। गांधीजी ने कहा है कि अग्नि जलाने से स्थान और काल के अनुसार, तथा हरी वनस्पति पर

चलने से हिंसा होती है। गांधीजी ने वनस्पति में प्राण होता है और उसका घात होता है इसे तो माना है, लेकिन अग्नि के विषय में उनका हिंसा या अहिंसा मानना इसलिए है कि अग्नि में जलनेवाली लकड़ी आदि के साथ बहुत से सूक्ष्म जीव मर जाते हैं, इसलिए नहीं कि अग्नि स्वत: प्राणवान है। इसी तरह पृथ्वीकाय और अप्काय के विषय में उनका कोई स्पष्ट विचार नहीं मिलता। लेकिन जैनधर्म ने षट्कायों के अलग-अलग विश्लेषण किये हैं, उनकी हिंसा और अहिंसा के अलग-अलग तरीके भी बताये हैं। किन्तु गांधीवाद में जीव के विषय में जैनधर्म की तरह कोई तात्त्विक विश्लेषण नहीं किया गया है, इसलिए हिंसा के भी सामान्यतौर से इसमें तीन कारण बताये गये हैं—

१. स्वार्थ—अपनी सुख-सुविधा के लिए, २. परमार्थ—दूसरे की सुख-सुविधा के निमित्त तथा ३. हिंसा की जानेवाले प्राणी के हित के निमित्त अर्थात् हिंसा करने मे हिंसक का उद्देश्य उसी को लाभ पहुंचाना होता है जिसकी वह हिंसा करता है।

हिंसा के विभिन्न रूप तथा अहिंसा के विभिन्न नाम :

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे हिंसा के पाप, चण्ड, रौद्र, साहसिक, अनार्य आदि विभिन्न २२ रूप बताये गये है। गांधीजी ने कहा है कि अहम् या अहमत्व पर आधारित जितने भी कार्य हैं, वे सभी हिंसा हैं, जैसे स्वार्थ, प्रभुता की भावना, जातिगत विद्वेष, असंतुलित एव असंयमित जीवन। प्रश्नव्याकरण सूत्र में ही अहिंसा के निर्वाण, निवृत्ति, समता, शान्ति यश, प्रसन्नता, रति, विरति, श्रुतांग, संतोष, दया आदि साठ नाम बताये गये हैं। किन्तु गांधीजी ने मोटे ढंग से स्वार्थत्याग, जन-कल्याण के लिए किये गये कार्य, असंयमित भोगप्रवृत्ति का त्याग आदि को अहिंसा कहा है।

हिंसा तथा अहिंसा के पोषक तत्त्व :

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह हिंसा के पोषक तत्त्व हैं। इन सभी से किसी न किसी रूप में हिंसा होती है। ठीक इसके विपरीत

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्त्व हैं यानी अहिंसा का सब तरह से पालन करने के लिए इन चारों व्रतों का पालन करना आवश्यक है। अहिंसा के मिल जाने पर ये पांच महाव्रत हो जाते हैं। इन पंच महाव्रतों को गांधीवाद तथा जैनधर्म दोनों ही प्रधानता देते हैं। गांधीजी ने साफ कहा है कि अहिंसा एक महाव्रत है। जैनधर्म में अहिंसा का स्थान सर्वोच्च है, किन्तु गांधीवाद में सत्य का। यद्यपि गांधीजी ने एक जगह पर अन्यव्रतों को अहिंसा का पोषक माना है तथा यह भी कहा है कि अहिंसा सत्य का प्राण है। इस प्रकार उनके कथनों से सत्य का स्थान ही ऊँचा मालूम होता है, क्योंकि ऐसा भी इन्होंने कहा है कि संसार में सत्य के बाद कोई शक्ति है तो अहिंसा। गांधीजी ने सत्य को धर्म और अहिंसा को एक कर्त्तव्य माना है और यह भी कहा है कि अहिंसा ही सत्येश्वर के दर्शन कराने का मार्ग है। इन सभी बातों से मालूम होता है कि गांधीजी की दृष्टि में सत्य का स्थान सर्वोच्च है।

अहिंसा और खेती :

हिंसा अथवा अहिंसा भावप्रधान है, इसपर गांधीवाद तथा जैन-धर्म दोनों ही बल देते हैं। खेती करने में किसान के द्वारा अनेक जीव-जन्तुओं का हनन होता है, जब वह हल जोतता है, किन्तु किसान का उद्देश्य जीवों की हिंसा करना नहीं होता, वह तो मात्र हल जोतने की इच्छा रखता है। इसलिए उसके द्वारा की गई हिंसा क्षम्य समझी जाती है, अर्थात् हिंसा करते हुए भी वह अहिंसक ही समझा जाता है क्योंकि उसकी भावना हिंसा-प्रधान न होकर अहिंसा-प्रधान होती है। गांधीजी ने कहा है कि वे हिंसाएँ जिन्हें समाज ने व्यावहारिक रूप में अनिवार्य मान लिया है, हिंसाएँ होते हुए भी हिंसाएँ नहीं समझी जातीं या क्षम्य होती हैं। किन्तु उन्होंने अनिवार्य हिंसा की कोई परिभाषा नहीं बतलाई है, कारण वे समय और स्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। जैनधर्म ने ऐसी हिंसा का "अनिवार्य" या अन्य कोई नामकरण नहीं किया लेकिन क्षम्य माना है।

श्रमण और श्रावक :

जैनधर्म ने अहिंसा को पंचमहाव्रतों में स्थान दिया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये महाव्रत श्रमणों या मुनियों के द्वारा पाले जाते हैं। इन व्रतों का पालन करने के लिए एषणा, समिति, गुप्ति आदि निर्धारित हुई हैं। श्रावकों अथवा गृहस्थों के लिए अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत की शिक्षा दी गई है। अणुव्रत में व्रतों की मर्यादा कुछ सीमित रहती है। जैसे अहिंसा पालन में ही यह बताया गया है कि श्रमणों के लिए यह आवश्यक है कि वे अहिंसा का पूर्ण-रूपेण पालन करें यानी स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के जीवों को घात से बचावें। श्रावक के लिए मात्र स्थूल हिंसा से बचना ही जरूरी कहा गया है। हिंसा अथवा अहिंसा-संबंधी विचार श्रमण और श्रावक के लिये अलग-अलग ढंग से किये गये हैं। ऐसी बात गांधीवाद में नहीं मिलती। गांधीवाद ने गृहस्थ तथा साधु सबके लिए अहिंसा का महत्व बराबर समझा है।

जैनधर्म ने अहिंसा-पालन के लिए विभिन्न प्रकार की मर्यादाएँ निर्धारित की हैं ताकि हिंसा कम हो। गांधीवाद मे ऐसी कोई मर्यादा नहीं मिलती। यदि वस्त्र-मर्यादा के लिए खादी पहनना बताया गया है और इस मर्यादा का उद्देश्य हिंसा कम करना है तो भी यह अहिंसा का सीधा साधन नहीं बनती है जैसा कि जैनधर्म में है, बल्कि यह अर्थशास्त्र की राह से अहिंसा तक पहुँचती है। यानी इसमें आर्थिक शोषण, जो हिंसा का ही एक रूप है, से बचने पर जोर दिया गया है।

अहिंसा और यज्ञ :

वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ में होनेवाली हिंसा का जैनधर्म ने बिल्कुल विरोध किया है। गांधीजी ने कहा है कि हिंसा चाहे यज्ञ में हो या अन्य कहीं किन्तु वह हिंसा ही है, अहिंसा नहीं। फिर भी व्यवहार ने इसे अनिवार्य हिंसा मानकर दोषरहित समझ रखा है। लेकिन इन्होंने अनिवार्य हिंसा की कोई परिभाषा नहीं दी है, इसलिए इस संबंध में इनका विचार स्पष्ट नहीं मालूम होता।

अहिंसा और ईश्वर :

जैनधर्म अनीश्वरवादी है अर्थात् यह ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता। अतः इसकी अहिंसा या अन्य किसी सिद्धान्त में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। जो कुछ करता है आदमी स्वयं करता है; भले ही वह अपने कर्मों के फल भोगता है यानी सुख-दुःख पाने में वह अपने कर्म के द्वारा निर्देशित होता है, क्रिया करने में वह स्वतंत्र रहता है। किन्तु गांधीवाद में ईश्वर को स्थान मिला है; ईश्वर अहिंसा-पालन में भी सहायक होता है। गांधीजी ने कहा है—

> "...अहिंसा केवल बुद्धि का विषय नहीं है; यह श्रद्धा और भक्ति का विषय है। यदि आपका विश्वास अपनी आत्मा पर नहीं है, ईश्वर और प्रार्थना पर नहीं है, तो अहिंसा आपके काम आनेवाली चीज नहीं है।"[1]

अहिंसा और दान :

अहिंसा और दान के संबंध पर प्रकाश डालने के सिलसिले में जैनधर्म में बहुत विचार-विमर्श मिलते हैं। इसमें दो चीजें प्रधानतौर से प्रकाश में लाई गई हैं: १. दान पाने का अधिकारी या पात्र तथा २. अनुकम्पादान अहिंसा है अथवा हिंसा। इसमें दो मत मिलते हैं। तेरापंथियों ने सिर्फ संयतियों को छोड़कर किसी को भी दान पाने के योग्य नहीं बताया है, क्योंकि संयतियों के अलावा अन्य लोग कुपात्र हैं या दान लेने के अधिकारी नहीं हैं और कुपात्र को दान देने से पाप होता है। अनुकम्पादान भी एकान्त पाप का साधन है। इन मतों की पुष्टि जयाचार्य के द्वारा 'भ्रमविध्वंसनम्" में की गई है। किन्तु आचार्य जवाहिरलालजी ने "सद्धर्ममण्डन" में जयाचार्य के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि अनुकम्पादान एकान्त पाप का साधन नहीं बल्कि पुण्य का साधन है। गांधीवाद में भी दान देने के लिए पात्र का विचार करना अनिवार्य बताया गया है। इसके अनुसार दान पाने का अधिकारी केवल वही है जो अपंग और अपाहिज है। अपंग और अपाहिज

---

१. गांधी जी, अहिंसा, द्वितीय भाग, खण्ड १०, पृ० १६९.

अलावा अन्य किसी को दान या भीख देना समाज में आलस्य को बढ़ाना है, जो पापजनक कहा जा सकता है। इसका मतलब है कि गांधीवाद अनुकम्पादान को पापजनक न मानकर पुण्यजनक मानता है। इसमें ऐसी चर्चा नहीं मिलती है जिससे जाहिर हो कि मुनि या यति लोगों को व्यक्तिगत दान मिलना चाहिए कि नहीं, फिर भी यह समझा जा सकता है कि गांधीवाद ने मुनि आदि को दान देने का कोई विधान नहीं बनाया है, यदि वे अपंग और अपाहिज न हों। सार्वजनिक कार्यों के लिए दान देना विहित है।

अहिंसा के अपवाद :

अहिंसा का विकास देखते हुए यह पाया जाता है कि जैनधर्म में अहिंसा के मौलिक सिद्धान्त में कोई भी अपवाद नहीं है। अहिंसा धर्म-पालन करनेवाले को चाहे जितना भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े उसे सब कुछ बर्दाश्त करना चाहिए, जैसा कि महावीर के जीवन में देखा जाता है। किन्तु बाद में चलकर कुछ मुनियों ने अहिंसा के सिद्धान्त में अपवाद भी बना दिया है जैसे, निशीथचूर्णि में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति आचार्य की हत्या करता हो, या साध्वी के साथ बलात्कार करना चाहता हो तो उसकी हत्या करके भी आचार्य और साध्वी की रक्षा करनी चाहिए। इसके संबंध में कोंकण देशीय साधु द्वारा की गई तीन सिंहों की हत्या को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। गांधीवाद यहाँ पर जैनधर्म से बहुत हद तक मिलता है। कारण, इसमें भी अहिंसा धर्म के बहुत से अपवाद मिलते हैं। इसने अहिंसा को वीरों का गुण बताते हुए कहा है कि जहाँ पर कायरता और हिंसा की बात हो वहाँ किसी को भी हिंसा को ही अपनाना चाहिए। समाज या देश या स्वयं अपने पर भी बिना कारण कोई आपत्ति या आक्रमण उपस्थित हो जाये तो वैसी हालत में अपनी रक्षा के लिए हिंसक कर्मों को भी अपनाना गलत नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुःख-निवारण के लिए कोई अन्य चारा न रहने पर किसी पशु को मरवा देना सिर्फ गांधीवाद के अनुसार ही ठीक है, इससे जैनधर्म जरा भी सहमत नहीं होता।

अहिंसा का आर्थिक विवेचन :

गांधीवाद ने अहिंसा का आर्थिक विवेचन किया है यानी अहिंसा के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र पर लागू किया है। खादी पहनना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना आदि आर्थिक प्रश्नों के अहिंसात्मक समाधान हैं। परन्तु ऐसी बात जैनधर्म में नहीं पाई जाती है। इसमें अहिंसा को दो ही दृष्टियोंसे देखा गया है : धार्मिक और नैतिक। यद्यपि वस्त्रादि की मर्यादा इसमें मिलती है, भोजन की भी मर्यादाएं की गई हैं, किन्तु इनमें किसी भी रूप में आर्थिक भावना काम नहीं करती है।

अहिंसा का सामाजिक विवेचन :

गांधीवाद ने अहिंसा के सामाजिक पक्ष पर अधिक बल दिया है, इसकी अहिंसा में समाज-कल्याण की भावना बहुत ही प्रबल और जाग्रत है। गांधीजी ने अहिंसा के विभिन्न प्रकारों को बताते हुए कहा भी है कि लोक-कल्याण के लिए जो भी काम किये जाते हैं, वे सभी अहिंसा हैं। अत: जात-पांत के भेदभाव को दूर करने के लिए, खासतौर से उन दलित वर्गों के उद्धार के लिए, जो यथाकथित अछूत हैं, उन्होंने बहुत बड़ा आन्दोलन चलाया और बहुत दूरतक जातिगत या सम्प्रदायगत भेद-भावों को दूर करने में वे सफल भी रहे। किन्तु जैनधर्म में अहिंसा का व्यक्तिगत आधार प्रधान है। यद्यपि अपने कल्याण के निमित्त अहिंसा का अनुगमन करने से अन्य प्राणियों की भी रक्षा हो जाती है, दूसरे जीवों का भी कल्याण हो जाता है, पर अहिंसा-पालन का उद्देश्य आत्मकल्याण ही है, जन-कल्याण या समाज-कल्याण नहीं।

अहिंसा का राजनैतिक विवेचन :

गांधीवाद ने देश की राजनैतिक समस्या के समाधान के लिए या देश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए सत्याग्रह और असहयोग के रूप में अहिंसा को अपनाया है। यह गांधीवाद की एक अपनी विशेषता है, एक नया प्रयोग है जो जैनधर्म में नहीं मिलता। जैनधर्म ने स्थावर एवं

बस सभी प्राणियों की हिंसा-अहिंसा के विषय में विचार किया है फिर भी देश-कल्याण की बात इसके सामने नहीं आती। कारण, इसके अनुसार आत्म-कल्याण ही सब कुछ है। इसमें अहिंसा ही क्या किसी भी रूप में राजनीति की समस्या नहीं आई है। यह एक विशुद्ध धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्त है।

इस प्रकार अहिंसा के क्षेत्र में गांधीवाद और जैनधर्म के बीच कुछ स्थलों पर समानताएँ मिलती हैं, किन्तु असमानता भी कम नहीं है। अहिंसा का सिद्धान्त दोनों ही मानते हैं, लेकिन दोनों की अहिंसा के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं और उद्देश्य-प्राप्ति के साधन में भी प्रायः भिन्नता ही अधिक है और एकता कम।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम, ताओ, कनफ्यूशियस, सूफी, शिन्तो एवं जैन परम्पराओं तथा गांधीवाद के द्वारा प्रतिपादित हिंसा-अहिंसा संबंधी सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से ऐसा ज्ञात होता है कि इन सब के बीच कुछ समानताएँ हैं और कुछ असमानताएँ भी। जिनकी वजह से इन सबकी अनेकता में भी एकता तथा एकता में अनेकता नजर आती है।

वैदिक परम्परा में अहिंसा का सिद्धान्त उपनिषदों से प्रारम्भ होता है यद्यपि इतस्ततः वेदों में भी इसकी झलक-सी देखी जाती है। यजुर्वेद में तो सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव तथा विश्वशान्ति के विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् में अहिंसा को ब्रह्मलोक प्राप्त करने अर्थात् मुक्ति पाने का एक साधन तथा आत्मयज्ञ की दक्षिणा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् तथा आरुणिकोपनिषद् ने इसे एक सद्‌गुण तथा आत्म-संयम का एक प्रमुख साधन कहा है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ने तो इसे यज्ञ का इष्ट बताया है और कहा है कि सभी यज्ञादि कर्मों की सम्पन्नता में अहिंसाव्रत की परिपूर्णता ही लक्षित है। शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार अहिंसा एक यम है।

मनुस्मृति में हिंसा-अहिंसासंबंधी विचारों के तीन स्तर मिलते हैं। प्रथम स्तर भक्ष्य-अभक्ष्य पर प्रकाश डालता है, जिसमें कुछ पशु-पक्षियों के मांस को ग्रहण करने तथा कुछ के मांस को त्यागने की सलाह दी गई है (जीवो जीवस्य भोजनम्)। मांस-भक्षण का हिंसा से सीधा संबंध है, अतः इसका मांसभक्षणवाला पक्ष हिंसा को बढ़ावा देता है। दूसरा स्तर मांस-भक्षण को यज्ञ के साथ मर्यादित करता है। इसके

अनुसार, यज्ञ में प्राप्त तथा मंत्रों से पवित्र किया हुआ मांस खाना दोषपूर्ण नहीं है। यदि कोई व्यक्ति मांस-लोलुपता के कारण यज्ञ में प्राप्त मांस के अलावा भी मांस खाना चाहता है तो वह घृत या मैदे का पशु बनाकर खा सकता है। यह मानता है कि यज्ञ में दी गई पशु-बलि हिंसा की श्रेणी में नहीं आती तीसरा पक्ष मांस-भक्षण को त्याज्य तथा अश्रेयस्कर बताता है। इसके अलावा स्मृति में कहीं-कहीं अहिंसा को प्रधानता देते हुए इसे लोक-कल्याण तथा मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताया गया है और यह सभी वर्णों के लिए उपयुक्त एवं अनिवार्य समझी गई है।

गृह्यसूत्रों, जैसे बौधायन, सांखायन, पारस्कर, आश्वलायन, आपस्तम्ब, खादिर, हिरण्यकेसी, जैमिनि आदि में "अन्नप्राशन", "अर्घ", "अष्टक" आदि के वर्णन मिलते हैं जिनमें मांस-भक्षण का पूर्ण ब्योरा मिलता है। धर्मसूत्रों में प्रतिपादित भक्ष्य-अभक्ष्य, श्राद्ध तथा यज्ञ के विधि-विधानों में गाय आदि की पशुबलि तथा मांस-भक्षण अनिवार्य घोषित किया गया है। यहाँ तक कि उस ब्राह्मण को, जो आमंत्रित होने या यज्ञ में (पुरोहित के रूप में) नियुक्त होने के बाद, यज्ञ में दी गई पशुबलि से प्राप्त मांस को नहीं खाता है, नरक का भागी कहा गया है। किन्तु बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में अहिंसा के सिद्धान्त को सबलता प्रदान करते हुए कहा है कि संन्यासी को चाहिए कि वह मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को दण्ड न दे। वशिष्ठ ने संन्यासी के लिए सभी जीवों की रक्षा करना तथा गृह का त्याग करना आवश्यक बताया है। आपस्तम्ब के अनुसार ज्ञानी पुरुष अपने को सभी जीवों में तथा सभी जीवों को अपने में देखता है। अर्थात् वह जीवों के साथ आत्मवत् व्यवहार करता है, जिससे वह मुक्ति प्राप्त करता है। गौतम ने सभी जीवों पर दया, सहिष्णुता, अक्रोध आदि को आत्मा के आठ गुणों में रखा है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों में तथा धर्मसूत्रों में भी यज्ञ में की गई हिंसा को हिंसा न मानते हुए पशुबलि आदि पर बल दिया गया है। लेकिन धर्मसूत्रों में ही कहीं-कहीं पर अहिंसा के सिद्धान्त का भी अच्छी तरह पोषण हुआ है।

वाल्मीकि-रामायण में अहिंसा, सत्य, आत्म-संयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा आदि को आचार के प्रमुख अंग में प्रकाशित किया गया है। किन्तु

इसमें आत्म-रक्षा पर ध्यान देते हुए इतनी छूट अवश्य दी गई है कि अपने पर आघात करनेवाले पर कोई व्यक्ति घात कर सकता है, अर्थात् आत्म-रक्षा के लिए हिंसा करना दोषजनक नहीं समझा जाना चाहिए।

महाभारत में अहिंसा का सिद्धान्त पूर्ण विकसित हुआ है। यद्यपि शान्तिपर्व के शुरू में ही अर्जुन ने युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए हिंसा को अत्याज्य बताया है किन्तु अर्जुन का वक्तव्य सिर्फ राजा और क्षत्रिय के कर्तव्यों से संबंधित है। ये अपने धर्म या कर्तव्य का सही-सही पालन करने के लिए हिंसा का त्याग नहीं कर सकते। कारण, राजा को अपने राज्य की रक्षा करनी पड़ती है तथा किसान को खेती के लिए हल जोतना आदि ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिनमें अनेक प्राणियों का नाश होता है। व्यास के शब्दों में समता का सिद्धान्त प्रतिपादित होता है, जो अहिंसा का ही रूप है। मन, वाणी तथा क्रिया से जो अन्य जीवों को कष्ट नहीं पहुंचाता उसे अन्य प्राणी भी दुःख नही देते, फिर हिंसा होगी कैसे। अहिंसा की महानता को दर्शाते हुए शान्तिपर्व में इसकी तुलना हाथी के पदचिह्नों से की गई है। कारण, यह अन्य धर्मों को अपने में ठीक उसी प्रकार समावेशित कर लेती है जैसे हाथी के पदचिह्नों के भीतर अन्य पथगामियों के पद-चिह्न आ जाते हैं। अहिंसा और मांस-भक्षण की समस्या का समाधान देते हुए महाभारत मे विश्वामित्र और चाण्डाल का उदाहरण देकर यह निर्णय दिया गया है कि आदमी उस समय मांस ग्रहण कर सकता है जिस समय वह प्राण-संकट में पड़ा हो। प्राण की रक्षा किसी भी मूल्य पर की जानी चाहिए, क्योंकि जीवित रहने पर ही कोई धार्मिक कार्य किया जा सकता है। अहिंसा तथा वैदिक यज्ञ की समस्या को सुलझाते हुए इसमें राजा विचक्षणु तथा नारद के शब्दों में यज्ञ में दी गई पशुबलि की बहुत ही भर्त्सना की गई है। इसके अलावा, इस उलझन की मुख्य गांठ "अज" शब्द के अर्थ को भी शान्तिपर्व में स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार "अज" शब्द का अर्थ "अन्न" होता है। अतः जो लोग यज्ञ में अन्न की हवि न देकर पशुबलि करते हैं, वे घोर अपराध करते हैं। अनुशासनपर्व में अहिंसा को अन्य धर्मों का स्रोत या उद्गम-स्थान बताया गया है। क्योंकि यह परम धर्म, परम तप, परम सत्य,

परम संयम, परम दान, परम फल, परम ज्ञान, परम मित्र एवं परम सुख है। यह इतनी महान् है कि इससे प्राप्त सुफल सौ वर्षों में भी वर्णित नहीं हो सकता।

गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान, भक्ति और कर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए अहिंसा के सिद्धान्त को बहुत बड़ी आन्तरिक शक्ति प्रदान की है, जिसकी जानकारी एक विशेष विचार-विमर्श से होती है। इसके अनुसार जो ज्ञानी है, पण्डित है, वह बड़े-छोटे सभी जीवों को समान देखता है। वह अपने आप में अन्य जीवों को और अन्य जीवों में अपने को देखता है। ऐसा करने से वह सदा हिंसा करने से बचता है, क्योंकि वह रागद्वेष का शिकार नहीं होता है। एक भक्त के लिए उन्होंने उपदेश दिया है कि वह अपने कर्तापन को ध्यान में न लाये, जैसा कि अर्जुन को समझाते हुए उन्होंने कहा है कि इस संसार को जन्म देनेवाला, पालनेवाला तथा संहार करनेवाला मैं स्वयं हूँ। युद्ध-क्षेत्र में जितने भी लोग खड़े हैं, उन्हें मैं मार चुका हूँ, तुम्हें उन्हें मारने में एक निमित्तमात्र बनना है। कर्म के सिद्धान्त को व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि आदमी की प्रकृति ही ऐसी है कि वह एक क्षण भी कुछ किये बिना नहीं रह सकता। किन्तु कार्य करने में उसे अपने मन में फल की कामना नहीं करनी चाहिए। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् कर्ता का अधिकार कर्म पर होता है, उसके फल पर नहीं। जब फल के प्रति व्यक्ति को राग या मोह नहीं होगा तो निश्चित ही वह द्वेष से दूर रहेगा, और राग तथा द्वेष के अभाव में वह हिंसा करने से वंचित होगा। किन्तु एक सच्चा ज्ञानयोगी या भक्त या कर्मयोगी बनना कोई आसान बात नहीं। इसके लिए कठिन तपस्या एवं त्याग की आवश्यकता होती है। तप के विभिन्न रूप होते हैं, जिनमें अहिंसा भी एक है। इसके अलावा श्रीकृष्ण ने ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ तथा तपयज्ञ पर बल दिया है, जिनमें वैदिक यज्ञों की तरह पशु-बलि की आवश्यकता नहीं होती।

महाभारत की तरह पुराणों में भी अहिंसा पूर्ण प्रकाशित हुई है। वायुपुराण में मन, वाणी एवं कर्म से अहिंसा का पालन करने का उपदेश दिया गया है। अन्य ग्रन्थों से भिन्न इसमें उस भिक्षु को भी हिंसा करने का दोषी ठहराया गया है, जिसके द्वारा अनिच्छा से या अनजाने

हिंसा हो जाती है। विष्णुपुराण में यज्ञ में हवि के रूप में प्रयोग होने-वाली सभी वस्तुओं के नाम दिये हैं, किन्तु उसमें किसी भी प्रकार का मांस या मछली का विधान नहीं है। इससे यह बात स्पष्ट-सी हो जाती है कि विष्णुपुराण यज्ञ में पशुबलि देने के पक्ष में नहीं है। इसके अनुसार यज्ञ में पशुबलि देने का मतलब है विष्णु की बलि देना, क्योंकि विष्णु सर्वव्यापक हैं, वे सभी जीवों में निवास करते हैं। इसने हिंसा का संबंध विभिन्न प्रकार के पापों से बताया है; हिंसा से तरह-तरह के पाप पैदा होते हैं। अग्निपुराण में भी अहिंसा की महत्ता को बढ़ाते हुए इसकी तुलना हाथी के पदचिह्नों से की गई है। मत्स्यपुराण के अनुसार अहिंसा मुनिव्रतों में से एक है। कोई व्यक्ति जितना पुण्य चार वेदों को पढ़कर तथा सत्य बोलकर प्राप्त करता है, उससे कहीं ज्यादा पुण्य वह अहिंसाव्रत का पालन करके प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मपुराण में मन, वचन तथा काय से पाला गया अहिंसाव्रत स्वर्गप्राप्ति तथा मुक्ति का एक साधन कहा गया है। नारदपुराण में सत्य से अहिंसा का स्थान ऊंचा बताते हुए यह कहा गया है कि वही सत्य वचन है जिससे किसी का विरोध न हो, किसी को कष्ट न पहुँचे। इसके अनुसार अहिंसा यम के विभिन्न रूपों में से एक है। जैसा कि बृहद्धर्मपुराण बताता है, श्रद्धा, अतिथिसेवा, सब प्राणियों से आत्मीयता, आत्म-शुद्धि आदि अहिंसा की विभिन्न विधियाँ हैं। कूर्म्मपुराण ने अहिंसा को ज्ञानी और ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु इन सभी वर्णों एवं सभी आश्रमों के लिए आवश्यक कहा है। भागवत-पुराण के अनुसार अहिंसा धर्म के तीस लक्षणों मे प्रमुख स्थान रखती है।

ब्राह्मण-दर्शन में भी हिंसा-अहिंसासंबंधी बृहद् विवेचन मिलता है। योग ने अहिंसा को यम का एक अंग माना है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह महाव्रत हैं जो जाति, देश, काल तथा परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते। इसके अनुसार हिंसा की जाती है, करायी जाती है तथा अनुमोदित होती है। सांख्य और मीमांसा ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के संबंध में काफी तर्क-वितर्क किया है। सांख्य ने वैदिक यज्ञ में होनेवाली पशुबलि को दोषपूर्ण बताया है, लेकिन मीमांसा का विचार इसके विपरीत है यानी मीमांसा

"वैदिकी हिंसा" का पक्षपाती है। शंकराचार्य (अद्वैतवेदान्ती) तथा रामानुज, वल्लभ (वैष्णव) आदि ने भी यज्ञ में होनेवाली पशुबलि को निर्दोष ही माना है।

बौद्ध परम्परा में अहिंसा के बजाय मैत्री भावना को अधिक प्रधानता मिली है। अहिंसा को मित्रता का एक साधन माना गया है। दीघनिकाय में आरम्भिक, मध्यम तथा महा तीन प्रकार के शीलों की चर्चा करते हुए अहिंसा को प्रस्तुत किया गया है। इसने अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि को शीलों के अन्तर्गत स्थान दिया है। तेविज्जसुत्त में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा भावनाओं का, ब्रह्मा की सलोकता प्राप्त करने के मार्ग के रूप में, वर्णन मिलता है। संयुत्तनिकाय के अन्तर्गत 'ब्राह्मण संयुत्त' के अहिंसासुत्त में बुद्ध ने 'अहिंसक' शब्द को पारिभाषित करते हुए कहा है कि जो शरीर वचन तथा मन से किसी भी प्राणी को नहीं सताता, कष्ट नहीं पहुंचाता, वही अहिंसक है। गाय मारनेवाले (गोघातकसुत्त), चिड़िमार (पिण्डसाकुणीसुत्त), भेड़ों को मारनेवाले कसाई (निच्छवोरब्भिसुत्त)आदि जितने भी हिंसक हैं, उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है। यज्ञ भी वही हितकर होता है जिसमें बकरे, गाय आदि की हिंसा नहीं होती है। प्रमाद, जिससे विभिन्न प्रकार के अनिष्ट होते हैं, सदा त्याज्य है तथा अप्रमाद ग्राह्य है। भिक्षु को सदा अप्रमत्त होकर ही विहार करना चाहिए। अप्रमाद सबसे बड़ा धर्म है, इसके अन्दर अन्य सभी धर्म आ जाते हैं, जैसे हाथी के पदचिह्नों के भीतर अन्य जीवों के पदचिह्न आ जाते हैं। इससे प्राप्त हुई मित्रता में सब प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, अर्थात् सबसे मित्रता करनेवाला निर्भय हो जाता है। अतः जिसमें मित्रता या कल्याणमित्रता का शुभागम हो जाता है, उसमें मानों मोक्ष-प्राप्ति के लक्षण दीखने लगते हैं। सुत्तनिपात के 'मेत्तसुत्त' में सभी प्राणियों के प्रति मित्रता के भाव को ब्रह्मविहार की संज्ञा दी गई है, जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्मज्ञान कहा जा सकता है। इसके अनुसार जो व्यक्ति शान्तिपद (मोक्ष) को प्राप्त करना चाहता है उसे जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान सभी जीवों के कल्याण की बात सोचनी चाहिए। अन्य प्राणियों के प्रति उसके मन में वैसी ही भावना

होनी चाहिए, जैसी एक माँ के दिल में अपने एकलौते पुत्र के प्रति होती है। धम्मपद में कहा गया है कि जो जीव अन्य जीवों को मारकर स्वयं सुख प्राप्त करना चाहता है, वह कभी भी सुख नहीं पाता और इसके विपरीत जो व्यक्ति अहिंसापूर्ण संयमित जीवन व्यतीत करता है, वह कभी दुःख नहीं प्राप्त करता है तथा अच्युतपद की प्राप्ति करता है। विनयपिटक में भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार पर प्रकाश डालते हुए उन्हें जीवहिंसा से अपने को बचाने का उपदेश दिया गया है। जो भिक्षु मनुष्य अथवा अन्य जीवों को जान से मारता है या दूसरों से मरवाता है या मारनेवाले की बड़ाई करता है अर्थात् हिंसा का अनुमोदन करता है, वह पाराजिक समझा जाता है। वह साधु-समाज में रहने के लायक नहीं होता। यदि भिक्षु जमीन खोदता है या खुदवाता है, वृक्ष काटता है अथवा कटवाता है तो इन सभी हिंसापूर्ण कार्यों के लिए उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। क्योंकि ये सभी कार्य दोषपूर्ण हैं। उसे एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के लिए ताड़पत्र आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। चमड़े का प्रयोग भी साधु के लिए वर्जित है। परन्तु इन सभी निषेधों के कुछ अपवाद भी बताये गये हैं, जैसे भिक्षु बीमारी की अवस्था में दवास्वरूप मांस, चर्बी तथा खून का उपयोग कर सकता है। वह मांस या मछली ग्रहण कर सकता है, यदि गृहस्थ अपने निमित्त तैयार किये हुए मांस अथवा मछली में से उसे भिक्षास्वरूप देता है। किन्तु वैसा मांस या वैसी मछली उसे कभी भी नहीं खानी चाहिए, जो उसी के निमित्त मारी गई हो। विशुद्धिमार्ग में चेतनाशील तथा चेतसिकशील का संबंध अहिंसा के साथ बताया गया है। इसके अलावा इसमें चार भावनाओं—मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा को विवेचित करते हुए, क्षमा का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। क्षमा पर ही मैत्रीभावना आधारित है। अतः मैत्रीभावना को दृढ़ करने के लिए क्षमाभाव को अपनाना चाहिए। बोधिचर्यावतार में परहित-भावना तथा मैत्रीभावना को श्रेष्ठ दिखाते हुए कहा गया है कि द्वेष के समान कोई पाप नहीं है और क्षमा के समान कोई तप नहीं है।

सिक्ख-परम्परा में हिंसा का विरोध करते हुए यह कहा गया है कि किसी प्राणी की हत्या करना योग (यज्ञ) नहीं कहला सकता।

साथ ही अहिंसा के समर्थन में सबकी भलाई तथा आपस के प्रेम को प्रधानता दी गई है। यहाँ तक कि प्रेम किए बिना ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकता, ऐसा भी कहा गया है।

पारसी-परम्परा प्रेमभाव की व्यापकता पर बल देते हुए यह कहती है कि शत्रु को भी प्यार करके अपना मित्र बना लेना चाहिए। किन्तु इसका यह सिद्धान्त स्वयं बाधित हो जाता है और संकुचित भी जान पड़ता है जब यह कहती है कि वे पशु-पक्षी जो मुझे किसी प्रकार का अहित नहीं पहुँचाते अथवा हमारा हित करते हैं उन्हें मारना या किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना दोषपूर्ण कर्म है लेकिन वे पशु-पक्षी जो हमारा अहित करते हैं उन्हें मारना या कष्ट पहुँचाना दोष-रहित कर्म है। यहाँ पर अहिंसा का सिद्धान्त स्वार्थपरता से प्रभावित दिखाई पड़ता है।

यहूदी-परम्परा में अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को प्रकाशित करते हुए यह कहा गया है कि चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो तथा अपने पड़ोसी की स्त्री अथवा अन्य किसी वस्तु पर बुरी नजर न रखो और विधेयात्मक पक्ष की पुष्टि में बन्धुत्व के भाव को प्रस्तुत किया जाता है। इसमें अहिंसा का सामाजिक रूप प्रकट होता है।

ईसाई-परम्परा प्रतिकार के भाव का विरोध करती है। शत्रु से भी प्यार करो, उसके प्रति कोई गलत व्यवहार न करो, मन में वैर-भाव न लाओ। यदि कोई तुमसे एक वस्तु माँगता है तो अपनी दूसरी वस्तु भी उसे दे दो। पड़ोसी से प्रेम करो तथा शत्रु से भी। कारण, जहाँ पर विनम्रता है, बन्धुत्व है वहीं पर ईश्वर है। इतना ही नहीं इसमें दान की भी बड़ी ऊँची महत्ता दिखाई गई है।

इस्लाम में गाली, क्रोध, लोभ, चुगलीखाना, रिश्वत लेना, बेई-मानी करना आदि को त्यागने का उपदेश दिया गया तथा भाईचारा, दान, दया, क्षमा, मैत्री, विनम्रता, उदारता आदि को ग्रहण करने को कहा गया है। इन उपदेशों से ज्ञात होता है कि इस्लाम भी हिंसा-भाव का विरोधी और अहिंसाभाव का समर्थक है। किन्तु वहीं पर मौलवियों ने यह कहा कि खुदा ने आदमी को सबसे ऊँचा जीव मानकर

अन्य सभी जीवों पर उसको यह अधिकार दिया है कि वह उन्हें अपने काम में लाए अर्थात् अपने भोजनार्थ वह अन्य जीवों की हत्या भी कर सकता है, यह बात मनुष्य की स्वार्थपरता की द्योतक है और अहिंसा-सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

ताओ धर्म के प्रणेता लाओत्से ने सबसे ज्यादा इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति कर्म करे किन्तु उसके कर्त्तापन एवं फल पर विचार न करे। यह सिद्धान्त गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की पुष्टि करता है। इससे अहिंसा को भी बहुत बड़ा समर्थन मिलता है। इससे भी आगे बढ़कर इनका यह कथन है कि हिंसा से जो घाव पैदा हो जाये उस पर प्यार का मरहम और दया की पट्टी लगाओ। अर्थात् हिंसा का प्रतिकार मत करो, उसे अहिंसा से शान्त करो। कनफ्यूशियस ने अपने शिष्यों को शिक्षा देते हुए कहा कि प्यार की बाढ़ ला दो, सर्वत्र प्यार का संचार करो। जो अच्छा व्यक्ति होता है वह सबका भला करता है। पीड़ितों की सहायता करो। दान दो पर केवल पैसे का ही नहीं बल्कि हार्दिक सहानुभूति का भी। इन बातों से अहिंसा के सामाजिक रूप को प्रश्रय मिलता है।

सूफ़ी सम्प्रदाय में सांसारिक सभी वस्तुओं के त्याग का उपदेश दिया गया है जिससे हिंसा अहिंसा-सिद्धान्त अलग एवं अछूता रह जाता है, फिर भी इसमें प्रेमभाव को सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिली है। इस सम्प्रदाय में प्रेम को ही ईश्वर माना गया है। ऐसा मानकर इसने निश्चित ही अहिंसा को बहुत महत्त्व दिया है।

शिन्तो धर्म में पूजा-पाठ संबंधी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है उसमें मांस का प्रयोग भी मिलता है और यह हिंसा का रूप है। किन्तु बाद में पाए जानेवाले उपदेशों में विश्व को एक परिवार माना गया है, साथ ही क्रोध को त्याग देने के लिए भी कहा गया है। इससे इतना तो समझना ही चाहिए कि इस धर्म का आध्यात्मिक पक्ष अहिंसा का भले ही समर्थन न करता हो, पर सामाजिक पक्ष अहिंसा का समर्थक एवं उदार है।

जैनधर्म में हिंसा तथा अहिंसा का बड़ा ही विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन हुआ है। इसके अनुसार प्रमादवश किसी भी प्राणी का घात करना

अथवा उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा कही जाती है। हिंसा मन, वाणी तथा शरीर से की जाती है; इन्हें योग कहा गया है। यह की जाती है, करवाई जाती है तथा अनुमोदित होती है। करना, करवाना और अनुमोदन करना, इसके तीन करण हैं। तीन योग के आधार पर इसके दो स्वरूप देखे जाते हैं—भाव तथा द्रव्य, जिनके आधार पर हिंसा के चार भंग बनते हैं—भावहिंसा-द्रव्यहिंसा, भावहिंसा-द्रव्यहिंसा नहीं, भावहिंसा नहीं-द्रव्यहिंसा, न भावहिंसा-न द्रव्यहिंसा। प्रवचनसार के व्याख्याकार ने भाव तथा द्रव्य रूपों को ही अन्तरंग तथा बहिरंग नाम दिया है। प्राण का घात करनेवाली प्रवृत्ति अन्तरंग हिंसा है और बाह्य शरीर का घात करनेवाली बाह्य हिंसा। हिंसा की उत्पत्ति क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायों के कारण होती है। इन सबों की वजह से हिंसा के तीन भेद देखे जाते हैं – संरंभ, समारंभ तथा आरंभ। इन्हें दूसरे शब्दों में हिंसा का विचार, हिंसा के उपक्रम और हिंसा के क्रियान्वितरूप कह सकते हैं। चार कषाय तथा तीन — संरंभ समारंभ और आरंभ के संयोग से हिंसा के बारह भेद हो जाते हैं। फिर तीन योग और तीन करण के योग से हिंसा के १०८ भेद हो जाते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के प्राणवध, उन्मूलना, अविश्रम्भ, अकृत्य, घातना, मारण, हनन आदि तीस नाम तथा पाप, चण्ड, रौद्र, क्षुद्र आदि २२ रूप बताये गये हैं।

जैन मतानुसार जीव छः प्रकार के होते हैं जिन्हें षट्काय कहते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय। वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवधारी होते हैं, इस बात को सामान्यतौर से सभी मत वाले मानते हैं, लेकिन पृथ्वी, अप्, अग्नि तथा वायु भी स्वतः प्राणवान हैं ऐसा सिर्फ जैनधर्म ही मानता है। यह इसकी अपनी विशेषता है। इन षट्कायों की हिंसा विभिन्न कारणों से होती है जैसे—पृथ्वीकाय की हिंसा पृथ्वी खोदने, तालाब-बावड़ी खुदवाने, महल बनवाने आदि से होती है। अप्काय की हिंसा स्नान करने, पानी पीने, कपड़े धोने आदि से होती है। भोजन पकाना, लकड़ी जलाना आदि से अग्निकाय की हिंसा होती है। सूप से अनादि साफ करना, ताड़ के पंखे या मोरपंख से हवा करना आदि वायुकाय की

हिंसा के कारण हैं। घर बनाना, बाड़ बनाना, विविध प्रकार के बर्तन बनाना, नौका, चंगेरी, हल, शकट आदि बनाना वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण हैं। इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम के कारण विविध त्रस प्राणियों की हिंसा होती है।

जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं। तेरापंथी लोगों ने माना है कि हिंसा चाहे किसी भी प्राणी की हो, सब बराबर है। किन्तु हिंसा-अहिंसा की दृष्टि से जीवों में अन्तर देखा जाता है, जैसा कि नेमिनाथ के जीवन-चरित्र में पाया जाता है। वे अपनी शादी के समय स्नान करते हुए अनेक अप्काय जीवों की हिंसा के संबंध में कुछ नहीं कहते हैं लेकिन शादी के अवसर पर कटने के लिए बंधे हुए भेड़-बकरों की चिल्लाहट को सुनकर द्रवित हो जाते हैं तथा उन सभी जानवरों को बन्धन से मुक्त करके स्वयं तपस्या करने चले जाते हैं। इसके अलावा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा में कषाय की मात्रा बिल्कुल ही न्यून होती है किन्तु त्रसकाय अथवा पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में कषाय की मात्रा बहुत ही अधिक होती है। पंचेन्द्रिय जीव अपने को किसी भी प्रकार के कष्ट से बचाने का प्रयास करते हैं, जिसके फलस्वरूप हिंसक को किसी प्राणी की हिंसा करने के लिए अपने अन्दर अधिक क्रूरता तथा क्रोध का प्रबल आवेग लाना पड़ता है। अतः कषाय की मात्रा बढ़ जाती है। जिस हिंसा में कषाय की मात्रा जितनी ही अधिक होती है, वह उतनी ही बड़ी हिंसा होती है और जिसमें कषाय की मात्रा जितनी ही कम होती है, वह उतनी ही छोटी हिंसा होती है क्योंकि कषाय ही हिंसा का कारण है। तात्पर्य यह है कि हिंसा के भी स्तर होते हैं।

हिंसा करनेवाले कुछ विशेष लोग तथा कुछ विशेष जातियाँ भी होती हैं। जैसाकि प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—सूअर का शिकार करनेवाला, मछली मारनेवाला, पक्षियों को मारनेवाला, मृगादि का शिकार करनेवाला आदि कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनके लिए हिंसा करना एक व्यापार-सा होता है। इसी तरह शक, यवन, शबर, बब्बर, मुरुण्ड, पक्कणिक, पुलिन्द, डोंब आदि जातियों को भी प्रश्नव्याकरण सूत्र ने हिंसक जातियाँ घोषित किया है।

हिंसा आठ कर्मों की गांठ, मोहरूप, मृत्यु का कारण तथा नरक में ले जानेवाली है, जैसा कि आचारांगसूत्र में कहा है। हिंसा करनेवाला यदि तपस्या के कारण देवता बनता है, तोभी वह नीच एवं असुर संज्ञक देवता ही होता है। इतना ही नहीं बल्कि जो हिंसक, मृषावादी, लुटेरा, महारंभी तथा मांसभक्षक है वह नरकायु का इन्तजार वैसे ही करता है जैसे बकरा पालनेवाला मेहमान का इन्तजार करता है। अर्थात् हिंसक के लिए नरक-प्राप्ति की संभावना उतनी ही रहती है, जितनी मेहमान के आ जाने पर घर पर रहे हुए बकरे के कटने की।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह हिंसा के पोषकतत्त्व हैं यानी इन सबसे हिंसा की पुष्टि होती है। असत्य के तीन भेद होते हैं – गर्हित जिसमें दुष्टतापूर्ण वचन, चुगली, कठोर वचन, प्रलाप आदि की गणना होती है; सावद्य अर्थात् छेदने, भेदने, मारने, शोषण करने आदि के निमित्त प्रयुक्त शब्द और अप्रिय अर्थात् अप्रीति, भय, शोक, कलह आदि पैदा करनेवाले शब्द। इस तीन प्रकार के असत्य से विभिन्न रूपों में प्राणी को कष्ट पहुंचता है या हिंसा होती है। चोरी भी हिंसा का कारण है, क्योंकि प्रिय वस्तु का हरण भी कष्टदायक होता है। अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन से स्त्री की योनि, नाभि, कुच, कांख आदि स्थानों में रहनेवाले सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है। परिग्रह के कारण व्यक्ति दूसरे के उचित अधिकार को हड़पना चाहता है, जिससे राग और द्वेष की पैदाइश होती है, जो हिंसा के मूल हैं।

हिंसा की तरह अहिंसा के साथ भी तीन योग तथा तीन करण होते हैं। अहिंसा मन, वाणी और काय से की जाती है अर्थात् इसके दो स्वरूप हैं – भाव अहिंसा तथा द्रव्य अहिंसा, जिनके आधार पर इसके चार भंग होते हैं, जैसे हिंसा के होते हैं। अहिंसा स्वयं की जाती है, दूसरे से करवाई जाती है तथा अनुमोदित भी होती है। इसी कारण से अहिंसा को परिभाषित करते हुए आवश्यकसूत्र में कहा गया है कि तीन योग तथा तीन करण से किसी भी प्राणी का घात न करना ही अहिंसा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा के निर्वाण, निर्वृत्ति, समाधि या समता, शान्ति, कीर्ति, कान्ति, रति, विरति, श्रुतांग, तृप्ति, प्राणि-रक्षा आदि साठ नाम बताये गये हैं।

अहिंसा के दो प्रकार होते हैं–निषेधात्मक तथा विधेयात्मक। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना निषेधात्मक अहिंसा होती है। यह हिंसात्मक क्रिया का विरोध या निषेध करती है। लोगों की सामान्य जानकारी में हिंसा का निषेधात्मक प्रकार ही होता है। किन्तु अहिंसा के विधेयात्मक रूप या प्रकार भी होते हैं, जैसे दया करना, सहायता देना, दान देना आदि। दया के चार अंग होते हैं— द्रव्यदया अर्थात् अपनी ही आत्मा की तरह दूसरों की आत्मा को समझते हुए किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना; भावदया – आत्मगुणों का विकास करना; स्वदया—सांसारिक मोह-ममता से अपने को दूर रखने का प्रयास तथा पर-दया—दूसरे के लिए सुख-सुविधा लाने एवं दुःख दूर करने के निमित्त प्रयास करना।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग दान कहा जाता है। इसके चार अंग होते हैं—विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाता की विशेषता तथा पात्र की विशेषता। संग्रहदान, भयदान, कारुण्यदान आदि इसके दस प्रकार होते हैं। इससे पुण्य की प्राप्ति होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में जैन विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। विशेषतौर से अनुकम्पादान के विषय में तेरापंथियों का मत है कि इनसे एकान्त पाप होता है। इनके अनुसार सिर्फ संयति लोग ही दान प्राप्त करने के लिए सुपात्र होते हैं। इन लोगों के अलावा जो भी हैं वे दान पाने के अधिकारी नहीं होते। कारण, वे कुपात्र होते हैं। कुपात्र को दान देने से एकान्त पाप होता है। इस मत की पुष्टि जयाचार्य के द्वारा 'भ्रमविध्वंसन' में हुई है। किन्तु इनके मत के एक-एक सूत्र का खण्डन आचार्य जवाहिर-लाल जी ने 'सद्धर्ममण्डन' मे किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुकम्पादान पापजनक नहीं बल्कि पुण्यजनक है।

अहिंसा से यद्यपि जनकल्याण होता है, दूसरों की रक्षा होती है, इसका मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण है। अहिंसाव्रत के पालन में आत्म-संयम ही साध्य का काम करता है। यदि इससे लोक-कल्याण होता है तो मात्र इस सिलसिले में कि आत्म-कल्याण के लिए प्रयास किया जाता है।

जिस प्रकार असत्य, स्तेय आदि हिंसा के पोषक तत्त्व हैं, उसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्त्व हैं। इनमें से किसी एक को भी त्याग देने से अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन नहीं हो सकता।

जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद का अहिंसा से बहुत घनिष्ठ संबंध है। जिस प्रकार आचार में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार विचार में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन है। अनेकान्तवाद एक प्रकार से विचारात्मक अहिंसा है। महावीर के समय में आत्मनित्यवाद, उच्छेदवाद आदि बहुत-सी दार्शनिक विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं जिनके फलस्वरूप समाज या दार्शनिक क्षेत्र में मतभेद अपना बृहद्रूप धारण कर रहा था। इसलिए महावीर ने सभी का एक समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत किया, जो वास्तव में किसी भी वस्तु का सही-सही ढंग से विवेचन करता है। किसी का भी ज्ञान एक सीमा तक ही होता है और उसी सीमा तक वह सही होता है। किन्तु अपनी सीमा का उल्लंघन करके यदि वह पूर्णज्ञान की जानकारी का दावा करते हुए दूसरे व्यक्तियों को गलत साबित करने का प्रयास करता है तो, वहाँ वह अपने आग्रह के कारण दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, जिससे हिंसा होती है। अतः किसी भी व्यक्ति के लिए अपने ज्ञान की यथार्थता को एक विशेष अपेक्षा में व्यक्त करना सही और श्रेयस्कर होता है। इसके लिए महावीर ने 'स्यात्' शब्द की खोज की। इसके संयोग से व्यक्ति अपने ज्ञान को एक सीमा तक सही दिखाता है तथा अन्य ज्ञान पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करता। इसे ही 'स्याद्वाद' कहते हैं। इस सिद्धान्त का अन्वेषण इसलिए भी किया गया कि महावीर के अनुसार कोई भी वस्तु अनेकधर्मात्मक होती है। यदि एक दृष्टि से वह सत् है तो दूसरी से असत्; यदि वह अपने मौलिक रूप में नित्य है तो परिवर्तनीय पर्यायों के कारण अनित्य भी है। अतएव जैनधर्म में अहिंसा का सिद्धान्त तात्त्विक सिद्धान्तों से भी काफी निकटता का संबंध रखता है।

अहिंसा का सिद्धान्त अपने मौलिक रूप में सभी अपवादों से परे था; इसके साथ कोई भी अपवाद नहीं था। अहिंसा पालन करनेवाले के लिए मात्र यही नियम था कि वह किसी भी जीव को किसी प्रकार

कष्ट न पहुँचाए, भले ही स्वयं उसे कितना भी कष्ट क्यों न झेलना पड़े। इसका ज्वलन्त उदाहरण महावीर के जीवन में पाया जाता है। किन्तु बाद में चलकर इस नियम के कुछ अपवाद भी बन गये।

अहिंसा तथा सत्य एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् एक को छोड़कर दूसरे को निभाना असंभव-सा हो जाता है। किन्तु कभी-कभी अहिंसा की पूर्ति के लिए सत्य को त्याग दिया जाता है। इसीलिए कहा गया है कि सत्य यदि कष्टदायक हो तो उसे त्याग देना चाहिए, अन्यथा हिंसा हो जाती है।

जैनधर्म में श्रावक तथा श्रमण के लिए हिंसा-अहिंसा का विचार अलग-अलग किया गया है। श्रावक के लिए बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमाओं का विधान किया गया है। बारह व्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत होते हैं। इन सबों के द्वारा श्रावक के चरित्र को अहिंसामय बनाने का प्रयास किया गया है, फिर भी गृहस्थों अथवा श्रावक को कुछ छूट मिली है। श्रावक के लिए हिंसा, मृषावाद, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह के स्थूल रूप से बचना विहित है। अतः इनके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। क्योंकि श्रमणों की तरह ये अहिंसादि व्रतो का पूर्णरूपेण पालन नहीं करते। गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा प्रतिमाओं के द्वारा भी श्रावकों के लिए हिंसा-अहिंसासंबंधी बहुत-सी मर्यादाएँ कायम की गई हैं। श्रमणों के लिए पंच महाव्रत, रात्रि-भोजन-विरमण व्रत, समिति, गुप्ति, षडावश्यक, लिंगकल्प, वस्त्रमर्यादा, पात्र-मर्यादा, आहारमर्यादा तथा विहारमर्यादा का विधान किया गया है। श्रमणों के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा की छूट नहीं दी गई है। इनके लिए जितने भी नियमों के विधान किए गए हैं, वे सिर्फ इसीलिए हैं कि इनके द्वारा किसी भी प्रकार की हिंसा न हो।

गांधीवाद ने अहिंसा का अर्थ किया है पूर्ण निर्दोषता। प्राणि-मात्र के प्रति दुर्भाव या दुराव का पूर्ण त्याग। यह एक महाव्रत है। इससे सत्येश्वर की प्राप्ति होती है। यानी सत्य को प्राप्त करने का एक साधन है। गांधीजी की दृष्टि में अहिंसा से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं हो सकता। इसके दो स्वरूप होते हैं—भाव तथा द्रव्य। कारण यह मन, वाणी तथा काय तक विस्तृत है। अहम् पर आधारित जितनी भी क्रियाएँ होती

हैं, वे सभी हिंसा होती हैं तथा स्वार्थत्याग, असंयमित भोगप्रवृत्ति का त्याग और जनकल्याण के निमित्त किए गए सभी कार्य अहिंसा के रूप होते हैं। यह सिर्फ मनुष्य जाति के लिए ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए अनुगम्य है। यह भावप्रधान होती है, इसलिए अधिक प्राणियों के हित के लिए कम प्राणियों की हिंसा अथवा उसी प्राणी को बड़े दुःख से मुक्त करने के लिए किसी प्राणी को कुछ कष्ट पहुँचाना हिंसा नहीं समझी जानी चाहिए। इसी विचार से गांधीजी ने साठ कुत्तों (जिनमें से एक पागल था और अन्य सभी को उसने काट खाया था) को मरवा देनेवाले व्यक्ति को भी निर्दोष कहा है।

अहिंसा मानसिक स्थिति होती है और यह क्षत्रिय का गुण है अर्थात् कायर इसे नहीं अपना सकता; इसे अंधप्रेम भी नहीं समझा जा सकता। यह रूढ़िवाद तथा उपयोगितावाद से भिन्न है। दया और दान अहिंसा का ही रूप है। किन्तु दान उसी व्यक्ति को देना उचित होता है जो अपंग और अपाहिज हो वरना समाज में आलस्य और निष्क्रियता का राज्य हो जाता है।

अहिंसा ही सत्य वस्तु है। इसका संबंध ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहादि से भी अटूट है। यज्ञ में भी इसका स्थान है। यद्यपि वैदिक नियमानुसार यज्ञ में होनेवाली हिंसा को कर्मकाण्डी लोगों ने हिंसा नहीं माना है। किन्तु गांधीजी के अनुसार यह पूर्ण सत्य नहीं है। भले ही वह यज्ञ में हो अथवा कहीं और। यज्ञ में की गई हिंसा अनिवार्य हिंसा कह दी गई है लेकिन अनिवार्य हिंसा की तो कोई निश्चित परिभाषा नहीं होती। खेती में की जानेवाली हिंसा भी अनिवार्य हिंसा के अन्तर्गत ही आती है।

अहिंसा का आर्थिक रूप खादी तथा स्वदेशी माल के प्रयोग में दिखाया गया है। अछूतोद्धार तथा जात-पाँत-उन्मूलन इसका सामाजिक रूप है। अहिंसा का राजनीतिक रूप सत्याग्रह तथा असहयोग आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ है।

वैदिक, बौद्ध, सिक्ख आदि जैनेतर एवं जैन परम्पराएँ तथा गांधीवाद इस बात से सहमत हैं कि राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी भी

प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा है और प्राणि-मात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना अहिंसा है। हिंसा मन, वाणी तथा काय (जिन्हें जैनमतानुसार योग की संज्ञा दी गई है) से होती है। अतः इसके आधार पर हिंसा के दो रूप होते हैं—भाव तथा द्रव्य। इसके तीन करण भी होते हैं अर्थात् यह स्वयं की जाती है, दूसरों से करवाई जाती है तथा अनुमोदित होती है। इसके संबंध में वैदिक, बौद्ध तथा जैन-परंपराओं के विचार मिलते-जुलते से हैं, तथापि 'करण' नाम इन्हें सिर्फ जैन-परंपरा में ही दिया गया है। जैनधर्म में संरंभ, समारंभ तथा आरंभ के और तीन योग, तीन करण के संयोग से हिंसा के कुल १०८ भेद माने गये हैं; वैदिक परंपरा के योग-दर्शन (ब्राह्मणदर्शन) के व्याख्याकार ने हिंसा के ८१ भेद बताये हैं; लेकिन बौद्ध-परंपरा एवं गांधीवाद आदि में ऐसी बात नहीं पाई जाती है।

जैनधर्म में जीव के छः प्रकार बताये हैं जिनकी हिंसा विभिन्न प्रकारेण होती है। किन्तु अन्य परंपराओं में जीव के अस्तित्व पर इतनी सूक्ष्मता से विचार व्यक्त नहीं किया गया है। न इन सभी की हिंसा के अलग-अलग मार्ग ही दिखाये गये हैं। वनस्पतिकाय की हिंसा पर बौद्ध-परंपरा एवं गांधीवाद ने विचार प्रकट किया है, लेकिन पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय की हिंसा का प्रश्न इन सबों के सामने नहीं आता, क्योंकि इन सबों की विचार-शृंखला में यह बात आई ही नहीं है कि ये काय स्वतः प्राणवान होते हैं अथवा नहीं। यदि कहीं पर अग्नि आदि से हिंसा होने की बात आती भी है तो इसलिए कि अग्नि से छोटे जीवों की जो दीखते तक नहीं, हिंसा की संभावना रहती है, इसलिए नहीं कि वह स्वयं प्राणवान है। जैन मत में अग्नि को जलाने से अन्य सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है और अग्नि को बुझाने से अग्निकाय की हिंसा होती है। ऐसी हालत में हिंसा से बचने के लिए एक व्यक्ति को चाहिए कि वह न अग्नि जलाए और न बुझाए ही।

हिंसा के पोषक तत्त्व हैं—असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह। ऐसे ही अहिंसा के भी पोषक तत्त्व हैं—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और

अपरिग्रह। इस विचार से प्रायः वैदिक, बौद्ध आदि सभी परंपराएँ सहमत हैं पर जैनधर्म ने इस पर काफी जोर दिया है।

मांस-भक्षण हिंसा का ही एक रूप है अथवा कारण है। वैदिक परंपरा के प्रारम्भ में मांस-भक्षण का कोई निषेध नहीं किया गया है, बल्कि यज्ञ के द्वारा प्राप्त मांस को ग्रहण करना पुण्यजनक बताया गया है। किन्तु बाद में मांस-भक्षण पर कुछ नियंत्रण लाये गए हैं। मनुस्मृति में मांस-भक्षण और मांस-भक्षण-निषेध दोनों ही तरह की बातें मिलती हैं। इसमें एक जगह पर मांस लोलुपता के वशीभूत व्यक्ति के लिए चीनी आदि के बकरे या अन्य पशु-पक्षी बनाकर और उन्हें मारकर खाने का विधान किया गया है। ऐसा करने से, कहा जा सकता है कि व्यक्ति से भावहिंसा भले ही हो किन्तु द्रव्यहिंसा न होगी। आगे चलकर महाभारत आदि में विशेष आपत्ति की अवस्था में, जैसे प्राण-रक्षा के निमित्त मांस खाने की छूट मिली है। बौद्ध परंपरा में भी बुद्ध ने भिक्षुओं को दवा के रूप में खून, चर्बी तथा मांस के प्रयोग की अनुमति दी है। साथ ही यह भी कहा है कि भिक्षु उस मांस या मछली को ग्रहण कर सकता है जो गृहस्थों के द्वारा दी गई हो, और गृहस्थ ने भी उस मांस, मछली को भिक्षु के निमित्त नहीं बल्कि अपने लिए ही तैयार किया हो। परन्तु जैन-परंपरा में किसी भी स्थिति में मांस-भक्षण का विधान नहीं है।

इस प्रकार हिंसा-अहिंसा के सभी पहलुओं को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि जैनधर्म ने अहिंसा पर प्रकाश डालने अथवा इसे अपनाने में बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि का प्रयोग किया है, जो अधिक जगहों पर अपनी पराकाष्ठा को छूती है। जिसकी वजह से अहिंसा का सिद्धान्त अपने आप में सही होते हुए भी आचरण में अति कठिन हो गया है, और शायद यही कारण है, जिससे जैनधर्म का विस्तार पूर्ण रूपेण नहीं हो सका, जैसा कि बौद्धादि धर्मों का हो सका है।

आधार-ग्रन्थ-सूची

जैन-साहित्य

अनुकम्पा—रतनचन्द चोपड़ा, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९४८.

अमितगति-श्रावकाचार—भाषाटीकाकर्ता—पं॰ भागचन्द्रजी, अनन्तकीर्ति दि॰ जैन ग्रन्थ-माला, बम्बई, वि॰ सं॰ १९७९.

अहिंसा और उसके विचारक—मुनि नथमलजी, आदर्श साहित्य संघ, सरदार शहर (राजस्थान), १९५१.

अहिंसा और विश्वशान्ति—तुलसीरामजी, जैन श्वेता॰ तेरापंथी महासभा, कलकत्ता.

अहिंसा-दर्शन—उपाध्याय मुनि अमरचन्द्रजी, सं॰—पं॰ शोभाचन्द्र भारिल्ल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५२.

अहिंसा-दिग्दर्शन—विजयधर्मसूरि, यशोविजय जैन ग्रंथमाला, भावनगर, वि॰ सं॰ १९८४.

अहिंसा प्रदीप—पं॰ धीरेन्द्रकुमार शास्त्री, अखिल भारतीय अहिंसा प्रचारक संघ, काशी, वी॰ सं॰ २४६७.

आचारांग सूत्र—व्याख्याकार—आत्माराम जी, सं॰ मुनि समदर्शी, आचार्य आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६३-६४.

आचारांग सूत्र—(शीलांकाचार्य-टीका सहित), सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत १९२१.

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा—गणेशमुनि, सं॰—मुनि कान्तिसागरजी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६२.

आवश्यकसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

आचारांगसूत्र—व्याख्याकार— घासीलालजी, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८.

उत्तराध्ययनसूत्र—सं० रतनलाल दोशी, प्र०—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), वी० सं० २४८९.

उपासकदशांग सूत्र—अनु० आचार्य आत्मारामजी, सं०—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्र०—आ० आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६४.

उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—जुगलकिशोर मुख्तार, वीर-सेवा मंदिर, सरसावा (जि० सहारनपुर), १९४४.

कर्मप्रकृति—नेमिचन्द्र आचार्य, सं० एवं अनु०—हीरालाल शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४.

कर्मवाद - एक अध्ययन—सुरेशमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६५.

कर्मविपाक—देवेन्द्रसूरि, अनु०-पं० सुखलालजी, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, १९३९.

कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रह—संग्रहकर्ता—पं० कैलाशचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१९.

चौथा कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरि, अनु०—पं० सुखलालजी, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, १९२२.

जीवानुशासन—देवसूरि, प्र०—हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण, वि० सं० १९८४.

जैनागम - निर्देशिका—सं०—मुनि कन्हैयालाल, आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली, १९६६.

जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

जैनदर्शन—पं० महेन्द्रकुमार, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी १९५५.

जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९.

जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, तृतीय संस्करण, मथुरा, १९५५.

जैनधर्म, [illegible] कर्मविज्ञान—भानुविजयजी गणि, सं०—मुनि [illegible], वी० सं० २४९१.

जैन साहित्य का इतिहास—(पूर्व-पीठिका)—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १, लेखक—पं० बेचरदास दोशी, सं०—पं० दलसुख मालवणिया व डा० मोहनलाल मेहता, प्र०—पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग २—डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता, सं०—पं० दलसुख मालवणिया व डा० मोहनलाल मेहता, प्र—पा० वि शोध संस्थान, वाराणसी १९६६.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ३—डा० मोहनलाल मेहता, सं०-पं० दलसुख मालवणिया व डा० मोहनलाल मेहता, प्र०—पा०वि० शोध संस्थान, वाराणसी, १९६७.

जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी, १९५१.

जैन सिद्धान्त प्रदीपिका—आ० तुलसी, अनु०-मुनि नथमलजी, आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर (राजस्थान), वि० सं० २००२.

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह—भाग १-८—संग्रहकर्ता—भैरोदान सेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वी० सं० २४७१-७५.

ठाणांग सूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

तत्त्वार्थसूत्र—अनु०-मेवराजजी मुणोत, श्री रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, फलोधी, वि० सं० १९८९.

तत्त्वार्थसूत्र—व्याख्याकार—पं० सुखलाल संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, १९५२.

तीसरा कर्मग्रन्थ देवेन्द्रसूरि (हिन्दी अनुवाद सहित), आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारकमण्डल, आगरा, १९२७.

दर्शन और चिन्तन (खण्ड १-२)—पं० सुखलालजी संघवी, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७.

दशवैकालिकचूर्णि—जिनदासगणि, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेता० संस्था, रतलाम, १९३३.

दशवैकालिक—सं०—आनन्दसागरसूरि, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, वि० सं० २०१०.

दशवैकालिक सूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

दान कथा—हजारीमल सेठिया, बीकानेर, वि० सं० २०१०.

दूसरा कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरि (हिन्दी अनुवाद सहित), आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा, १९१८.

निरयावलिका—व्याख्याकार-अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

निशीथ : एक अध्ययन—पं० दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा.

निशीथ सूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

पंचम कर्मग्रन्थ—पं० सुखलालजी, आत्मानन्द जैन प्रचारक मंडल, आगरा, वीर सं० २४६८.

पिण्डनियुक्ति—भद्रबाहु, मलयाचार्यवृत्ति, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९१८.

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—अमृतचन्द्राचार्य, प्र०—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई, वी० सं० २४३१.

प्रवचनसार—कुन्दकुन्दाचार्य, सं०—ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५.

प्रश्नव्याकरण सूत्र—व्याख्याकार-अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

प्रश्नव्याकरण सूत्र—व्याख्याकार-घासीलालजी, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६२.

प्रश्नव्याकरण सूत्र—अनु० पं० घेवरचन्द बांठिया, प्र०—अगरचन्द भैरोदान सेठिया, पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वी० सं० २४७८.

प्रश्नव्याकरण सूत्र—सं०—पं० [illegible], मुक्तिविमलजी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९८६.

प्राकृत और उसका साहित्य—डा० मोहनलाल मेहता, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६६.

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६.

प्राकृत साहित्य का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१.

बृहत्कल्प सूत्र—व्याख्याकार-अमोलक ऋषि, हैदराबाद—सिकन्दराबाद जैन संघ, वीराब्द २४४६.

भगवती सूत्र (भाग १-७)—व्याख्याकार—घासीलालजी, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१-६४.

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान —डा० हीरालाल जैन, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२.

भिक्षुग्रन्थरत्नाकर—खण्ड १-२, सं०—आ० तुलसी, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६०.

भ्रमविध्वंसन—जयाचार्य, गंगाशहर, वि० सं० १९८०.

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रंथ—मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९६५.

मूलाचार —वट्टकेर स्वामी, सं०—पं० मनोहरलाल शास्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रंथमाला, १९१९.

योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, सं०—मुनि समदर्शी आदि, प्र०—ऋषभचन्द्र जौहरी किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३.

रायपसेणइय-सुत्त—व्याख्याकार—पं० बेचरदास जीवराज दोशी, गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वीर सं० २४६४.

वसुनंदि-श्रावकाचार—कोल्हापुर, १९०७.

व्यवहारसूत्र—व्याख्याकार-अमोलक ऋषि, हैदराबाद, सिकन्दराबाद जैनसंघ, वीराब्द २४४६.

व्याख्याप्रज्ञप्ति—अभयदेवसूरीश्वरविरचितवृत्तिसमलंकृता, ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे० संस्था, रतलाम, वि० सं० १९८५.

शुभाशुभ कर्मफल—स्वामी त्रिलोकचन्दजी, नवाशहर (पंजाब), १९१९.

श्रमणसूत्र—मुनि अमरचन्द्रजी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि० सं० २००७.

Heart of Jainism—Mrs. Sinclair Stevenson, London, 1915.

History of Indian Literature (Vol. II)—Maurice Winternitz, University of Calcutta, 1933.

History of the Canonical Literature of the Jainas—H. R. Kapadia, Surat, 1941.

Niyamasara –Kundakunda Acharya, Sacred Books of the Jainas, Vol. IX, Eng. Transl. by Uggar Sain, Central Jain Publishing House, Lucknow, 1931.

Outlines of Jaina Philosophy—Mohan Lal Mehta, Jain Mission Society, Bangalore, 1954.

Sacred Books of the East, Vol. XXII, Ed. F. Max Muller, Oxford, 1884.

Sacred Books of the East, Vol. XLV, Ed. F. Max Muller, Oxford, 1895.

Studies in Jaina Philosophy—Nathmal Tatia, Jain Cultural Research Society, Varanasi, 1951.

पत्रिकाएँ

अणुव्रत (पाक्षिक), अ० भा० अणुव्रत समिति, नई दिल्ली.

अमरभारती (मासिक), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा.

अहिंसा-वाणी (मासिक), अ० वि० जैन मिशन, अलीगंज.

जैन भारती (साप्ताहिक), जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता.

श्रमण (मासिक), पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी.

जैनेतर-साहित्य

अग्निपुराण—प्र०—मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५७.

[illegible]—पं० श्रीधर त्र्यम्बक पाठक, बम्बई, १९११.

अथर्ववेद—भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि० सं० १९८९.

अथर्ववेद—सं०—विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, होशियारपुर.

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया—दादा धर्माधिकारी, अ०भा०सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी.

अहिंसा (प्रथम और द्वितीय भाग)—सं०-कमलापति त्रिपाठी आदि, प्र०-जयनाथ शर्मा, काशी विद्यापीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९४८.

अहिंसा विवेचन—किशोरलाल घ० मशरूवाला, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९४२.

अंगुत्तरनिकाय (प्रथम भाग)—अनु०-भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७.

आज (दैनिक)—गुरुनानक विशेषांक, २१ नवम्बर १९६९, आज प्रेस, वाराणसी.

आत्मकथा (महात्मा गांधी की मूल गुजराती 'आत्मकथा' का अनुवाद)—अनु०-श्री हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली.

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्—वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९३२.

कूर्मपुराण (बिब्लिओथिका इण्डिका), एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल.

गांधी मीमांसा—पण्डित रामदयाल तिवारी, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९४१.

गांधीवाणी—संग्राहक एवं संपादक—श्री रघुनाथ सुमन, प्र०-साधना सदन, इलाहाबाद, १९४७.

गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ.

गांधी साहित्य—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९५१.

छान्दोग्योपनिषद् (सानुवाद शांकरभाष्यसहित)—गीता प्रेस, गोरखपुर.

तैत्तिरीयसंहिता—आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलि, [illegible].

दिल्ली-डायरी—मोहनदास करमचन्द गांधी, नव जीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, १९४८.

दीघनिकाय (भाग १-३)—सं०-भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, १९५८.

धम्मपद—अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी), बुद्धाब्द २४२४.

धम्मपद—भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, बनारस, १९५१.

नारदपुराण (हिन्दी भाषा टीका सहित)—अनु०- रामचन्द्र शर्मा, सनातन-धर्म प्रेस, १९४०.

पुराण विमर्श—बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

बापू और हरिजन—पब्लिकेशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९४९.

बोधिचर्यावतार - शान्तिदेव, अनु०-शान्तिभिक्षु शास्त्री, प्र०—भिक्षु प्रज्ञानन्द, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९५५.

बौधायनगृह्यसूत्र —सं०—श्रीनिवासाचार्य, गवर्नमेन्ट ओरियन्ट लायब्रेरी सीरीज ३२.

ब्रह्मपुराण (द्वितीय भाग)—प्र०- मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५४.

ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य - वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, १९१५.

बृहद्धर्मपुराण (बिब्लिओथिका इण्डिका), एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, १८९७.

भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर.

भागवतपुराण (खण्ड १-२)—गीता प्रेस, गोरखपुर.

मत्स्यपुराण—श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८७६.

मनुस्मृति—टीकाकार-पं० जनार्दन झा, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, वि० सं० १९८३.

महाभारत—गीता प्रेस, गोरखपुर.

मैत्रायणीसंहिता—सं०—दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी.

यजुर्वेद—जयदेवजी शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर, वि० सं० २००५.

लिंगपुराण—प्र०—मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९६०.

वायुपुराण—प्र०—मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५९.

वाल्मीकि-रामायण—सटीक, सं०—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०.

विनयपिटक—अनु०—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी), १९३५.

विसुद्धिमग्गं (भाग १-२)—अनु०—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी), १९५६-५७.

शिवपुराण (भाषा टीका सहित)—श्री वेंकटेश्वर संस्करण, बम्बई.

संयुत्तनिकाय (भाग १-२)—अनु०—भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र०—महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी), १९५४.

सांख्यतत्त्वकौमुदी—बलराम उदासीन.

सिक्ख धर्म की रूपरेखा—संपादक तथा प्रकाशक-प्यार सिंह, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति, अमृतसर, १९५०.

सुत्तनिपात—अनु०—भिक्षु धर्मरत्न, प्र०—महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी), १९५१.

सूफीमत : साधना और साहित्य—रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं० २०११.

हिन्दी ऋग्वेद—रामगोविन्द त्रिवेदी, प्र०—इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन्स, प्रयाग, १९५४

Apastamba Dharma Sutra, Sacred Books of the East, Vol. II, Part I, Oxford, 1896.

Apastamba Grihya Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XXX, Pt. II.

Archaeology of World Religions (Vols. I-III)—Jack Finegan, Princeton, 1965

Asvalayan Grhya Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XXIX.

Avesta—Arthur Henry Bluck, German Translation by Prof. Spiegel, Hartford, 1864.

Baudhayan Dharmasutra, Sacred Books of the East, Vol. XIV.

Brahma Sutra—Dr. S. Radhakrishnan, London, 1960.

Concordance of the Principal Upanishads and Bhagavadgita – Colonel G. A Jacob.

Constructive Survey of Upanishadic Philosophy—R. D. Ranade, Oriental Book Agency, Poona, 1926.

Contemporary Indian Philosophy – Ram Shankar Srivastva, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1965.

Development of Moral Philosophy in India—Surama Dasgupta, Orient Longmans, Bombay, 1961.

Din-I-Dus or Religion of Spiritual Atoms—Zoroastrian Unveiled – Jehangirji Rustomji Bana, Navasari (Bombay), 1954.

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. I, Ed. James Hastings, Edinburgh, 1908.

Gautam Dharma Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XIV.

Gita Rahasya—Bal Gangadhar Tilak, Translated by B. S. Sukthankar, Vols. I & II, Poona, 1935.

Glimpses of World Religion—Charles Dickens, Jaico Publishing House, Bombay.

Gobhila Grhya Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XXX.

Guru-Grantha Sahib (Vols. I-IV), English Trans. by Dr. Gopal Singh, Delhi, 1960.

Hiranyakesi Grhya Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XXX.

History of Indian Philosophy (Vols. I & II)—Jadunath Sinha, Sinha Publishing House, Calcutta.

History of Religion (Vols. I-V)—P.V. Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Holy Bible (Old & New Testament), London.

Indian Philosophy—Dr. C. D. Sharma, Nand Kishore and Brothers, Varanasi.

Indian Philosophy (Vols I & II)—Radhakrishnan, London.

Jaimini Grhya Sutra—Ed. Dr. W. Caland, Motilal Banarasidass, Varanasi.

Khadira Grhya Sutra—Sacred Books of the East, Vol. XXIX.

Maitrayani Samhita (Vols. I & II), Ed. Leopold Von Schroeder, Leipzig, 1881, 1885.

Paraskara Grhya Sutra, Sacred Books of the East, Vol XXIX.

Patanjali's Yoga Sutra—Trans. by Rama Prasad, Publisher—Sudhindranatha Vasu, Allahabad, 1910.

Philosophy of the Upanisads—Suresh Chandra Chakravarti, University of Calcutta, 1955.

Purana Index—V. R. Ramchandra Dikshitar, Madras, 1951.

Quran—Tr.-E. H. Palmer, Sacred Books of the East, Vols. VI & IX.

Sankhayana Grhya Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XXIX.

Satapatha Brahmana, Sacred Books of the East, Vol. XII

Sribhasya of Ramanuja—R. D. Karmarkar, University of Poona, 1959-64.

Studies in the Upanishads (Vol. I)—R. C. Hazra, Government of W. B., 1958.

Towards Understanding Islam—S. A. A'la Maududi, Delhi, 1960.

True Christian Religion—E. Swedenborg, London, 1936.

Upanishads, *Translated by F. Max Muller.*

Vasistha Dharma Sutra, Sacred Books of the East, Vol. XIV.

Vedic Concordance—Maurice Bloomfield, Harvard University, 1906.

✤

अनुक्रमणिका

अभिमत

अहिंसा सामाजिक जीवन का केवल एक नैतिक भाव ही नहीं, अपितु एक मौलिक सिद्धान्त है, एक जीवन-दर्शन है। अतएव उसका मूल्यांकन धर्म-परंपराओं के चन्द स्थूल आचार-व्यवहारों पर से निर्धारित नहीं किया जा सकता, इसके लिए चिन्तन की काफी गहराइयों में उतरना होता है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्व-चिन्तन के चिदाकाश में अहिंसा की विवेचना के नये-नये क्षितिज खुलते रहे हैं, और इस प्रकार अहिंसा के आयाम विस्तृत एवं विस्तृततर होते गए हैं।

अहिंसा जैन दर्शन का तो प्राणतत्त्व ही है। जैन विचार एवं आचार का प्रत्येक दृष्टिबिन्दु घूम फिर कर अन्ततः अहिंसा पर ही आकर केन्द्रित होता है। एक तरह से जैन दर्शन और अहिंसा दर्शन एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं। जैन चिन्तकों के द्वारा अतीत में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की संरचनाएं एक मात्र अहिंसा पर ही हुई हैं। अतीत ही नहीं, वर्तमान में भी बहुत कुछ लिखा जा रहा है। जीवन-व्यवहार के हर अंग-प्रत्यंग पर अहिंसा का क्या प्रभाव पड़ता है, अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक एवं विस्तृत है, और वह किस तरह जीवन की गहराई में उतारी जा सकती है, इसकी लोकग्राह्य विवेचना अनेक ग्रन्थों में हुई है, जिस पर आज का बौद्धिक जगत् आश्चर्य एवं सात्त्विक आनन्द की अनुभूति करता है। डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा की जैन अहिंसा से सम्बन्धित प्रस्तुत शोध-रचना भी इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है जिसपर हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत किया है।

डा० सिन्हा के विद्वत्तापूर्ण चिन्तन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उन्होंने अहिंसा-सम्बन्धी चिन्तन-धारा में विस्तृत एवं गहरा अवगाहन किया है। केवल अतीत युग का चिन्तन ही नहीं, उनकी अपनी भी कुछ ऐसी मौलिक उद्भावनाएँ हैं, जो अहिंसा की महत्ता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, वर्तमान में अहिंसा पर इतना व्यापक, साथ ही प्रामाणिक विवेचन एवं समीक्षण शोध-ग्रन्थ के रूप में संभवतः पहली बार ही प्रस्तुत हुआ है। विद्वान् लेखक ने शोध-प्रबन्ध के माध्यम से अपनी अध्ययनशीलता, कठोर श्रम, लगन, सूझ-बूझ एवं प्रतिभा का आकर्षक परिचय देने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है, अतः वह प्रबुद्ध मनीषीवर्ग की ओर से शतशः साधुवादार्ह है।

उपाध्याय अमर मुनि

डॉ० वशिष्ठनारायण सिन्हा लिखित 'जैनधर्म में अहिंसा'' पुस्तक में प्रतिपाद्य विषय का सर्वांगपूर्ण अनुशीलन किया गया है। लेखक ने देश-विदेश की सभी धार्मिक परम्पराओं में अहिंसा-संबंधी विचारों को खोजने का प्रयत्न किया है, और उनके परिप्रेक्ष्य में जैनधर्म के अहिंसा-सिद्धान्त का विस्तृत, प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। भारतीय धर्म-चेतना में अहिंसा को विशेष स्थान दिया गया है। 'महाभारत' और 'योगसूत्र' जैसे हिन्दू ग्रन्थों में तथा बौद्धों के धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में भी, अहिंसा को धर्म का मूल अथवा प्रधान रूप घोषित किया गया है। किन्तु हिन्दूधर्म में अहिंसा की शुरू से ऐसी मान्यता न थी। वेदों अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड-परक धर्म में हिंसा का ऐकान्तिक निषेध नहीं था। बाद में सांख्यदर्शन तथा वैष्णव अथवा भागवत-सम्प्रदाय में हिंसा का उग्र विरोध किया गया। निश्चय ही इस परिवर्तन के पीछे श्रमण-परम्परा का प्रभाव रहा।

महाभारत में कहा गया है कि धर्म का उपदेश भूत-प्राणियों की हिंसा रोकने के लिए ही है (अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्)। आधुनिक काल में हिन्दूधर्म के प्रमुख परिष्कर्ता और देश के महान् नेता गांधीजी ने अहिंसा को अपने जीवन-दर्शन का प्रधान स्तम्भ घोषित किया। भारतीय धर्मों की किसी भी परम्परा में अहिंसा केवल एक निषेधमूलक सिद्धान्त ही नहीं है; उसका एक भावात्मक पक्ष भी है जिसके अनुसार हमें समस्त जीवित प्राणियों का हित-चिन्तन करना चाहिए। गांधीजी ने प्रकारान्तर से धर्म को दरिद्र-नारायण की सेवा से सम्पृक्त किया है।

वास्तव में अहिंसा की शिक्षा के पीछे एक तत्त्वदर्शन है। मनुष्य दूसरों का अहित करके भी अपना हित-साधन करना चाहता है। इस प्रकार सब तरह के अनाचार और अधर्म के मूल में गलत कोटि का आत्म-प्रेम है। कहा गया है कि मनुष्य को सब भूत-प्राणियों में आत्मवत् बरतना चाहिए; इसे स्वीकार करने पर ही मनुष्य सब प्रकार की हिंसा से सचमुच विरत हो सकता है। जब तक मनुष्य अपने जीवन और स्वार्थों को दूसरों से अधिक महत्त्व देता है तब तक वह पूर्णतया धार्मिक अथवा अहिंसा का पालन करनेवाला नहीं बन सकता।

डॉ० सिन्हा ने ग्रंथ को बड़े परिश्रम से तैयार किया है। उन्होंने अहिंसा से सम्बद्ध जैन साहित्य का तो विस्तृत अध्ययन किया ही है, हिन्दू परम्परा का भी सटीक विवरण प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा प्राञ्जल और शैली स्पष्ट एवं सुबोध है। यह पुस्तक निश्चय ही अहिंसा के जिज्ञासुओं तथा हिन्दी साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है।

प्रो० न० कि० देवराज
निदेशक,
उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र
काशी विश्वविद्यालय

I have read with great pleasure the work entitled "Jaina Dharma Men Ahiṁsā" written by Dr. Bashistha Narayan Sinha, M. A., Ph. D. It was submitted by him for Ph. D. degree of Banaras Hindu University. The problem of Ahiṁsā, non-injury to living beings has been approached from various angles of vision. Though professedly the subject is confined to the Jain religion which is conspicuous for its scrupulous observance of this ethical discipline, it has been shown by the author that almost all religions of the world including Vedic religion, Buddhism, Zoroastrianism, Judaism, Christianity lay considerable stress on the observance of this principle of conduct. Brahmanism and Buddhism are noted for their expositions of Ahiṁsā, as motivated by love and sympathy and benevolence. Gandhijee's conception of Ahiṁsā covers a wider scope and is intimately connected with Truth and universal Love. These religions and ethical speculations have been succinctly surveyed in this work. The book is noted for its thoroughness and wide range. It must be regarded as an original contribution. The study of this stimulating work will be rewarding and the reader's conception and thought will be enlarged by the array of facts and information culled together with critical judgement. I wish wide circulation of this esteemed work of research both to laymen and scholars.

Prof. Satkari Mookerjee
M. A., Ph. D.
Retired Asutosh Professor of Sanskrit,
Calcutta University.
Ex-Director,
Nava Nalanda Mahavihar.